सामाजिक नियन्त्रण एवं परिवर्तन

SOCIAL CONTROL
AND
CHANGE

(भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातक कक्षाओं के पाठ्यक्रमानुसार)

सद्गुरु दयाल कुल
एम० ए० (अर्थशास्त्र), एम० ए० (समाजशास्त्र)

एवं

सुरेश चन्द्र माटे
एम० ए० (अर्थशास्त्र), एम० ए० (समाजशास्त्र)

प्रकाशक

स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स एण्ड कम्पनी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मार्ग,
वाराणसी–५

* प्रथम संस्करण

* प्रकाशक :
स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी,
विश्वविद्यालय मार्ग,
वाराणसी–५

* मूल्य : १०) रुपया

* मुद्रक :
श्री शंकर प्रेस,
लंका, वाराणसी–५

प्रस्तावना

संसार में सभी वस्तुएँ परिवर्तमान हैं। समाज भी संसार की एक इकाई होने के कारण अन्य वस्तुओं की भांति परिवर्तनशील है। सामाजिक परिवर्तन पर विचार करते समय यह देखना होगा कि परिवर्तन से हमारा तात्पर्य क्या है? परिवर्तन सामाजिक जीवन के किसी अंग में हो सकता है, अनेक अंगों में अलग-अलग हो सकता है, अथवा समाज के पूरे ढांचे में भी हो सकता है। परिवर्तन मात्रिक भी हो सकता है और गुणात्मक भी हो सकता है, क्रमशः विकासात्मक हो सकता है अथवा एकाएक क्रान्तिकारी भी हो सकता है। इन विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के अतिरिक्त यह भी देखना होगा कि परिवर्तन किस समाज में हो रहे हैं—एक बड़े समाज में या एक छोटे समाज में। अत्यन्त छोटे से लेकर पूरे मानव समाज तक समाजों की एक शृङ्खला बनती है।

प्रत्येक समाज का अलग-अलग ढांचा होता है। सब आकार और प्रकार के समाजों में एक ही प्रकार के परिवर्तन हों, यह आवश्यक नहीं है। कुछ व्यापक परिवर्तन ऐसे होते हैं जो सभी समाजों में समान रूप से होते हैं, किन्तु अधिकांश परिवर्तन ऐसे होते हैं जो विभिन्न आकार-प्रकार के समाजों में भिन्न-भिन्न रुप से होते हैं। इसलिये यह जानना सबसे पहले आवश्यक हो जाता है कि किस आकार और प्रकार के समाज का हम अध्ययन कर रहे हैं। आकार और प्रकार के अतिरिक्त काल का विचार भी आवश्यक हो जाता है। कोई समाज विशेष इतिहास के किस युग से गुजर रहा है और अपने विकास अथवा ह्रास की किस मंजिल पर खड़ा है इसका प्रभाव भी उसमें होने वाले परिवर्तनों के रूप पर पड़ता है। काल दो प्रकार का होता है, एक ज्योतिष का काल और दूसरा समाज का काल जिसे युग भी कहते हैं। ज्योतिष के काल का विभाजन वर्ष, महीनें, दिन, घन्टे आदि के रूप में होता है, जिसमें यदि सामाजिक सामग्री न भरी जाये तो वह काल एक खाली बर्तन की तरह दिखाई पड़ता है। इसमें विभिन्न प्रकार की सामग्री भरने पर ही उसके विभिन्न खण्डों का अलगाव होता है अन्यथा वे सब एकरूप और एकरस प्रतीत होते हैं, जैसे एक घन्टा वैसे दूसरा घन्टा, जैसे एक वर्ष वैसे दूसरा वर्ष। अपने प्रत्ययात्मक रुप में ज्योतिषीय काल का यही स्वरूप है। इसकी एकरसता के कारण

यह स्थिर आधार के रुप में नहीं रहता है और न ही इसमें कोई गति उत्पन्न होती है। समस्त घटनाएँ इसी आधार पर घटित होती हैं, किन्तु गति बिना घटनाओं की विभिन्नता के उत्पन्न नहीं हो सकती। गति का स्वरूप ही यही है कि एक घटना से भिन्न दूसरी घटना कालक्रम में होती है। इन्हीं घटनाओं की विभिन्नताओं के कारण ही एक घन्टा दूसरे घन्टे से अलग मालूम पड़ता है। इस प्रकार पूर्वापर्य की भावना उत्पन्न होती है और काल गतिमान हो जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्योतिषीय काल का सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में कोई महत्व नहीं है।

अभी हमने देखा कि समाजों के अध्ययन में काल का भी महत्व है। यह महत्व केवल सामाजिक काल में ही नहीं होता, ज्योतिषीय या गणितीय काल में भी होता है। उदाहरण के लिये इतिहास को जब सामाजिक युगों में बाँटा जाता है तो अध्ययन की सुविधा के लिये किसी एक वर्ष से आरम्भ करके किसी दूसरे वर्ष तक एक युग मान लिया जाता है, नहीं तो विचार का क्रम बहुत बिखर जाता है। युगों का यह गणितीय सीमा निर्धारण भले ही कृत्रिम हो किन्तु इससे अध्ययन का विषय एक प्रकार की स्थिरता प्राप्त करता है और उन सीमाओं के अन्दर रहकर घटनाओं का अध्ययन इस प्रकार किया जाता है जैसे किसी स्थिर वस्तु का प्रयोगशाला में अपनी शक्तियों के अनुसार व्यवस्था करके अध्ययन किया जाता है। फिर सामाजिक काल का महत्व तो स्पष्ट ही है।

भारतीय संस्कृति में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चार युगों का जो विभाजन किया गया है, इसे बहुत से लोग गणितीय काल का ही विभाजन समझते हैं और उनका समय निर्धारित कर देते हैं। परन्तु सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से इन युगों का जो भेद निरुपित किया गया है उससे सामाजिक परिवर्तन की प्रधानता स्पष्ट रुप से लक्षित होती है। इसी प्रसंग में यह विचार किया गया है कि राजा काल का कारण होता है या काल राजा का कारण होता है? आधुनिक भाषा में इस प्रश्न को इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि नेताओं से समाज बनता है या समाज से नेतृत्व बनता है? इस बहस से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इन चार युगों के निर्धारण में सामाजिक प्रक्रियाओं का प्राधान्य है और प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं। साथ ही साथ यह बात भी लक्षित होती है कि इन विचार पद्धतियों में चारों युगों के परिवर्तनों की एक दिशा पायी जाती है जो कि

उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख है। फिर भी प्रत्येक युग के भीतर जो विशिष्ट परिवर्तन होते हैं वे भिन्न-भिन्न होते हैं। एक युग की घटनाएँ दूसरे युग की घटनाओं से सिवाय सामान्य ह्रासोन्मुखता के अन्य बातों में भिन्न होती हैं। यदि काल और अधिक व्यापक लिया जाय तो ह्रास की दिशा भी परिवर्तित हो जाती है और दूसरे कल्प में फिर से विकास आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार एक कल्प से दूसरे कल्प में ह्रास और विकास का चक्र चलता रहता है। इस तरह से एक कल्प के पैमाने पर जो एक दिशा परिवर्तन की दिखाई देता था, वह कल्प के बड़े स्तर पर जाकर निराकृत हो जाता है और कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बी अवधि की दूर दृष्टि में ह्रास और विकास का लेखा जोखा बराबर हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन की कोई अन्तिम दिशा लक्षित नहीं होती है, परन्तु एक चक्र ही लक्षित होता है। किन्तु इस चक्र के भीतर उसके विशिष्ट अंशों में कहीं ह्रास और कहीं विकास दिखाई देता है। साथ ही प्रत्येक अंश में ह्रास और विकास के अतिरिक्त भी अनेक भेद दिखाई देते हैं।

सामाजिक उपयोगिता और नियोजन की दृष्टि से भविष्य के निर्धारण का बड़ा महत्व होता है। आज हम जहाँ हैं उसके आगे क्या होगा ? आज जो शक्तियाँ वर्तमान हैं, वे हमें किस ओर ले जा रही हैं और उनको अपनी इच्छा-नुसार किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है ? यह देखने के लिये निकट भविष्य के ज्ञान का सुदूर भविष्य के ज्ञान से अधिक महत्व होता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि एक सीमित काल के अन्दर घटनाओं के क्रम का अध्ययन तफसील के साथ किया जाय और कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ निकाली जाँय जिनसे आगे के विकास की दिशा का निर्धारण हो सके। बहुत दीर्घ काल को लेकर जो सामान्य प्रवृत्ति निकलती है उसमें इन तफसीलों का लोप हो जाता है और निकट भविष्य के लिये उनसे न तो कोई उपयोगी सामग्री ही मिलती है और न ही कोई दिशा निकलती है। जैसा कि हमने कल्पों के चक्र में देखा कि अगर कोई दिशा निकलती भी है (जैसे कि युगों के उत्तरोत्तर विकास में देखा गया) तो वह चारों युगों के गुजर जाने पर ही स्पष्ट होती है। केवल एक युग को लेकर यह नियम निर्धारित नहीं हो सकता। इसलिये जीवन के चरम लक्ष्यों को छोड़कर यदि व्यावहारिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिये समाज का अध्ययन करना है तो फिर छोटे-पैमाने पर विशिष्ट घटनाओं की अनेकता में से ही कोई सामान्य नियम निकालना

होगा। बहुत बड़े स्तर के अध्ययन में वे तफसीलें लुप्त हो जाती हैं और निकट भविष्य के लिये कोई निर्देश नहीं मिलता।

समाजशास्त्रियों ने सामान्य प्रत्यय निर्धारण की इन दो प्रक्रियाओं को ब्रह्माण्डीय एवं पिण्डीय सिद्धान्तों के नाम से निरुपित किया है। बहुत बड़े स्तर पर निर्धारित नियमों को वे ब्रह्माडीय सिद्धान्त और छोटे स्तर पर निर्धारित नियमों को पिण्डीय सिद्धान्त कहते हैं। इनके बीच के स्तर के भी सिद्धान्त बनते हैं जो मध्यवर्ती सिद्धान्त कहलाते हैं। विभिन्न स्तर के सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिये इसमें से प्रत्येक की अपनी उपयोगिता है। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि किसी समाज के अध्ययन के पहले यह निर्धारित कर लिया जाय कि उस समाज का स्वरूप क्या है, अर्थात् काल, युग, संगठन और आकार आदि की दृष्टि से वह किस प्रकार और किस स्तर का समाज है? तदनुसार ही उसकी तफसीलों का विचार किया जायेगा क्यों कि किसी भी अध्ययन में समाज की समस्त घटनाओं का अध्ययन असंभव है, इसलिये घटनाओं का चुनाव करना पड़ता है। यह चुनाव अध्ययन के उद्देश्य और समाज के रुप के अनुसार किया जाता है। इसके बाद ही इस बात को देखा जा सकता है कि उस समाज में अथवा उसके युगों में परिवर्तन की दिशा क्या है, और परिवर्तन की गति की मात्रा कितनी है।

इसके बाद यह प्रश्न भी उठता है कि परिवर्तन के कारण क्या हैं? इस सम्बन्ध में भी अनेक दृष्टिकोण हैं। कुछ लोग सब घटनाओं का एक ही कारण मानते हैं। किन्तु इस बात को सिद्ध करना बड़ा कठिन है। अधिकांश लोग अलग-अलग परिवर्तनों के अलग-अलग कारण मानते हैं, जो मिलकर व्यापक परिवर्तनों को जन्म देते हैं। पहले प्रकार के सिद्धान्त का एक उदाहरण मार्क्स का इतिहास सम्बन्धी आर्थिक सिद्धान्त है। इसके अनुसार समाज के समस्त परिवर्तनों का कारण उसकी आर्थिक व्यवस्था ही होती है, जो क्रम से दासता, सामन्तवाद, पूँजीवाद और समाजवाद के नियत रूपों में अग्रसर होती है। इसी प्रकार अगस्त कोम्त का सिद्धान्त धर्मवाद, आध्यात्मवाद एवं विज्ञानवाद की सीढ़ियों से गुजरते हुए वैचारिक विकास को ही सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण बताता है। दूसरे प्रकार के सिद्धान्तवादी समाज के आर्थिक, धार्मिक, वैचारिक आदि पक्षों में अपने अपने आन्तरिक कारणों के प्रभाव से परिवर्तन मानते हैं और इन सब पक्षों के परिवर्तनों के सामुच्चय को व्यापक सामाजिक परिवर्तन के रूप में देखते हैं। सारांश यह

कि सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के अनेक पक्ष हैं जिनका किसी देश या समाज के पुर्ननिर्माण में बहुत अधिक महत्व होता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'सामाजिक नियन्त्रण एवं परिवर्तन' के लेखकों ने सामाजिक परिवर्तन के अनेक पक्षों पर तफ़सील से विचार किया हैं और परिवर्तन के आधार स्वरुप समाज को धारण करने वाली शक्तियों का भी गहन विवेचन किया है। इस विषय पर हिन्दी में यह एक अच्छी पुस्तक है और मुझे विश्वास है कि इस विषय के अध्येता एवं जिज्ञासु, लेखकों के परिश्रम, उनकी योग्यता तथा हिन्दी साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति में उनके योगदान का समुचित आदर करेंगे।

वाराणसी,
विजयादशमी, १९६८

राजाराम शास्त्री,
उपकुलपति,
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

अनावरण

भारतीय विश्वविद्यालयों की समाजशास्त्र के पाठ्य-क्रमों में 'सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन' विषय स्नातक कक्षाओं में सम्मिलित है। प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय के उन पाठ्य-क्रमों के अनुरूप सामग्री का समावेष किया गया है। यथासंभव भाषा को सरल तथा समाजशास्त्रीय शब्दावली के अनुसार रखा गया है। आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों के विषय ज्ञान तथा परीक्षा संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी।

हमारा उद्देश्य है कि इस पुस्तक को स्नातक कक्षाओं के लिए अधिक से अधिक उपयोगी बनाया जाय। इस सम्बन्ध में पाठकों के सुझाव पाकर इसकी सामग्री को पुनः सुधारने में जो सहायता मिलेगी उसके लिए लेखक आभारी होंगे।

इस पुस्तक की प्रस्तावना के रूप में प्रो० राजाराम शास्त्री, उपकुलपति, काशी विद्यापीठ ने 'नियंत्रण एवं परिवर्तन' पर कुछ अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं जिनसे पाठक अवश्य ही लाभान्वित होंगे और समाजशास्त्र को इस रूप में अपनायेंगे कि वे वर्तमान सामाजिक स्थिति की चुनौतियों का समाधान खोज कर सकें। प्रो० शास्त्री के विचारानुसार, 'सामाजिक जनतंत्र और अहिंसा के मूल्यों की स्थापना मानवतावादियों को (समाज-शास्त्रियों को भी) एक बड़ी चुनौती है जिसका उत्तर वे अपने त्याग तथा बलिदान से ही दे सकते हैं'। लेखक प्रो० शास्त्री द्वारा प्रोत्साहित किये जाने के लिये आभारी हैं।

वाराणसी,
विजयादशमी, सम्वत् २०२५

सद्गुरु दयाल कुल
सुरेश चन्द्र माटे

विषय-सूची
CONTENTS

प्रथम खण्ड

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड

विषयक्रम

अध्याय १

सामाजिक विभेदीकरण (SOCIAL DIFFERENTIATION)

सामाजिक विभेदीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे सभी मानवीय समाज निर्मित एवं संगठित होते हैं। आदि कालीन समाजों में केवल लिंग एवं आयु के ही भेद हुआ करते थे और उनके व्यवसाय, व्यवहार एवं जीवन शैली में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं पायी जाती थी। परन्तु जैसे-जैसे समाज की संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ प्रगति की ओर अग्रसर होती गयीं वैसे-वैसे उनमें सावयवी भिन्नताओं के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भिन्नताओं का प्रादुर्भाव होता गया। सामाजिक समूह अनेक शाखाओं में विभक्त होकर सरलतम से विषमतम होते गए। समाज और उसके व्यक्तियों के भेद केवल लिंग-आयु पर ही आधारित न होकर, भौगोलिक, व्यवसायिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, जाति-पांत, रंग-रुप, बोल-चाल आदि पर निर्भर करने लगे। विभेदीकरण की यह प्रक्रिया केवल मानव-जगत तक ही सीमित न होकर पशु और वनस्पति जगत में विद्यमान है। एकही प्रकार के पशु-पक्षियों का भौतिक स्वरूप एवं प्रकृति विभिन्न भौगोलिक स्थलों पर पृथक-पृथक पायी जाती है, इसी प्रकार फल-फूल और सब्जियों के रंग, आकार एवं स्वाद विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से पाये जाते हैं।

उद्गम (Origin)

वनस्पति जगत एवं पशु जगत की अपेक्षाकृत मानवीय जगत के विभेदीकरण का क्षेत्र अधिक विस्तृत एवं जटिल है तथा अनेकानेक शाखाओं और उपशाखाओं में फैला हुआ है। इसके उद्गम के बारे में समाजशास्त्रियों के

अनेक मत पाए जाते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर की व्याख्यानुसार विभेदीकरण का आधार विकासवाद है। उनके अनुसार संसार का सर्वप्रथम जीव आकार विहीन था तथा प्राणि जगत एवं वनस्पति जगत में कोई अन्तर नहीं था। विकास ने विभेदीकरण को जन्म दिया और फल स्वरूप नाना प्रकार के फल-फूल और जीव-जन्तु विकासित होने लगे। इसी प्रकार मानव समाज का भी प्रारंभ एक उद्देश्य हीन जीवन से हुआ जिसे विकास की प्रक्रिया ने आधुनिक जटिलतम सांस्कृति एवं सभ्यता के सांचे में ढाला है। स्पेन्सर के अनुसार इस विकास की प्रगति निश्चित से अनिश्चित की ओर है।

चार्ल्स डारविन ने विभेदीकरण के विकास का उद्गम पर्यावरण में माना है। उनके मतानुसार विभेदीकरण के चार मुख्य चरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(क) अन्तर्जातीय सम्पर्क (Inbreeding) दो पृथक जातियों अथवा प्रजातियों के मिलन स्वरूप, एक सर्वथा नवीन पीढ़ी का जन्म होता है। विकसित होने पर इस पीढ़ी का समस्त पर्यावरण अपने मातृत्व एवं पैतृत्व गुणों से हट कर एक पृथक स्वरूप ग्रहण करता है। इसका समाजीकरण भी भिन्न होता है।

(ख) प्रकृति-चयन (Natural selection) प्रकृति की अपनी विशेषताओं के कारण सभी प्राणियों का सभी स्थानों पर विकास नहीं हो पाता है। जिन प्राणियों में किसी विशेष जलवायु या परिस्थिति में अनकूलन की क्षमता नहीं होती है, वे नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति स्वयं प्राणियों का चयन करके, विभिन्नता उत्पन्न करती है।

(ग) सांस्कृतिक विलगाव (Cultural Isolation) एकही जनसमूह जब दो विभिन्न सांस्कृतिक पर्यावरणों में विकासोन्मुख होता है तो उनमें पृथकता आ जाती है। फिर वे अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार अलग-अलग स्वरूपों में ढलने लगते हैं और उनमें विभिन्नता आ जाती है।

(घ) बाहुकाणु-परिवर्तन (Loss of Genes) जब प्राणी अपने आप को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है तो उसके बाहुकाणुओं में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन कभी क्रमिक होता है तो कभी आक्समिक। इसके फलस्वरूप नये बाहुकाणु जन्म लेते हैं और विद्यमान बाहुका-णुओं का विलोपन होता है। दोनों दशाओं में प्राणियों के पर्यावरण में आधार भूत भिन्नता उत्पन्न होती है।

चर्चित समाजशास्त्रियों की अवधारणाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासोन्मुख समाज में सभी प्राणियों का विकास समान दिशा में न होकर बहुमुखी होता है, जिसके कारण समाज में विभिन्नता एवं विभेदीकरण का उद्गम होता है।

परिभाषायें (Definitions)

विभेदीकरण को अनेक प्रकार से पारिभाषित किया गया है।

न्यूमिनर के मतानुसार, **"सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें जैवकीय एवं भौतिक लक्षणों के कारण, व्यक्ति और समूह में सामाजिक विभिन्नताएँ उत्पन्न होती है जो आयु, लिंग, प्रजाति, व्यवसाय सामाजिक स्तर, सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, पारिवारिक व्यक्तित्व, सामूहिक संरचना एवं सामाजिक अन्तः सम्बधों को प्रभावित करती हैं। ये सामाजिक विभिन्नताएँ, विभेदीकरण की प्रक्रिया के चरण भी हैं और उत्पत्ति भी।"***

विभेदीकरण फ्रेडिरिक ल्यूम्ले के अनुसार, वह प्रक्रिया है **"जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगण, उसी प्रकार विभिन्नताएँ उत्पन्न करते हैं जैसे किसी वाद्यवृन्द रचना में विभिन्न वादकों के योगदान से एक सम्पूर्ण एवं मनोहारी संगीत का निर्माण होता है।"****

---

* "Social differentiation is the process whereby social defferences of persons and groups occur, due to biological heredity and physical characteristics—age, sex, race, consanguineous and individual, variations in vocations, social status, cultural background, and acquired personality traits and accomplishments and differences in group composition and social relationship. Social differences are both phases and products of process of differentiation."

—Martin Neumeyar

** "By differentiation, we mean that process by which individuals cultivate differences, which when put together as the different players in an orchestra make a fuller and more harmonious whole........."

—Fedrick E. Lumley

उपरिलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभेदीकरण एक अनिवार्य प्रक्रिया है जो समाज की इकाइयों में स्वतः घटित होती रहती है। विभेदीकरण की उत्पत्ति जन्म जात भी होती है, (जैसे लिंगभेद आदि) और सामाजिक प्रगति के साथ-साथ इसका विकास भी होता चलता है। अर्थात विभेदीकरण के कारक जन्म जात भी होते हैं और मनुष्य इन्हें समाज में ही अर्जित करता है। जब भी कोई समाज विकसोन्मुख होता है तो उसकी प्रगति सरलता से विषमता की ओर अग्रसर होती है और जैसे-जैसे समाज विषमतम होता जाता है वैसे-वैसे विभेदीकरण की शाखाएँ जटिलतम होती जाती हैं। विकासोन्मुख समाज श्रमविभाजन, विशेषीकरण, वर्ग-भावना, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन आदि अनेक स्वरुपों को जन्म देता है जिसकी उत्पत्ति विभेदीकरण में फलित होती है।

सामाजिक विभेदीकरण के स्वरूप
(Forms of Social Differentiation)

विभेदीकरण की प्रक्रिया के कारण समाज के सदस्यों में भिन्नता के अनेक स्वरुप दृष्टिगोचर होते हैं जो निम्न प्रकार वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

(क) जैविकीय विभेदीकरण (Bio-social Forms) जैविकीय विभेदीकरण का तात्पर्य उस प्रथकता से है जो मनुष्य को भौगोलिक एवं प्राकृतिक कारणों के फलस्वरुप, जन्म से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार का विभेदीकरण सामान्यतः मानव-शक्ति के परे होता है और यह समाज में में अर्जित नहीं किया जा सकता है। जैविकीय विभेदीकरण के मुख्यस्वरुप निम्नलिखित हैं।

(१) लिंग-विभेदीकरण (Sex Differentiation) मानव-समाज में स्त्री और पुरुष की जैविकीय संरचना जन्मतः भिन्न होती है। स्त्री और पुरुष के अपने-अपने शारीरिक गठन की भिन्न-भिन्न विशेषताएं होती हैं जो उनके स्वभाव, आचरण, क्षमता, चरित्र आदि को पृथक-पृथक प्रभावित करती हैं। इन विशेषताओं के कारण स्त्री और पुरुष की जीवन शैली, कार्यकलाप एवं आवश्यकताएं विभिन्न दिशाओं में अग्रसर होती है जिनसे अन्ततः सामाजिक विभेदीकरण विकसित होता है।

(२) आयु-विभेदीकरण (Age Group Differentiation) लिंग भेद के अतिरिक्त आयु के आधार पर भी विभेदीकरण विकसित होता

होता है। प्रायः प्रत्येक समाज में मानव जीवन को विभिन्न आयु-खंडों में वर्गीकृत कर दिया जाता है और उसी के अनुसार उनके कार्य-कलाप, आचार-व्यवहार और अधिकार निर्धारित होते हैं। भारतीय आश्रम व्यवस्था इस प्रकार के विभेदीकरण का सटीक उदाहरण है जिसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास को आयु के आधार पर वर्गीकृत किया गया है ! विकसित समाज में, शिशु, किशोर, युवक, वयस्क, एवं वृद्ध आदि अनेक श्रेणियों में विभक्त कर दिये जाते हैं और इनकी शिक्षा, सेवा, व्यवसाय विवाह, दण्ड, पुरस्कार विधान आदि सभी कुछ पृथक आयु स्तरों पर निर्धारित होता है।

(३) **प्रजातीय विभेदीकरण** (Racial Differentiation) जैवकीय सामाजिक विभेदीकरण जाति-पांत के भी आधार पर विभक्त होता है। कुछ मनुष्यों में ऐसे शारीरिक लक्षण होते हैं जिनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण होता रहता है। फलस्वरूप उनका समाज में एक पृथक स्थान बन जाता है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था इसी आधार पर निर्मित है। विदेशों में नीग्रो आदि जातियों का विभेदीकरण भी इसी पर आधारित है। आयु-विभेदीकरण की भांति प्रजातीय विभेदीकरण के आधार पर भी संस्कारों, संस्थाओं, विधानों एवं सामाजिक मूल्यों का निर्माण होता है। भारत में अनेक जातियों एवं प्रजातियों का जाल बिछा हुआ है और उसी के अनुसार अपने देश में नाना प्रकार के संस्कार विधान आदि पाए जाते हैं।

(ख) **सामाजिक सांस्कृतिक विभेदीकरण** — (Socio-cultural Forms) सामाजिक-सांस्कृतिक विभेद समाज में अर्जित किए जाते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक सांस्कृतिक सरचनाएँ विकसित होती जाती है वैसे-वैसे नूतन विभेदों का प्रादुर्भाव होता जाता है। समाज द्वारा अर्जित विभेदो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(१) **वर्ग विभेदीकरण** (Class Differentiation) किसी भी आधुनिकतम समाज के प्रगतिशील होने का परिणाम यह होता है कि समाज की विभिन्न शाखाएं अनेक प्रजातियों में विकसित होने के स्थान पर, अनेक वर्गों में स्फुटित होने लगती हैं। किसी जन समुदाय के कुछ सदस्य जब कोई विशिष्ठ स्थान प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हें एक विशेष सामाजिक वर्ग से सम्बोधित किया जाता है। सामाजिक वर्ग का निर्माण लिंग अथवा आयु, दोनों के आधार पर हो सकता है। इस वर्ग-परिवार के सभी सदस्य तब तक

इसी वर्ग के कहे जाते हैं जब तक वयस्क होकर वे किसी अन्य वर्ग के सदस्य नहीं बन जाते। वर्ग विभन्नता का प्रभाव जीवन स्तर तथा रहन-सहन के ढंग पर पड़ता है। परिणामतः समाज अनेक वर्गो में विभेदीकृत हो जाता है जैसे श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग, कर्मचारी वर्ग, अध्यापक वर्ग, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग आदि।

(२) **धर्म विभेदीकरण** (Religious Differentiation) भारत जैसे देश में धार्मिक विभेदीकरण का सर्वाधिक प्रादुर्भाव है। भारत में नाना प्रकार के धर्मों, पन्थों, एवं सम्प्रदायों, का जाल फैला हुआ है। इनकी जीवन शैली एवं प्रतिमानों में कड़ा विरोधाभास है। आए दिन इनकी शाखाएँ एवं उप-शाखाएँ विकसित होती जाती है, जो एक दूसरे से सर्वथा पृथक होती है। धार्मिक आधार पर विभाजित विभेदीकरण बहुत ही जटिल होता है।

(३) **अर्थ विभेदीकरण** (Economic Differentiation) समाज के विभिन्न सदस्यों की, कार्य क्षमता, मानसिक कुशलता, शारीरिक संरचना एवं पैतृक विशेषताएँ भिन्न-भिन्न होती है और उसी के अनुसार ये लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसाय, उद्योग, सेवाओं आदि का चयन करते हैं। इस प्रकार का विभाजन प्रत्यक्षतः आर्थिक क्रियाओं पर आधारित होता है। इनकी सामाजिक एवं संवैधानिक स्वीकोरोक्ति भी इनकी आर्थिक क्षमताओं पर निर्भर करती है। निर्माता, उद्योगपति, कर्मचारी श्रमिक आदि के पृथक-पृथक आर्थिक स्तर होते हैं। इनके लिए कर व्यवस्था भी पृथक-पृथक होती है। भारतीय वर्ण-व्थवस्था भी बहुत कुछ आर्थिक हितों पर निर्मित है।

(४) **भौगोलिक विभेदीकरण** (Geogrophical Differentiation) विश्व का विशाल जन समुदाय अनेक भौगोलिक खण्डों में आबाद है। इनमें से कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ मनुष्य द्वारा विभाजित किये गये है। प्रत्येक खण्ड के अलग-अलग नाम है। इनके निवासी इन्हीं खन्डों के नाम से जाने जाते हैं, जैसे अमीरीकी, रूसी, जापानी, अथवा विलायती, शहरी, देहाती, इत्यादि। इन विभिन्न निवासियों की संस्कृति, सभ्यता, विधान, रहन-सहन आदि सभी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वैज्ञानिक विकास एवं राजनैतिक परिवर्तन इन खण्डों का विभाजन और उपविभाजन करते हैं। परिणामतः भौगोलिक प्रश्नों को लेकर विभिन्न जन-समूहों में आत्मीयता और वैमनस्य पनपता है, अधिकारों और सीमाओं का निर्धारण होता है, एवं पृथक जीवन

पद्धतियों का विकास होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मानवता अनेक भागों में विभेदीकृत हो जाती है।

उक्त विभेदीकरण स्वरुप-श्रंखला की अन्तिम कड़ी नहीं है। जितनी तीव्रता से विकास के लिए समाज गतिशील होता है उतनी ही तेजी से विभिन्न जन समूह एक दूसरे से टकरा कर खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। और फिर विभिन्न परिस्थितियों के पर्यावरण में, अनेकानेक नूतन स्वरुप एवं कारक जन्म लेकर प्रत्येक खण्ड को एक पृथक स्वरुप प्रदान करते चलते हैं और इस प्रकार विभेदीकरण की प्रक्रिया गतिमान रहती है।

विभेदीकरण का प्रकार्यात्मक अध्ययन
(A Functional Study of Differentiation)

इसके अन्तर्गत विभेदीकरण का एक कार्यात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

(१) वृहत् उत्पादन (Mass Production) समाज में जब विकास और विभेदीकरण की प्रक्रिया कार्यशील होती है तो विशेषीकरण एवं श्रम विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है। समाज, व्यवसाय, सेवा आदि के आधार पर अनेक खण्डों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक खण्ड में प्रगति की होड़ चालू हो जाती है। फलस्वरुप वृहत् उत्पादन की सभी विशेषताओं का प्रादुर्भाव होना आरंभ हो जाता है।

वृहत् उत्पादन की इन विशेषताओं से समाज वर्गों में विकसित होता है। चूंकि इन वर्गों के आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक हित और अधिकार भिन्न ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी भी पाये जाते हैं, इससे वर्ग भेद आदि अनेक विषमतायें जन्म लेती हैं।

(२) सामाजिक संगठन (Social Organisation) विभेदीकरण से समाज अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक इकाई अपनी एक विशेष स्वरुप में संगठित होती है एवं अन्य इकाईयों से अनेक प्रकार से पृथक अवधारणायें, मान्यतायें एवं परम्परायें लेकर चलती है। इस प्रकार ये इकाइयाँ समितियों, प्रतिष्ठानों, केन्द्रों पन्थों आदि में विकसित होकर दिनानुदिन प्रतिमानित और शक्तिशाली होती जाती हैं।

इसके विपरीत समाज में कुछ लघु इकाईयाँ उपेक्षित रह जाती है जिनका सम्पूर्ण जनसमुदाय अथवा पर्यावरण में नगण्य महत्व रह जाता है। इन

इकाईयों को विशाल सामाजिक संगठनों में कोई प्रश्रय नहीं मिलता है तथा इन्हें आजीवन अनेक संगठनों के वीच बहकने के लिए वाध्य होना पड़ता है।

(३) सामाजिक एकीकरण (Social Integration) यद्यपि विभेदीकरण के फलस्वरुप समाज अनेक समूहों में तथा अनेक आधारों पर विभक्त हो जाता है, फिर भी कई प्रकार से एक संगठन दूसरे संगठन की विशेषीकृत सेवाओं-गुणों आदि के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न समूह पृथक होते हुए भी शृंखलावद्ध रहते हैं जिससे समाज विच्छिन्न नहीं हो पाता है।

प्रायः सामाजिक एकीकरण की अवधारणा काल्पनिक रह जाती है। व्यवहार में ये एकीकरण पारस्परिक समन्वय के स्थान पर नाना प्रकार के बिरोधों एवं विघटनों को जन्म देता है। प्रतियोगिता की भावना का बीजारोपण भी इसी एकीकरण में होता है।

(४) सामाजिक सुरक्षता (Social Security) जन समुदाय का विभाजन विभिन्न समूहों और उपसमूहों के साथ हितों, मान्यताओं, संस्कारों आदि के आधार पर होने के कारण प्रत्येक समूह अपने आपको सुरक्षित महसूस करता है। ये सुरक्षता बहुत कुछ एक दूसरे के सहयोग एवं जागरुकता पर निर्भर करती है। कार्य और उत्तरदायित्व कुछ इस प्रकार से विभाजित रहता है कि सभी समूह एक दूसरे की सुरक्षा का साधन एवं माध्यम स्वतः बन जाते हैं।

जब यह विभेदीकरण धार्मिक या राजनीतिक आधार पर होता है तो अनवरत संघर्ष का कारण हो जाता है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक और राजनैतिक संगठन आए दिन एक दूसरे से टकराते रहते हैं। परिणामतः समाज की एकता सुरक्षा आदि को भयंकर खतरे उत्पन्न हो जाते हैं।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. K. Davis : Human Society.
3. Girth & Mills : Essays of Maxweber.

Questions.

१. सामाजिक विभेदीकरण से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट कीजिए
What do you understand by Social Differentiation ? Explain.

२. सामाजिक विभेदीकरण के विभिन्न रुपों का वर्णन किजीये।
Discuss the Various forms of Social Differentiation.

अध्याय २

सामाजिक स्तरीकरण (SOCIAL STRATIFICATION)

सामाजिक स्तरीकरण समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करने की एक प्रक्रिया है। समाज में मनुष्य अपने जन्मना और कर्मना गुणों के अनुसार जब अनेक स्तरों में विभाजित हो जाते हैं, तब उसे स्तरीकरण कहते हैं। सामाजिक स्तर एवं वर्ग, सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया के लक्षण हैं। ज्ञातव्य है कि आदि कालीन सामाजिक व्यवस्था में, समूहों के सदस्यों के बीच लिंग एवं आयु के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के भेद अथवा स्तरों का प्रादुर्भाव नहीं था। सभ्यता के विकास ने मानव को नाना प्रकार के स्तरों में विभक्त किया है। सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक विभेदीकरण से भिन्न होता है। सामाजिक विभेदीकरण बहुत कुछ जन्म-जात गुणों जैसे आयु, लिंग बौद्धिक कुशलता आदि पर आधारित होता है। सामाजिक स्तरीकरण मुख्यतः आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों पर आधारित होता है। इसके अनुसार जन समुदाय के सदस्य अपनी आदि सामाजिक भूमिकाओं, कार्यों, परिस्थितियों आदि के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं। यह विभाजन स्तरीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है।

परिभाषायें (Definitions)

स्तरीकरण की प्रक्रिया में विभाजित होने के बाद मनुष्यों के अपने विशिष्ट आकार और आयाम स्थापित हो जाते हैं। इस लिए इनका पारिभाषित

करना अनिवार्य है। निम्न पंक्तियों में कुछ विद्वानों की परिभाषायें उल्लखित हैं :

गिस्बर्ट के अनुसार, "**सामाजिक स्तरीकरण, समाज के उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों का विभाजन है, जो उच्चता एवं आधीनता के आधार पर श्रखंलाबद्ध होते हैं**"*

रेंमण्ड मुरे के मतानुसार, "**समाज का 'उच्च' तथा 'निम्न' सामाजिक इकाइयों में किया गया क्रमागत विभाजन स्तरीकरण है।**"**

स्तरीकरण के माध्यम से समाज की इकाइयाँ अनेक आधारों पर उच्चतर से निम्नतर तक के विभिन्न खण्डों में विभाजित की जाती हैं। इसका एक व्यवस्थित क्रम होता है तथा इनके उच्च एवं आधीन सम्बन्ध स्थायी होते हैं जो कि संवैधानिक स्तर पर भी मान्य हुआ करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप
(Forms of Social Stratification)

किसी भी विकसित समाज के लिए स्तरीकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। इस प्रक्रिया के फलस्वरुप समाज अनेक खंडों में विभक्त होकर नाना स्वरुप ग्रहण करता है। इनके मुख्य स्वरुपों का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है।

(१) **जाति-स्तरीकरण** (Caste Stratification) जाति-स्तरीकरण के अध्ययन-विश्लेषण के लिए, भारत से अच्छा पर्यावरण कहीं भी उपलब्ध नहीं है। भारत लगभग ३००० जाति-प्रजातियों का उद्‌गम स्थल है, जो आदि काल से वर्ण व्यवस्था के आधार पर चार मुख्य स्तरों, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्रों, में विभाजित है। कहते हैं कि मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्री,

* "Social stratification is the division of the Society, in permanent groups or categories linked with each other by the relationship of superiority and subordination."

—Gisbert

** "Stratification is a horizontal division of Society into 'higher' and 'lower' Social Units."

—Raymond Muray

वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः मुख, बाहु, जांघ, और पैर से हुई है। सिद्धान्तः प्रत्येक जाति के सदस्य का व्यवसाय वंशानुक्रम होता है और अन्त तक उसे उसी में रहना पड़ता है। उसकी कितनी भी बौद्धिक कुशलता अथवा धनोपार्जन, उसकी जाति एवं अधिकारों को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार जाति के आधार पर समाज का पूर्ण एवं स्थायी स्तरीकरण होता है। यह स्तरीकरण समाज के विभिन्न स्तरों को अनेक बन्धनों में जकड़ देता है। जातीय स्तरीकरण की मुख्य सीमाएँ इस प्रकार हैं :

(क) व्यवसायिक सीमाएँ—इसके अन्तर्गत किसी जाति के सदस्य को व्यवसाय चयन का अवसर उसकी रुचि अथवा बौद्धिक क्षमता पर आधारित नहीं होता है वरन् उसको वही व्यसाय ग्रहण करना पड़ता है जो उसके जन्मजात लक्षणों के द्वारा निश्चित होता है। जैसे क्षत्रिय के लिए सुरक्षा कार्य, वैश्य के लिए वाणिज्य-व्यापार, शूद्र के लिए सेवाकार्य, इत्यादि-इत्यादि।

(ख) वैवाहिक सीमाएँ—भारतीय जाति प्रथा किसी सदस्य को मनचाहें स्तर पर विवाह करने का अधिकार प्रदान नहीं करती है। एक जाति के सदस्य का वैवाहिक सम्बंध उसी जाति में होना अनिवार्य है। अन्तर्विवाह करने वाली जातियाँ वहिर्विवाह करने वाली जातियों में विभक्त हो जाती हैं।

(ग) सामाजिक सीमाएँ—किसी भी मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक, तथा आर्थिक विशेषाधिकार एवं दायित्व उसकी जाति-सदस्यता पर आधारित होते हैं। जातीय स्तर जितना ही निम्न होता है उतना ही उसके सदस्य को सामाजिक धार्मिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। इसके विपरीत उच्च जातीय सदस्यों को विविध सुविधाओं एवं अधिकारों की स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

(घ) एकीकरण की समस्याएँ—निम्न जाति के सदस्य किन्हीं भी परिस्थितियों में, उच्च जाति के सदस्यों के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं। वे उनके आवास क्षेत्रों के निकट अपना अपना आवास नहीं बना सकते हैं, वे उच्च भारतीय सदस्यों के साथ भोजन ग्रहण नहीं कर सकते हैं, और उनको स्पर्श तक नहीं कर सकते हैं। इन प्रतिबन्धों की कठोरता के फलस्वरूप विभिन्न जातियों के एकीकरण की सम्भावनाएँ प्रायः समाप्त सी हो जाती हैं।

(२) **वर्ग-स्तरीकरण** (Class Stratification) वर्ग स्तरीकरण, वर्तमान युग में, जाति-स्तरीकरण से अधिक व्यापक एवं महत्वपूर्ण है। किसी भी जन समुदाय का जीवन, चाहे वह किसी छोटे-से गाँव का हो अथवा किसी महान राष्ट्र का, वर्ग-व्यवस्था से प्रतिबिम्बित एवं प्रभावित होता है। यह अनिवार्य नहीं है कि वर्ग का विभाजन किसी आर्थिक अथवा व्यवसायिक आधार पर ही हो। वर्ग-स्तरीकरण का कोई भी आधार हो सकता है; उदाहरणार्थ-अविवाहितों का वर्ग, कवियों का वर्ग, वैरागियों का वर्ग आदि। जन्म के अतिरिक्त किसी भी आधार पर विभक्त समाज की इकाइयाँ, वर्ग-स्तरीकरण के अन्तर्गत आती हैं। वे सामाजिक विभेदीकरण, जो भाषा, क्षेत्र, कार्य अथवा विशेषीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न होकर प्रत्यक्षतः सामाजिक स्तर से सम्बद्ध होते हैं, वर्ग-स्तरीकरण कहलाते हैं। वर्ग-विभेद, जाति-प्रथा की अपेक्षाकृत अधिक उदार है। इसमें कोई व्यक्ति अपनी अर्जित कुशलताओं एवं प्रतिभाओं के आधार पर किसी भी वर्ग में सम्मिलित हो सकता है।

(३) **लिंग** (Sex)—लिंग भेद पर आधारित स्तरीकरण सर्वप्राचीन है। आदिकाल में जब मानव समाज का विकास नहीं हुआ था तब से समाज में लिंग के आधार पर स्त्री एवं पुरुष के विभेदीकरण का प्रादुर्भाव हुआ था। तभी से ही लिंग भेद के आधार पर स्त्री और पुरुष के कर्तव्यों एवं अधिकारों का पृथक-पृथक विभाजन होता आया है। आजकल के विकसित समाजों में भी (जहाँ स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का पक्ष लिया जाता है) उनकी शिक्षा विवाह, सेवाकार्य, आदि के लिए अलग-अलग विधानों की व्यवस्था रहती है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के सामाजिक स्तर उनके लिंग भेद के आधार पर विभाजित किए जाते हैं।

(४) **आयु-स्तरीकरण** (Age Stratification)—मानव-जीवन अनेक आयु खण्डों में विभक्त रहता है। प्रत्येक खण्ड के भिन्न-भिन्न कार्य, अधिकार एवं दायित्व निर्धारित रहते हैं। भारतीय आश्रम व्यवस्था में सम्पूर्ण जीवन चार चरणों में बंट जाता है। यही चरण, विकासशील समाज में स्तर कहलाते हैं। युवकों के कार्यस्तर, दायित्व एवं अधिकार, तथा दण्ड और पुरस्कार वयस्कों और वृद्धों से सर्वथा भिन्न होते हैं। इनकी प्रतिष्ठा, उच्चता एवं भिन्नता की मान्यताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इसप्रकार आयु भी सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण स्वरूप है।

सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण में अन्तर

(Difference between Social Stratification and Differentiation)

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक विभेदीकरण दोनों ही समाज को विभक्त करने की प्रक्रियाएँ हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं से समाज विकासोन्मुखी होता है। प्रगतिशील समाज की संरचना एवं निर्माण के लिए विभेदीकरण एवं स्तरीकरण दोनो ही अनिवार्य प्रक्रियाएं हैं। जैवकीय एवं सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से दोनो में आंशिक समानता होने के साथ-साथ कुछ आधारभूत भिन्नताएँ भी हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है :

(१) तकनीक (Technicality)—स्तरीकरण एवं विभेदीकरण की प्रक्रिया में, जैवकीय-सांस्कृतिक आधारों पर समाज की विभिन्न इकाइयों को विभक्त कर दिया जाता है। परन्तु इस विभाजन को किसी विशेष क्रम अथवा समानता के आधार पर श्रेणीबद्ध नहीं किया जाता है। इसके विपरीत स्तरीकरण में विभेद के अतिरिक्त स्तरकी भी प्रधानता होती है। समाज की विभाजित इकाइयों के सदस्यों का चयन उनके सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक स्तरोंकी समानता पर किया जाता है।

(२) आधीनता (Dependebility)—स्तरीकरण में उच्चता एवं निम्नता का आधार प्रधान होता है। स्तरीकरण के अन्तर्गत प्रदत्त सामाजिक सुविधाएँ अनिवार्यतः इसी उच्च और निम्न स्तर की भावना से प्रेरित होती हैं। विभेदीकरण का ध्येय समाज की विभिन्न इकाइयों में भिन्नता उत्पन्न करना है। विभेदीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक प्रकार की विभाजित इकाई में विभिन्न स्तरों के सदस्यों का समावेश हो सकता है।

(३) स्थायित्व (Stability)—विभेदीकरण की प्रक्रिया में विभाजित समूहों का स्थायी होना अनिवार्य नहीं होता है, क्योंकि मनुष्य अपने अस्तिव को बनाए रखने के लिए अपने निरन्तर परिवर्तन करता रहता है। इन परिवर्तनों की गति कभी मन्द कभी तीव्र रहती है। अनेक कारणों के फलस्वरूप विभेदीकृत समूहों की स्थिति बदलती रहती है। परन्तु स्तरीकरण की प्रक्रिया में विविध सामाजिक इकाइयों में एक सुव्यवस्थित क्रम की

आवश्यकता होती है। केवल पारस्परिक भेद से स्तरीकरण की स्थापना नहीं होती है। इसके लिए विभिन्न इकाइयों के बीच उच्चता और निम्नता का क्रम तथा स्थिरता का होना नितान्त आवश्यक है।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society
2. K. Davis : Human Society
3. Girth & Mills : Essays of Maxweber

Questions.

१. सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक विभेदीकरण में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Distinguish between Social Stratification and Social Differentiation.

२. सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
What do you understand by Social Stratification? Explain.

३. सामाजिक स्तरीकरण में आर्थिक तथा राजनैतिक कारणों के महत्व को दर्शाइये।

Explain the role of economic and politcal factors in the Stratification of a Society.

अध्याय ३

श्रम विभाजन
DIVISION OF LABOUR

पारस्परिक निर्भरता श्रम विभाजन की जननी है। आदि काल से मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पारस्परिक सहयोग और निर्भरता की अनिवार्यता होती रही है। मानवीय जीवन के विकास ने विभाजन और विशेषीकरण को भी विकसित किया है। श्रम विभाजन की अवधारणा सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित हुई, जिसका जन्मदाता ऐडम स्मिथ कहा जाता है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं परन्तु सामाजिक परिवर्तन एवं नियत्रण में ये पारस्परिक रुप से संगठित होकर सहायता करते हैं। जिस प्रकार आर्थिक क्रियाओं को कार्यान्वित करने के लिये श्रम विभाजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सामाजिक क्रियाओं में भी इसका महत्व होता है।

वस्तुतः श्रम विभाजन समाजशास्त्र के क्षेत्र में अर्थशास्त्र के क्षेत्र से अधिक प्राचीन है। अर्थशास्त्र की अवधारणाएँ और सिद्धान्त द्रव्य के विकास के साथ हुई हैं जब कि सामाजिक जीवन द्रव्य के विकास से काफी पुराना है। मानवीय जीवन का विकास श्रम विभाजन का इतिहास है। मनुष्य जब से पारिवारिक जीवन में संगठित हुआ है, तभी से स्त्री-पुरुष, वृद्ध और किशोर के बीच में जीवन के कार्य-कलापों का बटवारा होता चला आ रहा

है। इसका स्वरुप और भी सैद्धान्तिक तथा तार्किक तब हुआ जब मनुष्य परिवार से समाजों में संगठित होने लगा और समाज संस्कृतियों में गठित होने लगा।

अर्थ (Meaning)

श्रम विभाजन से तात्पर्य उत्पादन की प्रक्रिया को विभिन्न प्रकियाओं में बाँट देने से है। ये विभिन्न प्रक्रियाएँ अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा पूरी की जाती हैं। उत्पादन की प्रक्रियाओं का यह विभाजन विशेषीकरण पर आधारित होता है। एक व्यक्ति का उत्पादन की दूसरी प्रक्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह केवल उत्पादन की किसी प्रक्रिया विशेष को ही पूरा करता है। किसी एक ही प्रक्रिया को करने से वह उस कार्य में दक्ष हो जाता है और उत्पादन की गुण तथा मात्रा के दृष्टिकोण से उन्नति होती है। श्रम विभाजन को दो वर्गो में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को केवल एक ही व्यक्ति पूरा करता है, जैसे बढ़ई, दर्जी, मोची आदि। दूसरे वर्ग में उत्पादन की विविध प्रक्रियाओं को एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। सभी प्रक्रियाओं के पूरा हो जाने पर वस्तु का उत्पादन पूर्ण रुप से होता है। [1]

श्रम विभाजन का उपरोक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में तात्पर्य उत्पादन की उस प्रक्रिया से है जिसमें उसे अनेक प्रक्रियाओं में विभक्त किया जाता है ताकि श्रमिकों का उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में उनकी योग्यता तथा कुशलता के आधार पर उचित व्यवस्थापन हो सके।

---

1. 'The division of labour may be analyzed under two heads. On the one hand there is a simpler form under which a workman carries through the whole of one of the stages in production. The Tailor, the Cobbler, the Carpenter, ply their several trades. On the other hand there is a more complex form under which there is a splitting up of several operations all belonging to the one stage of production.

—Fredrick E. Lumley

श्रम विभाजन के विभिन्न स्वरूप
(Different forms of Division of Labour)

सामाजिक प्रगति के साथ-साथ श्रम विभाजन का भी विकास हुआ है। इसके निम्नलिखित विभिन्न स्वरूप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(१) **व्यवसायिक** (Occupational) श्रम विभाजन का सबसे प्राचीन रूप वह है जब लोग समाज में एक ही प्रकार का व्यवसाय किया करते थे। भारतीय वर्ण व्यवस्था इसका उत्तम उदाहरण है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण का एक निश्चित व्यवसाय था। श्रम विभाजन का यह रूप कुछ समय पश्चात कुशलता पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो गया। इस प्रकार का श्रम विभाजन अन्य देशों में भी पाया जाता है। एक समाज के लोग एक ही व्यवसाय में सलंग्न न होकर विभिन्न प्रकार के व्यवसायों द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं।

(२) **प्रादेशिक** (Territorial) सभी समाजों की जलवायु एक दूसरे से भिन्न होती है। जिन उद्योगों के लिये किसी समाज विशेष में उपयुक्त जलवायु होती है, तथा कच्चा माल उपलब्ध रहता है, वहाँ उसी प्रकार के उद्योग-धन्धे विकसित होते हैं। जैसे भारत में आसाम चाय के उत्पादन के लिये विख्यात है। विभिन्न समाजों में वहाँ की पाई जानेवाली जलवायु के अनुरूप ही उद्योग-धन्धों का विकास होता है।

(३) **पूर्ण प्रक्रियाओं का श्रम विभाजन** (Division of Labour in to Complete Processes) उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होने पर उद्योग धन्धों के लिये मशीनों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। परन्तु यन्त्रीकरण का विकास ठीक से न होने के कारण वे उपलब्ध नहीं थी। अतः उत्पादन की प्रक्रिया को कई प्रक्रियाओं में विभक्त किया गया। इस प्रकार के श्रम विभाजन में प्रत्येक वर्ग उत्पादन की एक प्रक्रिया को पूर्ण रूप से पूरा करता था। इसीलिये इसे पूर्ण क्रियाओं का श्रम विभाजन कहते हैं।

(४) **अपूर्ण प्रक्रियाओं का श्रम विभाजन** (Division of Labour into Incomplete Processes) समाज में नवीन मशीनों के आविष्कारों के परिणामस्वरूप वृहत उद्योग धन्धों की स्थापना हुई। इसमें उत्पादन की एक ही प्रक्रिया को अनेक सूक्ष्म प्रक्रियाओं में विभक्त किया

गया। अतः इस प्रकार के श्रम विभाजन को अपूर्ण प्रक्रियाओं का श्रम विभाजन कहते हैं।

श्रम विभाजन के सामाजिक लाभ
(Social advantages of Division of Labour)

श्रम विभाजन सामाजिक अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है। समाज की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में श्रम विभाजन का विशेष महत्व है। सामाजिक प्रगति के लिए भी श्रम विभाजन बहुत ही आवश्यक है। श्रम विभाजन के निम्नलिखित सामाजिक लाभ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

(१) कुशलता और उत्पादन शक्ति में वृद्धि (Improvement in the Productive Power and Skill) श्रम विभाजन के अन्तर्गत किसी एक वस्तु का उत्पादन एक ही व्यक्ति नहीं करता। एक वस्तु के उत्पादन को कई इकाइयों में बाँटा जाता है। व्यक्ति किसी वस्तु के उत्पादन का केवल एक ही अंश बनाता है। जब व्यक्ति एक ही कार्य को प्रति-दिन बार-बार करता है तो उसे कार्य में काफी दक्षता प्राप्त हो जाती है। दक्षता प्राप्त करने के उपरान्त वह उसी कार्य को पहले से बहुत कम समय में पूरा कर लेता है। परिणामस्वरूप उत्पादन शक्ति तथा मनुष्य की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। एडम स्मिथ का कहना है कि श्रम विभाजन से उत्पादन शक्ति में सुधार, दक्षता, कुशलता तथा विभावना प्राप्त होती है।[1]

(२) समय की बचत (Saving of Time) श्रम विभाजन में व्यक्ति उत्पादन की केवल एक ही प्रक्रिया की एक सूक्ष्म इकाई को पूर्ण करता है। धीरे-धीरे उसे अपने कार्य में दक्षता प्राप्त हो जाती है, अतः वह अपने कार्य को पहले की अपेक्षा काफी कम समय में कर लेता है।

---

1. "The greatest improvement in the productive powers and the greater part of the skill, dexterity, and judgement with which it is any where directed or applied, seem to have been the effects of the division of labour."
—Adam Smith : *Wealth of Nations*

(३) **कुशलता का उचित व्यवस्थापन** (Proper Accommodation of Skill) श्रम विभाजन में प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं कुशलता के आधार पर कार्य करता है। इससे उत्पादन प्रक्रिया में उसकी कुशलता का उचित व्यवस्थापन होता है।

(४) **उत्पादित वस्तु की श्रेष्ठता** (Better Quality of Production) श्रम विभाजन से एक प्रमुख लाभ यह है कि उत्पादित वस्तुओं का स्तर अच्छा हो जाता है। हाथ की अपेक्षा मशीन से उत्पादित वस्तु अधिक अच्छी होती है।

(५) **कार्य की सरलता** (Simplicity of Work) श्रम विभाजन के अन्तर्गत मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया की उसी इकाई को पूरा करता है जिसमें उसे दक्षता प्राप्त होती है, इस कारण वह अपना कार्य शीघ्र ही समाप्त कर देता है। कुछ उत्पादन प्रक्रियाएँ बहुत ही जटिल हुआ करती है, जिसे मनुष्य को पूरा करने में बड़ी ही कठिनाइयों उठानी पड़ती थीं, परन्तु श्रम विभाजन में जटिल प्रक्रिया छोटी-छोटी अनेक प्रक्रियाओं में विभक्त होकर सरल हो जाया करती हैं।

(६) **कम उत्पादन व्यय** (Low Cost of Production) श्रम विभाजन में व्यक्ति चूँकि एक ही कार्य को करता है, वह उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेता है। किसी कार्य की समाप्ति के बाद दूसरे कार्य को आरम्भ करने में जो समय लगता है, उसकी बचत हो जाती है और वह थोड़े ही समय में अधिक कार्य कर लेता है। उद्योग धन्धों के आधुनिक मशीनों के प्रयोग से हजारों व्यक्तियों का एक महीने का कार्य केवल चन्द ही दिन में हो जाता है। अतः श्रम विभाजन से उत्पादन व्यय बहुत अधिक कम हो जाता है।

(७) **विशेषीकरण का विकास** (Development of Specialization) श्रम विभाजन में व्यक्ति उत्पादन की प्रक्रिया की एक इकाई को ही पूरा करता है। अतः वह उसमें रुचि लेता है तथा काफी दक्षता (efficiency) प्राप्त कर लेता है। दक्षता प्राप्त कर लेने से वह अपने कार्य के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कर लेता है। परिणामस्वरुप श्रम विभाजन विशेषीकरण के विकास का भी मार्ग खोलता है।

(८) नूतन आविष्कार (New Inventions) श्रम विभाजन के अर्न्तगत प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य से सम्बन्धित विभिन्न नवीन बातों का पता चलता रहता है और उससे सम्बन्धित समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर लेता है। अपने कार्य से सम्बन्धित समस्याओं के हल के लिये वह हमेशा यत्न किया करता है। फलस्वरुप नूतन आविष्कारों का जन्म होता है।

श्रम विभाजन के उपरोक्त सामाजिक कार्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रम विभाजन आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का स्तम्भ है। श्रम विभाजन में थोड़े ही व्यक्तियों से उत्पादन में वृद्धि हो जाती है। यह लोगों में विभाजन उत्पन्न करता है तथा एक कार्य की समाप्ति के उपरान्त दूसरे कार्य को आरम्भ करने में जो समय लगता है, उसका बचत करता है। श्रम विभाजन के कारण समाज में भारी मात्रा में मशीनों का आविष्कार होता है। परिणामस्वरुप एक ही व्यक्ति बहुत से लोगों का कार्य अकेले ही सम्पन्न कर देता है।[1]

श्रम विभाजन से हानियां
(Disadvantages of Division of Labour)

श्रम विभाजन से समाज को जहाँ एक तरफ अनेक लाभ हैं, वहीं इससे बहुत सी हानियाँ भी हैं, जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

(१) कार्य में नीरसता (Monotony) श्रम विभाजन के अर्न्तगत समाज में मनुष्य एक ही कार्य करता है; उसे प्रतिदिन एक ही क्रिया करनी पड़ती है। परिणामस्वरुप वह अपने कार्य में नीरसता अनुभव करता है।

---

1. "This great increase of the quantity of work which, is consequence of the division of labour, this same number of people are capable of performing, is owing to three different circumstances; first to increase of dexterity in every particular workman; secondly, to the saving of time which is commonly lost in passing from one species of work to another; and lastly, to the invention of a great number of machines which facilitate and abridge labour, and enable one man to do the work of many."
—Adam Smith : *Wealth of Nations*

मनुष्य के नीरसता महसूस करने से उस पर अनेक विषम मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ते हैं जो कि उसके लिये हानिकारक हैं।

(२) **सजृनात्मक शक्ति का विनाश** (Decay of Creative Power) श्रम विभाजन में मनुष्य को एक ही कार्य को प्रतिदिन करना पड़ता है। अतः अन्य चीजों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता है और उसकी सजृनात्मक शक्ति का धीरे-धीरे विनाश होना प्रारम्भ हो जाता है।

(३) **वैयक्तिक स्तर पर कुशलता की हानि** (Decay of Individual Skill) श्रम विभाजन से लोगों की वैयक्तिक स्तर पर कुशलता का विनाश होता है। आधुनिक औधोगीकरण के विकास के पूर्व समाज में छोटे-छोटे घरेलू उद्योग विकसित थे। इन छोटे घरेलू उद्योगों में एक विशेष प्रकार की कला देखने को मिलती थी। परन्तु श्रम विभाजन के बहुत अधिक विकसित और यन्त्रीकरण के कारण छोटे स्तर के उद्योगों की कला का पतन होने लगा।

(४) **जनसंख्या का केन्द्रीयकरण** (Centralization of Population) श्रम विभाजन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे जनसंख्या का एक ही स्थान पर केन्द्रीयकरण हो जाता है। इससे अनेक समस्याए उत्पन्न हो जाती हैं। भारत में कलकता, बम्बई, अहमदाबाद आदि बड़े औद्योगिक शहर हैं। इन स्थानों में जनसंख्या के केन्द्रीयकरण हो जाने से अनेक समस्याओं ने जन्म लिया है। आवास की समस्या इन औद्योगिक केन्द्रों में सबसे प्रमुख है।

(५) **बेरोजगारी का भय** (Fear of unemployment) आज प्रत्येक बड़े उद्योग में कार्य बड़ी-बड़ी आधुनिक मशीनों से होता है। अतः व्यक्ति को मशीनों के ऊपर आधारित होना पड़ता है। यदि किसी कारण ये उद्योग असफल होकर बन्द हो जाते हैं तो उस उद्योग विशेष से सम्बन्धित लोगों के बेकार हो जाने का भय रहता है।

(६ **उत्तरदायित्व की भावना में कमी** (Lack of Responsibility) श्रम विभाजान के अन्तर्गत लोगों में उत्तरदायित्व की भावना में कमी आ जाती है, क्यों कि किसी भी वस्तु का पूर्ण उत्पादन एक व्यक्ति के द्वारा नहीं होता है। वस्तु का उत्पादन बहुत लोग मिलकर करते हैं अत उनका उत्तरदायित्य एक प्रक्रिया विशेष तक ही सीमित होता है।

प्राचीन समाज में श्रमविभाजन
(Division of Labour in Primitive Society)

प्राचीन समाज में भी श्रम विभाजन अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। श्रम विभाजन के अभाव में अर्थ-व्यवस्था का संगठन कभी भी संभव नहीं है। श्रम विभाजन के अन्तर्गत समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित कार्य को करता है। कार्यों का निर्धारण लोगों की आयु, लिंग, जाति आदि पर निर्भर रहता है, परन्तु आदिम समाजों का श्रम विभाजन विशेषीकरण पर तथा लिंग भेद पर आधारित था। श्रम विभाजन के ये दोनों प्रकार आज भी आदिम समाजों में पाये जाते हैं।

(१) विशेषीकरण पर आधारित श्रम-विभाजन (Division of Labour based on Specialization) कुछ व्यवसाय ऐसे भी होते हैं जिन्हें समाज का एक समुदाय अपना लेता है और उस व्यवसाय पर वंशागत अधिकार कर लेता है। उस समुदाय की कई एक पीढ़ियाँ उसी कार्य विशेष को करती रहती हैं। एक ही कार्य को काफी लम्बे समय तक करने का अर्थ होता है उस कार्य विशेष में दक्षता (efficiency) प्राप्त कर लेना। इस प्रकार का श्रम विभाजन आदिम समाजों की प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में देखने को मिलता है। आदिम समाज में जब कोई समुदाय किसी व्यवसाय या कार्य में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेते हैं तो वे अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं का दूसरे प्राप्त समुदाय की वस्तुओं से विनिमय कर लेते हैं। कुछ समाज मछली पकड़ने के व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं तो कुछ किसी दूसरे कार्य में। इस प्रकार समुदाय विशेष का एक निश्चित सा कार्य हो जाता है। जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। विशेषीकरण की प्रक्रिया का विकसित होकर वंशानुसार चलने पर समाज में जाति प्रथा का उद्गम होता है और फिर ये व्यवसाय जाति के आधार पर किये जाते हैं।

(२) लिंग पर आधारित श्रम विभाजन (Division of Labour based on Sex) लिंग पर आधारित श्रम विभाजन में स्त्री-पुरुषों का कार्य अलग-अलग निर्धारित होता है। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिन्हें पुरुष करता है और कुछ कार्यों को स्त्रियाँ। आदिकालीन समाजों में पुरुषों का कार्य मुख्य रूप से मछलियाँ पकड़ना तथा बाहरी शत्रुओं से संघर्ष करना था और स्त्रियों का जंगलों में कन्द-मूल एकत्रित करना। भारी और अधिक शक्ति

वाले कार्यों को पुरुष करते थे और सरल कार्यों को स्त्रियाँ करनी थीं। कार्य विभाजन की इस प्रणाली का नाम ही लिंग पर आधारित श्रम विभाजन है।

श्रम विभाजन के इस रूप को लेकर समाज में अनेक धारणाएँ एवं भ्रान्तियाँ बनी हुई हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि स्त्री अपने प्राकृतिक गुणों के कारण निर्बल होती है। अतः अधिक शक्तिवाले कार्यों को पुरुषों को दिया गया। मानव-शास्त्रियों ने आदिवासियों के अन्धविश्वासों का विश्लेषण किया और उनका कहना है कि आदिवासी, स्त्री में जादू शक्ति निहित समझते हैं, और उनका विश्वास है कि स्त्री दूसरों को हानि पहुँचा सकती हैं। यही कारण था कि आदिवासियों ने उत्पादन सम्बन्धी सभी कार्यों से स्त्री को अलग रक्खा। भारत में टोडा जन-जाति में अभी भी स्त्रियों को धार्मिक क्रियाओं में भाग लेने से वर्जित किया जाता है। उनके तथा द्वारा बैलों को छूना भी वर्जित है।

श्रम विभाजन के सम्बन्ध में दुर्खीम के विचार
Durkheim's Views on Divisoin of Labour.

सामाजिक विकास के स्वरुप तथा कारणों के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण देने का श्रेय इमाइल दुर्खीम को है, जिसे उसने अपनी प्रसिद्ध रचना 'समाज में श्रम विभाजन' (The Division of labour in Society) में प्रस्तुत किया है। स्पेन्सर की भाँति दुर्खीम का भी यह कहना था कि आदिम समाज से सभ्य समाज में होने वाले परिवर्तनों का प्रभावशाली पक्ष 'श्रम-विभाजन' अथवा विशेषीकरण में देखा जा सकता है। दुर्खीम के अनुसार आदिम एवं सभ्य समाजो में मूल अन्तर सामाजिक सुदृढ़ता (Social Solidarity) के प्ररुप में होता है। ये प्ररुप वैधानिक संहिताओ (Legal Codes) के प्ररुप में रहते हैं। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में श्रम विभाजन बहुत ही साधारण रुप में होता है। समाज के सदस्यों में सापेक्षिक सम रुपता (Relative Homogeneity होती है और वे एक 'यांत्रिक सुदृढ़ता' (Mechanical Solidarity) के रुप में संगठित होते हैं; वे जनमत तथा समाज के प्रचलित परम्पराओं को पूर्ण रुप से पालन करते हैं। व्यक्ति जब इन परम्पराओं तथा जनमत की उपेक्षा करता है या किसी भी सामूहिक इच्छा के विरुद्ध चलता है अथवा उसके किसी कृत्य द्वारा सामूहिक सवेंगो को ठेस पहुंचती है, तो उसे दण्डित किया जाता है। इस प्रकार वैधानिक व्यवस्था समाज में नैतिक सन्तुलन बनाए रखती है। दुर्खीम

ने इस विधान को 'रिप्रेसिव लॉ' (Repressive Law) कहा है। आधुनिक समाजों के 'क्रिमीनल लॉ' (Criminal Law) बहुत कुछ इससे मिलते जुलते हैं। ऐसे समाजों में नैतिक और वैधानिक उत्तरदायित्व सामूहिक होता है। दुर्खीम ने इस सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है, "समाज में एक प्रकार की 'सामाजिक सुदृढ़ता' पायी जाती है जो आत्मिक अनुभूति की किन्हीं अवस्थाओं (State of Conscience) से उत्पन्न होती है जो कि उसी समाज के सभी सदस्यों में सामान्य रूप से होती है। भौतिक रूप में दमन कारी कानून (Repressive Law) इसी का प्रतिनिधित्व करता है, कम से कम उस सीमा तक तो अवश्य ही करता है जहाँ तक यह अनिवार्य होता है। समाज के साधारण समन्वय में इसकी महत्ता स्पष्ट रूप से अपेक्षतया अधिक या कम रूप में सामाजिक जीवन पर निर्भर करती है; जिसको सामान्य आत्मिक अनुभूति (Common Conscience) अपने में समाहित और नियन्त्रित करती है। सम्बन्धों में जितनी ही अधिक विभिन्नता पाई जाती है, उतनी ही अधिक यह ऐसे सूत्रों को उत्पन्न करती है जो व्यक्ति को समूह से जोड़ देते हैं, और इसके परिणाम स्वरूप उतनी ही अधिक इस सामाजिक एकसूत्रता (Social Cohesion) उत्पन्न होती है। लेकिन इस प्रकार के कितने सम्बन्ध उत्पन्न होंगे, इसका अनुपात दमनकारी कानून पर निर्भर होता है"।[1] दुर्खीम के अनुसार सभ्य समाजों में जहाँ श्रम विभाजन

1. "There exists a social solidarity which comes from a certain number of states of conscience which are common to all the members of the same society. This is what repressive law materially represents, atleast in so for as it is essential. The part that it plays in the general integration of society evidently depends upon thc greater or lesser extent of the social life which the common conscienee embraces and regulates. The greater diversity of relations where in the latter makes its actions felt, the more also it creates links which attaches the individual to the group; the more, consequently, the social cohesion derives completely from this source and bears its mark. But the number of these relations is itself proportional to that of the repressive rules."

—Emile Durkheim : *The Division of Labour in Society.*

का विकास हो चुका है, वहाँ व्यक्तियों के कार्यों में विविधता देखने को मिलती है। ऐसे समाजों में व्यक्ति एक सावयवी सुदृढ़ता द्वारा संगठित रहता है और उसके ऊपर सुविधामूलक कानून (Restitutive Law) का नियन्त्रण रहता है। सुविधामूलक कानून सभ्य समाजों के 'सिविल लॉ' (Civil Law) के समान होते हैं। दुर्खीम के अनुसार, "वह सहकारी विधान, जिसमें वापस दिलाने की संहिताएँ होती है और सुदृढ़ता जिसको वे अभिव्यक्त करते हैं–इनसे नियन्त्रित होने वाले सम्बन्ध सामाजिक श्रम विभाजन से होते हैं, लेकिन सामान्य रूप से सहकारी सम्बन्ध दूसरी संहिताओं को नहीं बताते। वास्तविकता यह है कि विशेष कार्यों की यह प्रकृति होती है कि वे सामूहिक आत्मिक अनुभूति (Collective Conscience) के कार्य-क्षेत्र से बच निकलते हैं क्यों कि किसी वस्तु के लिये सामान्य संवेगों (Common Sentiments) का केन्द्र होने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह सभी की आत्मिक अनुभूतियों में पाई जाये और सभी इसको एक तथा उसी रुप में व्यक्त कर सकें।"[1]

दुर्खीम, विभेदीकरण (Differentiation) तथा समन्वय (Cohesion) को सामाजिक विकास की मौलिक प्रक्रियाएँ मानता है। उसका कहना है कि समाज के विकसित होने के साथ-साथ श्रम विभाजन भी जटिल होता चला जाता है। इसके साथ-साथ विशेषीकरण के कारण व्यक्तियों के बीच विभेदीकरण बढ़ता है। फलस्वरूप समाज में व्यक्तिवाद की जड़ मजबूत होने लगती है। परन्तु फिर भी व्यक्तियों के बीच सहयोग की भावना तथा

1. "The relations governed by co-operative law with restitute sanctions and the solidarity which they express, result from the division of social labour.........in general, co-operative relations do not convey other sanctions. In fact, it is in the nature of special tasks to escape the action of the collective conscience, for, in order for a thing to be the object of common sentiments, the first condition is that it be common, that is to say, that it be present in all conscience and that all can represent it in one and the same manner."

—Ibid

आत्मनिर्भरता की भावना मजबूत होती जाती है। इससे सामाजिक सुदृढ़ता में वृद्धि होती है। व्यक्तिवाद से दुर्खीम का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति बिना किसी सामाजिक प्रतिबन्ध के अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए असीमित अधिकार रखता है। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने कहा है, "व्यक्ति-वाद का अर्थ उस नैतिक कर्तव्य से था जो व्यक्तियों पर जटिल समाज के श्रम-विभाजन की व्यवस्था लाद दिया करता था।"[1]

दुर्खीम का मत है कि विशुद्ध अहंवादी (Egoistic) तथा सुखवादी (Hedonistic) व्यक्तिवाद न तो समाज में सामाजिक समन्वय का आधार ही है और न ही इससे सामाजिक सुदृढ़ता की स्थापना हो सकती है।

दुर्खीम उपयोगितावादी तथा स्पेन्सर के सामाजिक विकास के बताये हुए कारणों को स्वीकार नहीं करता है। उसका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में आर्थिक वस्तु के उपयोग करने की एक सीमा निश्चित होती है। यदि उसे यह ज्ञात होता कि उत्पादन में वृद्धि का अर्थ सुख होता है तो उसने धन में काफी समय पहले ही वृद्धि करना छोड़ दिया होता। सुख का सम्बन्ध सामाजिक स्वास्थ्य से है। भौतिक विलासताओं की प्रचुरता से हानि पहुँचती है।

मनुष्य ऐसे सामाजिक परिवर्तनों को कभी भी नहीं पसन्द करता जो उसकी आदतों को भंग कर देते हैं। इसीलिए जो सुख मनुष्य की पूर्व आदतों को बदलने में सहायक होते हैं, मनुष्य उन्हें कभी नहीं चाहता। आदिम समाजों की अपेक्षा आधुनिक सभ्य समाजों में आत्महत्या की दर अधिक है, जो इस बात का प्रमाण है कि आदिम समाजों में सुख अधिक पाया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सुख की आकांक्षा से सभ्यता का जन्म नहीं हुआ।

दुर्खीम के अनुसार, "श्रम विभाजन प्रत्यक्ष अनुपात में समाजों के परिमाण (Volume) और घनत्व के अनुसार परिवर्तित होता रहता है और यदि सामाजिक उन्नति (Soc:al Development) के क्रम में निरन्तर प्रगति होती रहती है तो यह इसलिए कि समाज नियमित रूप से अपेक्षतया

1. "Individualism was a moral duty forced upon the individuals the, division of labour of a complex society."
—Ibid

घने और साधारणतया अधिक परिमाण वाले (Voluminous) होते चले जाते हैं।"[1]

वस्तुत: 'सामाजिक घनत्व' (Social Density) जनसंख्या की वृद्धि और प्रौद्योगिकी के विकास का परिणाम है। यह संघर्ष को और अधिक बढ़ा देता है। समूह के अस्तित्व के लिए श्रमविभाजन के माध्यम से सहयोग द्वारा इसे कम करना आवश्यक होता है। औद्योगिक संघर्ष भी श्रमविभाजन का ही प्रतिफल है।

बोगार्डस आदि विद्वानों को दुर्खीम के इस कथन पर आपत्ति है कि श्रम विभाजन जनसंख्या के घनत्व के कारण होता है। इसके और भी अनेक कारण हो सकते हैं। इसीलिए दुर्खीम का विवेचन समाजशास्त्रीय न होकर जैवकीय है।

Selected Readings

1. Adam Smith : An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations.
2. Emile Durkheim : Division of Labour in Society.

Questions

१. श्रमविभाजन के सामाजिक लाभों की सूची प्रस्तुत कीजिए।
Prepare a list of the Social advantages of division of labour.

२. श्रमविभाजन से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट कीजिये।
What do you understand by division of labour ? Explain.

३. सामाजिक श्रमविभाजन के सम्बन्ध में दुर्खीम के मत की विवेचना कीजिये।
Discuss the views of Durkheim on the division of labour in society.

---

1. "The division of labour varies in direct ratio with the volume and density of societies, and, if it progresses in a continuous manner in the course of social development, it is because societies become regularly denser and generally more voluminous."
—Ibid

अध्याय ४

सामाजिक प्रक्रिया
(SOCIAL PROCESS)

समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक ऐसी गत्यात्मक व्यवस्था है जिसमें हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। अतः समाज की प्रकृति, उसके साधन-प्रतिमानों, ध्येयों, प्रतिमानों, परिस्थितियों, कार्यों आदि के स्वरूप को समझने के लिए उन प्रक्रियाओं का अध्ययन अनिवार्य है जो सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करती हैं। पार्क और बर्गेस के अनुसार, **"सामाजिक प्रक्रिया से अर्थ उन समस्त परिवर्तनों से है जो समूह के जीवन में परिवर्तन माने जाते हैं।"**

समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ (क) संगठनात्मक (Associative) एवं (ख) विघटनात्मक (Dissociative) हमेशा क्रियाशील रहती हैं। सहयोग, व्यवस्थापन, आत्मसात आदि संगठनात्मक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आती हैं, जब कि संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा आदि विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आती हैं। इन संगठनात्मक एवं विघटनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा ही व्यक्ति और समूह के बीच अन्तःक्रिया होती है और अनेक सामाजिक सम्बन्धों का प्रादुर्भाव होता है। समाज में संगठनात्मक तथा विघटनात्मक प्रक्रियाओं के प्रक्रम को ही सामाजिक अन्तःक्रिया कहते हैं। इसके अनेक चरण और स्वरूप होते हैं जो नाना प्रकार से सामाजिक संरचना को प्रभावित करते रहते हैं। इसलिए सामाजिक प्रक्रियाओं का, सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण में आधारभूत महत्व होता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया का अर्थ
(Meaning of Social Interaction)

समाज में प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ सामाजिक स्थिति (Social Status) होती है; और उसे अपनी स्थिति से सम्बन्धित कार्य करने पड़ते हैं। इन कार्यों को करने में उसे दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है। सम्पर्क की अवधि में वह दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करता है और स्वयं भी उनसे प्रभावित होता है। दूसरे व्यक्तियों से सम्पर्क की ही अवधि में उसे कुछ अनुभव प्राप्त होते हैं, जिनके माध्यम से वह अन्य व्यक्तियों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सम्बन्धों का मूल आधार सामाजिक अन्तः क्रिया है। इस अन्तः क्रिया में दो मौलिक दशाओं का होना आवश्यक है। (१) सम्पर्क (Contact) और (२) संचार (Communication)

सम्पर्क का अर्थ शारीरिक निकटता नही है। मनुष्य का दूसरे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होने का अर्थ है कि उसका दूसरे व्यक्तियों से मानसिक सम्पर्क स्थापित हुआ है। दो या दो से अधिक मनुष्यों के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित होने पर उनमें अर्थपूर्ण अनुक्रिया (Meaningful Response) होती है, जिसका श्रोत उन व्यक्तियों के बीच होना वाला संचार (Communication) है। सामाजिक व्यक्तियों में सम्पर्क और संचार के परिणामस्वरूप जो अन्त:क्रिया होती है, उसे सामाजिक अन्त:क्रिया (Social Interaction) कहते हैं। सामाजिक अथवा मानवीय अन्तःक्रिया को संचारात्मक अन्त:क्रिया (Communicative Interaction) भी कहा जाता है।

एक समूह के सदस्यों या विभिन्न समूहों के सदस्यों में जब कभी सम्पर्क स्थापित होता है, तो उनमें किसी न किसी प्रकार की अन्त:क्रिया अवश्य ही होती है। सम्पर्क स्थापित होने पर सदस्यों के बीच अनेक प्रकार के सम्बन्ध बन जाते हैं जिसे वे अपने समूह की संस्कृति के अनुसार चलाते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों के बीच अन्तः उत्तेजना एवं अनुक्रिया से जो पारस्परिक प्रभाव उन पर पड़ते हैं, उन्हें सामाजिक अन्त:क्रिया कहते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

सामाजिक अन्तःक्रिया की विद्वानों द्वारा अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनमें से प्रमुख परिभाषाएँ अगले पृष्ठ पर उद्धृत हैं।

डॉसन एवं गेटिस के अनुसार, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य एक दूसरे के मष्तिक में प्रविष्ट होते हैं।"[1]

जिस्ट के मतानुसार, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह पारस्परिक प्रभाव है, जो मनुष्य परस्पर उत्तेजना तथा प्रति वचन के द्वारा डालते हैं।"[2]

गिलिन तथा गिलिन के शब्दों में, "सामाजिक अन्तःक्रिया का आशय उन सभी प्रकार के गत्यात्मक सामाजिक सम्बन्धों से है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, समूह और समूह के बीच अथवा व्यक्ति या समूह के बीच हों।[3]

मेरिल तथा एल्डरेज ने कहा है, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह सामान्य प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अर्थपूर्ण सम्पर्क की स्थापना होती है और जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहार में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है।[4]

ग्रीन के अनुसार "सामाजिक अन्तःक्रिया का तात्पर्य उन पारस्परिक प्रभावों से है जिन्हें व्यक्ति तथा समूह समस्याओं के समाधान में और उद्देश्य तक पहुँचने में एक दूसरे के ऊपर डालते हैं।"[5]

1. "Social interaction is a process whereby men interpenetrate the minds of each other."
—Dawson and Gettys : *An Introduction to Sociology.*

2. Social interaction is the reciprocal influence which human being exert on each other through interstimulations and response."
—Noel P. Gist : *Fundamentals of Sociology.*

3. "By Social interaction, we refer to Social relations of all sorts in function, dynamic social relations of all kinds, whether such relations exist between individual and individual between group and group, or between group and individual, as the case may be."
—Gillin and Gillin : *Cultural Sociology.*

4. "Social interaction is the general process whcreby two or more persons are in meaningful contact, as a result of which their behaviour is modified, however slightly."
—Merrill and Eldredge : *Cultural Sociology.*

5. "By social interaction is meant the mutual influences that individuals and groups have upon one another in their attempt to solve problems and in their striving towards goals."
—A. W. Green ; *Sociology.*



ल्यूमले के मतानुसार, "सम्पर्क और अन्तःक्रिया हमारे जीवन की नींव के पत्थर के समान है, वास्तव में ये वही हैं, जिन्हें हम सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं, वे समाज के लिये उसी प्रकार हैं जैसे भवन के लिए ईंट और गारा।"[1]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक अन्तःक्रिया एक मानसिक प्रक्रिया है और समाज के लिये बहुत ही उपयोगी है। अनेक विद्वान तो सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों का आधार सामाजिक अन्तःक्रिया को ही मानते हैं, और मानव समाज, उसकी सभ्यता तथा संस्कृति आदि को सामाजिक अन्तःक्रिया का ही प्रतिफल समझते हैं।

सामाजिक अन्तःक्रिया के स्तर
(Phases of Social Interaction)

सामाजिक अन्तः क्रिया के लिये निम्नलिखित दो स्तरों का होना अनिवार्य है :

(१) **सामाजिक सम्पर्क** (Social Contact) सामाजिक-सम्पर्क का अर्थ सदस्यों के बीच शारीरिक निकटता से नहीं है। सामाजिक अन्तःक्रिया के लिए दो या दो से अधिक सदस्यों के बीच पारस्परिक सम्पर्क होना अनिवार्य है। व्यक्तियों में सम्पर्क स्थापित होने से हमारा तात्पर्य उनमें मानसिक सम्पर्क स्थापित होने से है। डेविस के शब्दों में, "सामाजिक सम्पर्क के लिये प्रत्यक्ष रूप से एक शरीर का दूसरे शरीर पर आरोपित होना आवश्यक नहीं है, बल्कि सम्बन्धित पक्षों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानसिक चेतना होनी चाहिये।"[2] सामाजिक व्यक्तियों के अर्थपूर्ण सामाजिक सम्पर्क से ही

---

1. "......Contacts and interaction are the foundation stone of our life, indeed, they are what we mean by social, they are to society, what bricks and mortar are to buildings.
—F. E. Lumley : *Principles of Sociology.*

2. "It need not, of course, require the impingement of one body upon upon another, but it does require the occurrence of direct sensory stimulation between the interacting parties."
—K. Davis : *Human Society*

सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है, जिनका मूलआधार सामाजिक अन्तः क्रिया है। गिलिन और गिलिन के अनुसार, **"सामाजिक सम्पर्क, अन्तःक्रिया का प्रथम स्तर है।"**[1]

(२) **संचार** (Communication) मानवीय सामाजिक सम्पर्क का कुछ अर्थ होता है। इस अर्थ-निश्चय को सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति ही करता है और अर्थ निश्चय के उपरान्त वह सामाजिक अन्तःक्रिया आरम्भ कर देता है। इसलिये अर्थ का संचार और उसका निर्वचन सामाजिक अन्तःक्रिया के आवश्यक अंग हैं। संचार के अनेक साधन हैं। पिछड़े हुए समाजों में संचार विचार-विमर्श भाषा, सांस्कृतिक समन्वय आदि के रुप में और विकसित समाजों में रेडियो, समाचार पत्र, टेलीवीजीन, भाषण, चल चित्रों आदि उपकरणों के माध्यम से होता है।

समाज में संचार का महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः समाज का अस्तित्व ही संचार से हुआ है। व्यक्तिव को प्रौढ़ बनाने में संचार की बहुत अधिक प्रधानता है। अतः सामाजिक अन्तःक्रिया का संचार एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है।

सामाजिक अन्तःक्रिया के मूल स्वरुप
(Basic Forms of Social Interaction)

मनुष्यों में या विभिन्न समूहों में होने वाली अन्तः क्रिया को सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं। बीसंज तथा बीसंज के शब्दों में, **"सामाजिकि अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रियाएँ कहते हैं।"**[1]

सामाजिक प्रक्रियाएँ सभी समाजों में प्रत्येक स्तर पर पायी जाती हैं। इनके अनेक रुप होते हैं, जिन्हें सामाजिक अन्तःक्रिया के रुप भी कहते हैं।

समाज में संगठनात्मक एवं विघटनात्मक दोनों ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ विद्यमान रहती हैं। संगठनात्मक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सहयोग,

---

1. "Social contact, therefore, is the first phase of interacton."
   Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*.
2. "The various forms of interaction are called the Social processes."
   —Biesang and Biesang : *Modern Society*.

व्यवस्थापन एवं सात्मीकरण मुख्य हैं। विघटनात्मक प्रक्रियाओं में संघर्ष, प्रतियोगिता आदि उल्लेखनीय हैं। जिन समाजों में विभेदीकरण के स्तर अधिक होते हैं, वहाँ संघर्ष, प्रतियोगिता आदि अधिक देखने को मिलती है। समाज में विभेदीकरण के स्तर कम होने पर सहयोग, व्यवस्थापन, आत्मीकरण आदि की मात्रा अधिक पायी जाती है। परन्तु प्रत्येक समाज में इन दोनों ही प्रक्रियाओं के बीच एक समन्वय बना रहता है। इसीलिये समाज को संगठनात्मक एवं विघटनात्मक शक्तियों का सन्तुलन कहते हैं।

सामाजिक अन्तःक्रिया (सामाजिक प्रक्रियाओं) के वर्गीकरण के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। फिर भी निम्नलिखित वर्गीकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने सामाजिक अन्तःक्रिया को दो भागों में विभक्त किया है।

(१) सहयोगी (Co-operative), (२) विरोधी (Opposing)

कुछ विद्वान इन्हें एकीकरण करने वाली (Associative or Integrative) और प्रथक करने वाली (Dissociative or Disintegrative) सामाजिक प्रक्रियाएँ कहते हैं।

पार्क और बर्गेसने इन प्रक्रियाओं को चार भागों में विभक्त किया है :

(१) व्यवस्थापन (Accommodation), (२) सात्मीकरण (Assimilation), (३) प्रतिस्पर्धा (Competition), तथा (४) संघर्ष (Conflict)

ऑगबर्न (Ogburn), मैकाइवर (MacIver), इलियट(Elliott) तथा मर्टन (Merton) आदि इसे भौतिक प्रक्रिया मानते हैं और उन्होंने इसमें सहयोग (Co-operation) को भी जोड़ दिया है। ये विद्वान सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, को एकीकरण करने वाली और संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा को प्रथक करने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं (Social Processes) के अन्तर्गत मानते हैं। ऑगबर्न तथा निमकॉफ जैसे अनेक समाजशास्त्रियों के मतानुसार सहयोग के कारण समाज में संघर्ष उत्पन्न होता है। सहयोग में अनेक प्रकार के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं जिससे प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है। परिणामतः यह प्रतिस्पर्धा, संघर्ष को जन्म देती है। सहयोग

के अभाव में व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं आ पाते हैं, फलस्वरुप प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की सम्भावनाएँ नहीं के समान हो जाती हैं ।

सामाजिक प्रक्रियाओं की विशेषताएं
(Characteristics of Social Processes)

समाज में सन्तुलन बनाये रखने के लिये उसके अन्दर सामाजिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। इन सामाजिक प्रक्रियाओं के दो मुख्य रुप हैं जिन्हें एकीकरण करने वाली एवं प्रथक करने वाली प्रक्रियाएँ कहते हैं। एकीकरण करने वाली प्रक्रियाओं के अन्तंगत सहयोग, व्यवस्थापन तथा सात्मीकरण और प्रथक करने वाली प्रक्रियाओं के अन्तंगत संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा आती हैं। सभी सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में ये दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाएँ किसी न किसी रुप में क्रियाशील रहती हैं। यह संभव नहीं है कि किसी समाज विशेष में एक ही प्रकार की प्रक्रियाएँ पूर्ण रुप से क्रियाशील हों। हाँ यह हो सकता है कि किसी समाज में एकीकरण करने वाली प्रक्रियाएँ अधिक क्रियाशील हों और प्रथक करने वाली प्रक्रियाएँ कम हों, परन्तु यह उस समाज विशेष की संरचना, उसके मूल्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रतिमानित साधनों के ऊपर निर्भर करता है। यहाँ पर अमेरिकी समाज और भारतीय समाज की तुलना की जा सकती है। अमेरिकी समाज में जहाँ प्रथक करने वाली प्रक्रियाएँ अधिक क्रियाशील हैं वहीं भारतीय समाज में एकीकरण करने वाली प्रक्रियाएँ कार्यरत हैं। आज अमेरिका में हर व्यक्ति ऊँचा उठना चाहता है, भले ही उसे अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में कैसे ही साधनों को अपनाना पड़े। अधिक धन अर्जन करना ही अमेरिका के प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय है, क्यों कि धन ही उसकी सामाजिक स्थिति का मापदण्ड है। यही कारण है कि अमेरिका में संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा की भावना बड़े जोरों पर है। इसके विपरीत भारत वर्ष में शान्ति तथा उदार गुणों की महिमा सर्वोपरि है। इसीलिये यहाँ एकी करण की प्रक्रियाएँ अधिक क्रियाशील हैं। कहने का तात्पर्य है कि एकीकरण तथा पृथक करने वाली प्रक्रियाएँ सभी समाजों में किसी न किसी रुप में अवश्य पाई जाती हैं।

समाज में किस प्रकार की प्रक्रियाओं को प्राथमिकता दी जाय और किन प्रक्रियाओं को गौण स्थान, यह भी समाज विशेष पर निर्भर करता है। जो प्रक्रियाएँ समाज के मूल्यों एवं मान्यताओं के अनुरूप होती है, समाज उन्हें

प्रोत्साहन देता है और कम महत्व की अथवा गौण प्रक्रियाओं को दबा देता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर सामाजिक प्रक्रियाओं को दो मोटे रूप में बाँट सकते हैं। (१) एकीकरण करनेवाली प्रक्रियाएँ, जिनके अन्तर्गत सहयोग, व्यवस्थापन एवं सात्मीकरण मुख्य हैं तथा (२) प्रथक करने वाली प्रक्रियाएँ, जिनमें संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा आदि हैं। समाज में इन सभी प्रक्रियाओं का बहुत अधिक महत्व है। अतः इन सभी प्रक्रियाओं का आगामी अध्यायों में विस्तृत विवेचन किया गया है।

Selected Readings

1. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
2. A. W. Green : Sociology.
3. MacIver and Page : Society.
4. K. Davis : Human Society.
5. F. H. Allport : Social Psychology.

Questions

१. सामाजिक प्रक्रिया की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
Explain the concept of social process.

२. सामाजिक अन्तःक्रिया से आप क्या समझते हैं? इसके मूल स्वरूप का वर्णन कीजिए।
What do you understand by Social interaction ? Discuss the basic forms of Social interaction.

अध्याय ५

एकीकरण की सामाजिक प्रक्रियाएँ
(INTEGRATIVE SOCIAL PROCESSES)

समाज में एकीकरण तथा प्रथक करने वाली सामाजिक प्रक्रियाएँ सदैव क्रियाशील रहती हैं। विभिन्न समूहों में इनके स्वरूप अलग-अलग होते हैं। सामाजिक जीवन में इन दोनों ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं का विशेष महत्व है। प्रस्तुत अध्याय में समाज में एकीकरण स्थापित करने वाली प्रमुख सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है।

सहयोग
(CO-OPERATION)

सामाजिक व्यवस्था में सदैव ऐसी अनेक समस्याएँ जन्म लेती रहती हैं जिनका समाधान आवश्यक होता है। इन समस्याओं का हल समाजका कोई एक सदस्य नहीं निकाल सकता। इसके लिये दूसरे सदस्यों का सहयोग आवश्यक होता है। अतः लोगों द्वारा मिल-जुलकर किसी लक्ष्यकी प्राप्ति के लिए अथवा किसी सामान्य समस्या के हल निकालने के हेतु किये गये -कार्य को सहयोग कहते हैं।

सामाजिक प्रगति एवं पारस्परिक निर्भरता के लिये यह आवश्यक है कि समाज में सहयोग की प्रक्रिया सदैव क्रियाशील रहे। विद्वानों द्वारा दी गई विभिन्न परिभाषाओं से इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायगा।

अध्याय ५

एकीकरण की सामाजिक प्रक्रियाएँ

(INTEGRATIVE SOCIAL PROCESSES)

समाज में एकीकरण तथा प्रथक करने वाली सामाजिक प्रक्रियाएँ सदैव क्रियाशील रहती हैं। विभिन्न समूहों में इनके स्वरूप अलग-अलग होते हैं। सामाजिक जीवन में इन दोनों ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं का विशेष महत्व है। प्रस्तुत अध्याय में समाज में एकीकरण स्थापित करने वाली प्रमुख सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है।

सहयोग

(CO-OPERATION)

सामाजिक व्यवस्था में सदैव ऐसी अनेक समस्याएँ जन्म लेती रहती हैं जिनका समाधान आवश्यक होता है। इन समस्याओं का हल समाजका कोई एक सदस्य नहीं निकाल सकता। इसके लिये दूसरे सदस्यों का सहयोग आवश्यक होता है। अतः लोगों द्वारा मिल-जुलकर किसी लक्ष्यकी प्राप्ति के लिए अथवा किसी सामान्य समस्या के हल निकालने के हेतु किये गये कार्य को सहयोग कहते हैं।

सामाजिक प्रगति एवं पारस्परिक निर्भरता के लिये यह आवश्यक है कि समाज में सहयोग की प्रक्रिया सदैव क्रियाशील रहे। विद्वानों द्वारा दी गई विभिन्न परिभाषाओं से इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायगा।

परिभाषायें (Definitions)

किसी सामान्य उद्देश्य या लक्ष्य के लिए लोगों द्वारा किये गये सामूहिक प्रयत्न को सहयोग कहते हैं। निम्नलिखित विद्वानों की परिभाषाएँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

फेयर चाइल्ड के शब्दों में, **"सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एकाधिक व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों को बहुत कुछ संगठित रूप में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त करते हैं।"**[1]

ग्रीन के अनुसार, **"सहयोग दो से अधिक व्यक्तियों के किसी कार्य को करने या किसी उद्देश्य पर जो कि समान रूप से इच्छित होता है, पहुँचने के निरन्तर एवं सम्मिलित प्रयत्न को कहते हैं।"**[2]

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के मतानुसार, **"सहयोग का एक रूप वह है जिसमें परिश्रम सामूहिक ढंग से किया जाता है और सभी व्यक्ति एक ही काम को अपनी योग्यतानुसार करते हैं और इनके कार्य सामूहिक फल के लिए निर्देशित होते हैं।"**[3]

---

1. "Co-operation is the process by which individuals or groups combine their efforts in a more or less organised way, for the attainment of common objectives."
—H. P. Fairchild : (*Ed.*) *Dictionary of Sociology. (1944)*

2. Co-operation is the common endeavour of two or more persons to perform a task or to reach a goal that is commonly cherished."
—A. W. Green : *Sociology*.

3. "One form which co-operation takes is called labour in common. Here the co-operating individuals all do essentially the same thing, there is integration of differentiated labour, this exists when individuals work towords a common end but each has his own specialized function to perform."
—Ogburn ond Nimkoff : *Hand book of Sociology*.

मेरिल तथा एल्डरेज ने लिखा है, **"सामाजिक अन्तःक्रिया के उस रूप को सहयोग कह सकते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साथ-साथ कार्य करते हैं।"**[1]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति जब किसी सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, तो उसे सहयोग कहते हैं। सहयोग करने वाले उस समय तक मिलकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाये।

सहयोग की प्रकृति
(Nature of Co-operation)

सहयोग मनुष्य के सामाजिक जीवन का मुख्य आधार है। जन्म से ही मनुष्य अपने पालन-पोषण, शिक्षण और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों के सहयोग पर आधारित है। जन्म के बाद ही बालक अपने उचित पालन-पोषण एवं शिक्षण के लिए अपने माता-पिता के सहयोग पर निर्भर है। उसका पालन पोषण तथा शिक्षण परिवार के अन्य सदस्यों के सहयोग से ही संभव होता है। बालक के बड़ा होने पर उसे अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की चिन्ता रहती है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसे जिन गुणों की तथा योग्यताओं की आवश्यकता होती है, वह उसे अपने पास-पड़ौस, परिवार, विद्यालय आदि के सहयोग से ही सीखता है। इस प्रकार इन गुणों को सीखने के लिए उसे अपने समूह के सहयोग की आवश्यकता होती है। वह अपने समूह से अलग रह कर सामाजिक जीवन में सफलता प्राप्त करने वाली अनिवार्य योग्यताओं को नहीं सीख सकता। अपनी छोटी-छोटी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए भी वह समूह के दूसरे सदस्यों के सहयोग पर आश्रित रहता है।

मनुष्य को जीवन पर्यन्त अनेक विपत्तियाँ घेरे रहती हैं। इन विपत्तियों पर काबू पाना उसके अकेले के वश के बाहर की बात है। अपनी विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए उसे अपने परिवार, पड़ोसियों, मित्रों एवं रिश्तेदारों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इन व्यक्तियों के सहयोग के ही कारण वह इन विपत्तियों का सामना करने में समर्थ होता है।

---

1. "Co-operation may be defined as form of social interaction wherein two or more persons work together to gain a common end."
—Merrill and Eldredge : *Cultural Sociology.*

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सहयोग मनुष्य के सामाजिक जीवन की सर्वोपरि एक अनिवार्य आवश्यकता है एवं सामाजिक संगठन की मूलभूत आधारशिला है।

सहयोग के रूप
(Forms of Co-operation)

समाज में प्रत्येक समूह, समिति अथवा संगठन में सहयोग की प्रक्रिया सदैव क्रियाशील रहती है। किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए परिवार से लेकर राष्ट्र तथा पूरे संसार में सहयोग होता रहता है। संसार में अमन चैन का वातावरण बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ सहयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सहयोग के प्रमुख रूप आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक हैं। ये सभी संगठन सहयोग के ही आधार स्तम्भ पर खड़े हैं।

सहयोग के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यहाँ कह देनी आवश्यक है। लोगों द्वारा मिल-जुल कर कार्य करने को सहयोग केवल तभी कहेंगे जब कि वह किसी सामान्य उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया गया हो। किसी व्यक्तिगत या समाज विरोधी ध्येय की पूर्ति के लिए किया गया कार्य, भले ही उसे कितने ही लोगों ने क्यों न किया हो, सहयोग नहीं है। तस्करी का व्यापार करने वाले दल के सदस्यों में सहयोग बहुत अधिक होता है, परन्तु उनके कार्य को सहयोग नहीं कहा जा सकता क्यों कि वह व्यक्तिगत ध्येयों की पूर्ति के लिए, राष्ट्रविरोधी असामाजिक कार्य है। सहयोग को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से वर्गीकृत किया है। यहाँ पर कुछ प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों के वर्गीकरण का वर्णन किया गया है।

(१) **मैकाइवर तथा पेज** (MacIver and Page) ने सहयोग दो प्रकार का माना है :

(i) **प्रत्यक्ष सहयोग** (Direct Co-operation) प्रत्यक्ष सहयोग से मैकाइवर तथा पेज का तात्पर्य उस सहयोग से है जब लोग एक साथ समान या मिलते जुलते कार्य करते हों। जैसे ग्राम चुनाव में किसी उम्मीदवार के लिए बहुत से लोग चुनाव का संगठन करते हैं अथवा प्रत्येक घर में जाकर वोट मांगते हैं, यह प्रत्यक्ष सहयोग का उदाहरण है।

(ii) **अप्रत्यक्ष सहयोग** (Indirect Co-operation) अप्रत्यक्ष सहयोग से तात्पर्य उस सहयोग से है जिसमें लोग समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर कार्य करते हैं, परन्तु सभी लोगों के कार्य भिन्न-भिन्न और पृथक होते हैं। किसी सरकारी कार्यालय, अथवा कारपोरेशन के कार्यालयों में जो सहयोग होता है वह अप्रत्यक्ष सहयोग के अन्तर्गत आता है।

(२) **ए० डब्लू० ग्रीन** (A. W. Green) तथा कुछ अन्य सामाजशास्त्री समाज में तीन प्रकार के सहयोग मानते हैं।

(i) **प्राथमिक सहयोग** (Primary Co-operation) प्राथमिक सहयोग में व्यक्ति स्वयं में और समूह में कोई भेद नहीं मानता। वह अपने तथा समूह के साधनों में कोई अन्तर नहीं समझता। इस सहयोग में साधन और साध्यों में कोई अन्तर नहीं माना जाता। अध्यापक बच्चे को इसलिए पढ़ाता है कि उसका बौद्धिक विकास हो सके। इसमें अध्यापक का यही स्वार्थ है कि बच्चा ठीक पढ़ लिख जाय। इसी से अध्यापक की भी सन्तुष्टि हो जाती है। यही प्राथमिक सहयोग है।

(ii) **द्वैतीयक सहयोग** (Secondary Co-operation) द्वैतीयिक सहयोग से तात्पर्य उस सहयोग से है जिसमें व्यक्ति समूह के साथ अपने स्वार्थ के लिए सहयोग करता है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कोई प्रथक कार्य करता है और अपने कार्य से वह दूसरों को सहयोग देता है ताकि इस सहयोग के माध्यम से वह व्यक्तिगत आनन्द प्राप्त कर सके। आधुनिक समाज में द्वैतीयिक सहयोग ही अधिकतर पाया जाता है।

(iii) **तृतीयक सहयोग** (Teritiary Co-operation) तृतीयक सहयोग का उपनाम व्यवस्थापन (Accommodation) है। इसका वर्णन आगे किया गया है।

(३) **ऑगबर्न** (Ogburn) ने सहयोग के तीन रूप बताये हैं :

(i) **सामान्य सहयोग** (Common Co-operation) सामान्य सहयोग से ऑगबर्न का तात्पर्य उस सहयोग से है जो कि पारस्परिक सम्बन्धों में पाया जाता है।

(ii) **मित्रवत सहयोग** (Companionable Co-operation) मित्रवत सहयोग से अर्थ उस सहयोग से है जो मित्रों, साथियों आदि को दिया जाता है।

(iii) **विभेदीकृत सहयोग** (Differentiated Co-operation) जब कार्य की बहुत सी इकाइयाँ अलग-अलग लोगों द्वारा पूरा की जाती हैं तो लोगों के कार्यों में एक संगठित एकता दिखाई पड़ती है। इसे विभेदीकृत सहयोग कहते हैं। श्रम विभाजन और विशेषीकरण में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्य इस सहयोग का उदाहरण हैं।

(४) **हर्जलर** (Hertzler) ने सहयोग का दो भागों में वर्गीकरण किया है :

(i) **ऐच्छिक सहयोग** (Spontaneous Co-operation) जब दो या दो से अधिक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी कार्य में सहयोग करते हैं तो उसे ऐच्छिक सहयोग कहते हैं। ग्रामीण जीवन में इसी प्रकार का सहयोग पाया जाता है।

(ii) **संगठित सहयोग** (Organised Co-operation) जब लोग विभिन्नता के उपरान्त भी एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो उसे संगठित सहयोग कहते हैं। अमुक्त समाजों (Closed Society) तथा द्वैतीयक समूहों में इसी प्रकार का सहयोग पाया जाता है।

(५) **क्रॉपकिन** (Kroptkin) क्रॉपकिन पारस्परिक सहयोग को बहुत अधिक महत्व देता है। जब व्यक्ति एक दूसरे के लाभ के लिये पारस्परिक सहयोग करता है तो उसे पारस्परिक सहयोग कहते हैं। बोगार्डस ने पारस्परिक सहयोग के सम्बन्ध में लिखा है, **"पारस्परिक सहयोग, सहयोग का एक विशिष्ट नाम है।"**[1]

सहयोग का महत्व
(Importance of Co-operation)

सहयोग सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत शिला है। अतः सामाजिक व्यवस्था में संतुलन बनाये रखने के लिये सहयोग आवश्यक है। आज एक

1. "Mutual aid is a special name for co-operation."
—Bogardus : *Sociology.*

राष्ट्र अपनी प्रगति के लिए दूसरे राष्ट्रों से प्रतिस्पर्धा करता है। दूसरे राष्ट्रों से प्रतिस्पर्धा में वह सफल रहे, इसके लिये राष्ट्र में आन्तरिक सहयोग का होना अति आवश्यक है। सहयोग की शान्ति तथा युद्ध दोनों ही समय में बहुत आवश्यकता होती है। युद्ध काल में तो सहयोग की आवश्यकता और भी अधिक होती है। शान्ति काल में समाज में आंशिक सहयोग तो रहता ही है, परन्तु उसके साथ-साथ प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की प्रक्रिया भी बहुत अधिक क्रियाशील रहती है। युद्ध के समय समाज में सहयोग की मात्रा बढ़ जाती है। समाज की विभिन्न इकाइयाँ संगठित होकर एक सुदृढ़ इकाई बन जाती है। राष्ट्र की रक्षा के लिये लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग देते हैं और समूचा राष्ट्र एक हो जाता है। कुछ वर्षों पूर्व चीन तथा पाकिस्तान द्वारा भारतवर्ष पर आक्रमण के समय ऐसी ही स्थिति थी। लोग अपने व्यक्तिगत हितों को छोड़कर राष्ट्र के साथ कंधे से कंधा मिला कर तैयार हो गये थे। नागरिकों के सहयोग से ही देश का मनोबल बना रहा और उसने अपने शत्रुओं का डटकर मुकाबला किया।

समाज के विकास में भी सहयोग का अत्याधिक महत्व है। लोगों के संयुक्त प्रयत्न से ही समाज की प्रगति संभव होती है। सभी राष्ट्रों की वर्तमान सभ्यता सहयोग का ही प्रतीक है। अमेरिकी समाज में प्रतिस्पर्धा सहयोग के ऊपर ही आश्रित है। अमुक्त समाजों में उत्पादन में प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया बहुत अधिक क्रियाशील रहती है, परन्तु इस प्रतिस्पर्धा का ध्येय यही होता है कि सभी लोग राष्ट्रीय आय में सहयोग करें। साम्यवादी राष्ट्रों ने सहयोग के बल पर ही सफलता प्राप्त की है।

रुथ बेनेडिक्ट तथा मीड आदि विद्वानों ने अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रजातियों में भी सहयोग की भावना सर्वोपरि है। परन्तु उन्होंने कुछ ऐसे भी कबायिलों का वर्णन किया है जहाँ प्रतिस्पर्धा को ही अधिक महत्व दिया जाता है। भारतीय समाज सहयोग का एक उत्तम उदाहरण है। भारत के संयुक्त परिवार इस बात का प्रमाण है कि यहाँ सहयोग की भावना सर्वोपरि है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन का मूल आधार सहयोग ही है। प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति को दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। सहयोग की आवश्यकता प्राणीशास्त्री स्तर एवं सामाजिक स्तर दोनों में ही रहती है।

व्यवस्थापन

(ACCOMMODATION)

समाज में एकीकरण स्थापित करनेवाली प्रक्रियाओं में व्यवस्थापन की प्रक्रिया बहुत महत्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन में मनुष्य के समक्ष ऐसी अनेक नवीन परिस्थितियाँ आती रहती हैं जिन्हें वह पसन्द नहीं करता। अतः इन परिस्थितियों को अपने नियन्त्रण में रखने के ध्येय से वह इनसे प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष करता है। परन्तु इसके उपरान्त भी यदि वह इन परिस्थितियों पर नियन्त्रण रख सकने में असफल होता है, तो वह उनसे धीरे-धीरे समायोजन कर लेता है। मनुष्य का किसी नवीन परिस्थिति से प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के बाद अस्थायी समयोजन कर लेना ही व्यवस्थापन है। इसे एक दूसरे उदाहरण द्वारा और भी स्पष्टता से समझा जा सकता है। आरम्भ में किसी नवीन संस्कृति के मानने वाले लोगों का दूसरी संस्कृति में प्रवेश करने पर, दूसरी संस्कृति से प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष होता है। परन्तु सफलता न मिलने पर उन्हें दूसरी संस्कृति के आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं आदि से धीरे-धीरे समायोजन स्थापित करना पड़ता है। इस प्रकार एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति के विभिन्न पक्षों से अस्थायी समायोजन की प्रक्रिया को ही व्यवस्थापन कहते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

व्यवस्थापन के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषाएँ उल्लेखनीय हैं।

पार्क तथा बर्गेस के शब्दों में, "**व्यवस्थापन संघर्षों का स्वाभाविक परिणाम है। व्यवस्थापन में परस्पर संघर्षरत तत्वों का विरोध कुछ समय के लिए नियन्त्रित हो जाता है और प्रत्यक्ष कार्य के रूप में संघर्ष का लोप हो जाता है। यद्यपि सम्भाव्य शक्ति के रूप में यह अप्रत्यक्ष बना रहता है।**"[1]

---

1. "Accommodation is the natural issue of conflicts. In an accommodation, the antagonism of the hostile element is, for the time being, regulated and conflict disappears as overaction although it remains latent as a potential."
—Park and Burgess : *Introduction to Seience of Sociology*

जोन्स ने लिखा है, "एक अर्थ में व्यवस्थापन असहमत रहने के लिए समझौता कहा जा सकता है।"[1]

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, "व्यवस्थापन वह शब्द है जो समाजशास्त्रियों द्वारा विरोधी व्यक्तियों तथा समूह के समायोजन के लिए प्रयोग किया जाता है।"[2]

रयूटर तथा हार्ट के मतानुसार, "व्यवस्थापन एक प्रक्रिया के रूप में प्रयत्नों का वह क्रम हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति परिवर्तित अवस्थाओं द्वारा आवश्यक बनाई गयी आदतों और दृष्टिकोण का निर्माण करके, जीवन की परिवर्तित दशाओं से एकता स्थापित कर लेते हैं।"[3]

गिलिन तथा गिलिन के अनुसार, "व्यवस्थापन, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के समान एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति और समूह सहगामी एकता के हित में अपनी विरोधी क्रियाओं का समायोजन कर लेते हैं।"[4]

मैकाइवर तथा पेज के शब्दों में, "व्यवस्थापन का अभिप्राय विशेषकर उस प्रक्रिया से है जिससे मनुष्य अपने पर्यावरण से सामञ्जस्य की भावना उत्पन्न कर लेता है।"[5]

---

1. "In one sense accommodation may be said to be an agreement to disagree."
   —Jones : *Basic Sociological Theory.*

2. "Accommodation is a term used by the sociologist to describe adjustment of hostile individuals or group."
   —Ogburn & Nimkoff : *Handbook of Sociology.*

3. "As a process accommodation is sequence of steps by which persons are reconciled to changed conditions of life through the formation of habits and attitude made necessary by the changed conditions themselves."
   —Reuter and Hart : *Introduction to Sociology.*

4. "In competition, as in conflict, accommodation is a process by which the individual and the group adjust their antagonistic activities in the interest of associated unity."
   —Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*

5. "The term accommodation refers particularly to the process in which, man attains a sense of harmony with his environment."
   —MacIver and Page : *Society*

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज में सभी सदस्यों को सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर पर कुछ न कुछ व्यवस्थापन करना पड़ता है। आरम्भ में नव-विवाहित दम्पति के सामने अनेक समस्याएँ होती हैं, परन्तु वे व्यवस्थापन करके सब कुछ ठीक कर लेते हैं। अतः उत्तम वैवाहिक जीवन व्यवस्थापन का ही परिणाम हैं।

समाज में दो समूहों में संघर्ष के बाद दोनों ही समूहों की सामाजिक स्थिति एक निश्चित सी हो जाती है। व्यवस्थापन की प्रक्रिया इसे और भी औपचारिक बनाकर इसे निश्चित एवं स्थायी कर देती है। संघर्ष के बाद एक समूह दूसरे समूह के समक्ष झुक जाता है और स्वयं में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके दूसरे समूह से समायोजन करना आरम्भ कर देता है। दोनों समूहों के सदस्य एक दूसरे सदस्य के प्रति अपने अधिकार एवं दायित्वों को निभाने की चेष्टा करने लगते हैं। परन्तु इसके उपरान्त भी दोनों समूहों में संघर्ष का भय रहता है जो कभी भी खुली हिंसा में बदल सकता है। इसके कारण के सम्बन्ध में ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने लिखा है, **"व्यवस्थापन में दोनों ही पक्षों में प्रेम तथा घृणा की मनोवृत्तियाँ बनी रहती हैं।"**[1]

व्यवस्थापन के प्रकार
(Forms of Accommodation)

सामान्यतया व्यवस्थापन दो प्रकार का होता है·

(i) **समन्वित व्यवस्थापन**—जब दो बराबर शक्ति वाले पक्षों में व्यवस्थापन होता है तो उसे समन्वित व्यवस्थापन कहते हैं। समान शक्ति वाले श्रमिक संघो एवं राजनैतिक दलों में इसी प्रकार का व्यवस्थापन होता है।

(ii) **प्रभुता-आधीनता युक्त व्यवस्थापन**—यह आवश्यक नहीं है कि व्यवस्थापन दो समान शक्ति वाले पक्षों में ही हो। यह प्रायः असमान शक्ति वाले पक्षों में भी होता है। इस प्रकार के व्यवस्थापन में विजेता सदैव निर्बल को दबाये रहता है और निर्बल को भी संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा को त्याग कर व्यवस्थाफ्न करना होता है। यह व्यवस्थापन या समझौता विजेता की शर्तों

1. 'In accommodation..... both love and hate attitudes coexist."

—Ogburn and Nimkoff : *Handbook of Sociology*

के अनुसार होता है। इस प्रकार का व्यवस्थापन प्रायः श्रमिक संघों एवं प्रतिष्ठानों के बीच पाया जाता है।

व्यवस्थापन की रीतियाँ
(Technigues of Accommodation)

गिलिन तथा गिलिन के अनुसार व्यवस्थापन की निम्नलिखित मुख्य रीतियाँ हैं:

(१) बल प्रयोग के सामने झुक जाना (yielding to coercion)
(२) समझौता (Compromise)
(३) पंचनिर्णय तथा सान्त्वना (Arbitration and conciliation)
(४) सहिष्णुता (Tolerence)
(५) स्थिति परिवर्तन (Conversion)
(६) उत्पादन (Sublimation)
(६) युक्तिकरण (Rationalization)

व्यवस्थापन का सामाजिक महत्व
(Social Importance of Accommodation)

सामाजिक व्यवस्था में शान्ति एवं सन्तुलन बनाये रखने में व्यवस्थापन की प्रक्रिया का बड़ा महत्व है। इसकी प्रक्रिया समाज में संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा को कम करती है और विरोध को नष्ट करती है। दो विभिन्न संस्कृतियों को मानने वाले लोगों में व्यवस्थापन ही समन्वय स्थापित करता है। व्यवस्थापक की प्रमुख विशेषता है कि यह सात्मीकरण का मार्ग खोलता है।

सात्मीकरण
(ASSIMILATION.)

समाज व्यवस्था में होने वाले सभी परिवर्तनों (दशाओं अथवा परिस्थितियों) को समाज के सदस्य पसन्द नहीं करते। वे इन परिवर्तनों को अपने नियन्त्रण में रखने के लिये प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष करते हैं। प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष करने के उपरान्त भी जब वे परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखने में

सफल नहीं हो पाते हैं, तो वे कुछ समय के लिये उन दशाओं एवं परिवर्तनों से व्यवस्थापन कर लेते हैं; और व्यस्थापन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने पर जो प्रक्रिया जन्म लेती है, उसका नाम सात्मीकरण है। इस प्रकार सात्मीकरण व्यवस्थापन के बाद की स्थिति है और व्यवस्थापन की ही भाँति समाज में अभियोजन करने का एक रुप है। इस प्रक्रिया के द्वारा एक समूह की संस्कृति, रीति-रिवाज, मान्यताएँ आदि दूसरे समूह में समा जाती हैं और समूह के सदस्य नवीन संस्कृति के रीति-रिवाज, मान्यताओं आदि को ग्रहण करने लगते हैं। अतः सात्मीकरण पुरानी संस्कृति, मनोवृत्तियों, मूल्यों, मान्यताओं में एक परिवर्तन हैं तथा नूतन परिस्थितियों एवं भूमिकाओं की प्राप्ति और नवीन प्रतीकों से एक परिचय है।

परिभाषाएँ (Definitions)

सात्मीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के शब्दो में, "**सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिससे किसी समय असमान व्यक्ति या समूह समान हो जाते हैं अर्थात वे स्वार्थी और दृष्टिकोण में समान हो जाते हैं**"[1],

पार्क एवं बर्गेस ने लिखा है, "**सात्मीकरण अन्तःप्रवेश और एकता की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की धारणाओं, भावनाओं और दृष्टिकोण को अपना लेते हैं और उनके अनुभव और इतिहास के भागीदार बनकर उनके साथ एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में समाविष्ट हो जाते हैं।**"[2]

---

1. "Assimilation is the process whereby individuals or groups once dissimilar become similar, that is, become identified in their interest and outlook-"
—Ogburn and Nimkoff : *Handbook of Sociology.*

2. "Assimilation is a process of interpenetration and fusion in which persons and groups acquire the memories, sentiments and attitudes of other persons or groups and by sharing their experience and history are incorporated with them in a common cultural life."
—R. E. Park and E. W. Burgess : *Introduction to the Science of Sociology.*

बोगार्डस के अनुसार, "**सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिससे अनेक व्यक्तियों के दृष्टिकोण एकीकृत हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप वे एक संयुक्त समूह में विकसित हो जाते हैं।**"[1]

बीसंज और बीसंज के मतानुसार, "**सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति और समूह समान भावनाओं से मूल्यों और उद्देश्यों को स्वीकार कर लेते हैं।**"[2]

उपरिलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सात्मीकरण समाज में एकीकरण करने वाली एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है।

सात्मीकरण के सहायक कारक
(Factors Conductive to Assimilation)

सात्मीकरण के निम्नलिखित सहायक कारक हैं :

(१) सहिष्णुता (Tolerence)—सात्मीकरण की प्रक्रिया में सहिष्णुता बहुत अधिक सहायक सिद्ध होती है। सहिष्णुता के परिणाम-स्वरूप ही अलग-अलग संस्कृतियों को माननेवाले लोग आपस में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा इन सामाजिक सम्बन्धों में संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया अधिक क्रियाशील नहीं हो पाती है। सहिष्णुता के अभाव में सामाजिक व्यवस्था में संघर्ष होने की संभावना अधिक होती है।

(२) घनिष्ट सामाजिक सम्बन्ध (Close Social Contact) सात्मीकरण की प्रक्रिया के लिए घनिष्ट सामाजिक सन्बन्धों का होना भी अनिवार्य है। इसके लिये यह आवश्यक है कि समाज में सहिष्णुता का अभाव न हो अन्यथा घनिष्ट सामाजिक सम्बन्ध होने पर भी समाज में संघर्ष का भय होगा, और व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं बनी रहेगी।

---

1. "Assimilation is a process whereby attitudes of many persons are united and thus develop into a united group."
—E. S. Bogardus : *Sociology.*

2. "Assimilation is the social process whereby individuals and groups come to share the same sentiments, values and goals."
—Biesanz and Biesanz : *Modern Society.*

(३) समान आर्थिक अवसर (Equal Economic Opportunities)—सात्मीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाने के लिये समाज में सबके लिए समान आर्थिक अवसर होने चाहिए। समाज में आर्थिक अवसर समान होने पर सामाजिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट होते हैं।

(४) सांस्कृतिक तथा प्रजातीय समानताएँ (Cultural and Racial Similarities) समाज में सांस्कृतिक एवं प्रजातीय समानताएँ होने पर सात्मीकरण की प्रक्रिया की गति द्रुत होने की सम्भावना होती है। इन समानताओं के कारण ही दो अलग-अलग संस्कृतियों से आये हुए लोग एक दूसरे से घृणा नहीं करते हैं।

(५) सम्मिश्रण (Amalgamation) सम्मिश्रण भी सात्मीकरण की प्रक्रिया के लिए बहुत उपयोगी है। वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने पर सदस्य एक दूसरे के निकट आते हैं और इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध की पृष्ठभूमि का निर्माण होता है।

सात्मीकरण के विरोधी कारक

(Factors Against Assimilation)

सात्मीकरण की प्रक्रिया में बाधा डालने वाले निम्नलिखित विरोधी कारक हैं:

(१) पृथकता (Isolation) पृथकता सात्मीकरण की प्रक्रिया में बाधा डालने वाला मुख्य कारक है। समाज में पृथकता अधिक होने का अर्थ है सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण न होना और जब सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण ही नहीं होगा तो अन्तःक्रिया (Interaction) के प्रारम्भ होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(२) सांस्कृतिक भिन्नता (Cultural Dissimilarities) समाज में दो संस्कृतियों के लक्षणों में भिन्नता अधिक होने से सात्मीकरण की प्रक्रिया की गति मन्द हो जाती है और दोनों संस्कृतियों को मानने वाले लोग एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं।

(३) वर्ण तथा शारीरिक लक्षणों की भिन्नता (Difference of Colour and Physical Traits) समाज में सदस्यों के वर्ण तथा शारीरिक लक्षणों की भिन्नता के परिणामस्वरुप सदस्य स्वयं को एक दूसरे

से भिन्न समझने लगते हैं। इससे सात्मीकरण की प्रक्रिया को सफल होने में बाधा पहुंचती है।

(४) **उच्चता तथा हीनता की भावना** (Feeling of Superiority and Inferiority) समाज में सदस्यों के बीच उच्चता एवं हीनता की भावना विद्यमान होने से सात्मीकरण की प्रक्रिया में बाधा पड़ती है। उच्चता की भावना रखने वाले सदस्य दूसरे सदस्यों को हीनता की दृष्टि से देखने लगते हैं। अतः सदस्यों के बीच घृणा उत्पन्न होने लगती है और सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है।

(५) **सामाजिक सम्पीड़न** (Social Persecution) समाज में जब बहुमत संस्कृति वाले अल्पमत को सताना आरम्भ कर देते हैं तो बहुमत और अल्पमत के बीच घृणा का प्रादुर्भाव होता है। घृणा के प्रादुर्भाव होने पर संघर्ष होने की संभावना बढ़ जाती है जो कि सात्मीकरण की प्रक्रिया के लिये बाधक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजिक व्यवस्था में एकीकरण करने वाली प्रक्रियाओं का बहुत अधिक महत्व है। सामाजिक व्यवस्था में संतुलन बनाये रखने के लिए इन प्रक्रियाओं का क्रियाशील रहना अति आवश्यक है।

Selected Readings

1. A. W. Green : Sociology.
2. Ogburn & Nimkoff : Handbook of Sociology.
3. Merrill and Eldredge : Cultural Sociology.
4. MacIver and Page : Society.
5. Park and Burgess : Introduction to the Science of Sociology.
6. E. S. Bogardus : Sociology.

Questions

१. सामाजिक प्रक्रिया क्या है ? सहयोग की एक प्रक्रिया के रूप में व्याख्या कीजिये।
What is social process ? Analyse co-operation as that process.

२. सहयोग की एक प्रक्रिया के रूप में प्रकृति एवं कार्यों की विवेचना कीजिये।

Discuss the nature and functions of co-operation as a social process.

३. सहयोग से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट करते हुए सहयोग के विविध रूपों का उल्लेख कीजिये।

What do you understand by co-operation ? Explain and discuss its various forms.

४. समाज में एकीकरण करने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं का संक्षेप में महत्व बताइए।

Discuss in brief the importance of integrative social processes in society.

५. टिप्पणी लिखिये :

(१) व्यवस्थापन (२) सात्मीकरण

Write short notes on :

(1) Accommodation, (2) Assimilation.

अध्याय ६

पृथक्करण की सामाजिक प्रक्रियाएँ
DISINTEGRATIVE SOCIAL PROCESSES

सामाजिक जीवन में एकीकरण तथा पृथक करने वाली दोनों ही सामाजिक प्रक्रियाएँ क्रियाशील रहती हैं। किस प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ समाज में क्रियाशील है, यह उस समाज विशेष के मूल्य, आदर्श, मान्यताओं एवं संस्कृति पर निर्भर करता है। फिर भी यह असंभव है कि किसी समाज विशेष में एक ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ क्रियाशील हों। सामाजिक व्यवस्था को ठीक से चलाने के लिए इन दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाओं में समन्वय आवश्यक है। समाजशास्त्र में इन प्रक्रियाओं का बहुत अधिक महत्व है।

प्रस्तुत अध्याय में उन मौलिक पृथक करनेवाली सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है जो सामाजिक जीवन को असंतुलित कर देती हैं।

प्रतिस्पर्धा
(COMPETITION)

प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रियाशील रहती है। मानव की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं परन्तु आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के साधनों के सीमित होने के कारण उसे प्राप्त

करने के लिए प्रतियोगिता अनिवार्य होती है। अतः प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों की ऐसी वस्तु को प्राप्त करने की होड़ है जो सीमित है और सभी को समान रूप में प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रतिस्पर्धा में संघर्ष का भय रहता है परन्तु उसे परम्परा, प्रथा तथा विधान द्वारा सदैव नियन्त्रित किया जाता रहता है।

प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त को सर्वप्रथम चार्ल्स डार्विन ने अपने सिद्धान्त की उपकल्पना 'जो जीने योग्य है वही जिएगा' (Survival of the fittest) में प्रतिपादित किया। इसके उपरान्त ऐडम स्मिथ तथा रिकार्डो आदि ने अर्थशास्त्र के अन्तर्गत इस सिद्धान्त का विकास किया। समाजशास्त्र में प्रतिस्पर्धा को वैज्ञानिक रुप देने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है।

परिभाषायें (Definitions)

प्रतिस्पर्धा के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषाएँ उल्लेखनीय हैं।

फेअर चाइल्ड के अनुसार, **"सीमित वस्तुओं के उपयोग या अधिकार के लिये किये जाने वाले परिश्रम को प्रतिस्पर्धा कहते हैं।"**[1]

सदरलैंड, वुडवर्ड एवं मैक्सवेल के मतानुसार, **"प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों या समूहों के बीच उस संतोष के लिये जिसे सीमित होने के कारण सब प्राप्त नहीं कर सकते, एक अवैयक्तिक अचेतन एवं निरन्तर संघर्ष है।"**[2]

बीसंज तथा बीसंज के शब्दों में, **"प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य उस समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होड़ है जो कि सीमित है और जिसके सभी भागीदार नहीं बन सकते।"**[3]

---

1. "Competition is the struggle for the use or possession of limited goods."
   —H. P. Fairchild : (*Ed.*) *Dictionary of Sociology.* (*1944*)
2. Competition is an impersonal, unconscious, continuous struggle between individuals or groups for satisfactions which, because of their limited supply, all may not have".
   —Sutherland, Woodward and Maxwell : *Introductory Sociology.*
3. "Competition is the striving of two or more persons for the same goal, which is limited so that all can not share it."
   —Biesanz and Biesanz : *Modern Society.*

बोगार्डस ने लिखा है, "प्रतिस्पर्धा उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास **है, जिसकी मात्रा आवश्यकता की पूर्ति के लिये पर्याप्त नहीं है।**"[4]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्धा किसी वस्तु को जो सभी को समान रुप से प्राप्त नहीं है को उपलब्ध करने के लिये किये गये परिश्रम को कहते हैं।

प्रतिस्पर्धा की प्रकृति
(Nature of Competition)

प्रतिस्पर्धा की प्रकृति के निम्नलिखित मुख्य लक्षण हैं :

(क) अचेतन प्रक्रिया (Unconscious Process) प्रतिस्पर्धा एक अचेतन प्रक्रिया है। उदाहरणस्वरुप भारतवर्ष में प्रतिवर्ष उच्च नौकरियों में हजारों व्यक्ति चुने जाते हैं। इन स्थानों को प्राप्त करने के लिये लाखों व्यक्ति परिश्रम करते हैं और उन्हें सभी परीक्षार्थियों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। यह बात जीवन के सभी सामाजिक क्षेत्र में लागू होती है। व्यक्ति अपने परिश्रम तथा उद्देश्य के प्रति चेतन होने के अलावा अन्य किसी बात से परिचित नहीं होता है। अतः प्रतिस्पर्धा की प्रकृति अचेतन होती है।

(ख) अवैयक्तिक प्रक्रिया (Impersonal Process) प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया का प्रमुख लक्षण है कि यह अवैयक्तिक होती है। सदस्यों का दूसरे प्रतियोगियों से वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं होता है। अतः उन्हें दूसरे प्रति-योगियों के प्रति कोई व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होता है। उनका उद्देश्य केवल लक्ष्य की प्राप्ति करना होता है। यदि सदस्यों का उद्देश्य लक्ष्य प्राप्ति से हट कर दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों पर आ जाता है तो प्रतिस्पर्धा व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा का रुप धारण कर लेती है। ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने उचित ही लिखा है, **"जब प्रतियोगिता की दिलचस्पी प्रतिस्पर्धा के उद्देश्यों से हटकर व्यक्ति-**

---

4. "Competition is a contest to obtain something which does not exist in a quantity sufficient to meet the demand."

—E. S. Bogardus : *Sociology*.

गत प्रतियोगियों पर टिक जाये तो वे प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। प्रतिद्वन्द्विता वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा है"[1]

(ग) निरन्तर प्रक्रिया (Continuous Process) प्रतिस्पर्धा एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज में निरन्तर चलती रहती है। प्रतिस्पर्धा से समाज में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से सदैव ही असन्तुष्ट रहता है तथा वह समाज में हमेशा उच्च स्थान पाने की लालसा रखता है। इसके लिये उसे निरन्तर प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है।

(घ) सार्वभौमिक प्रक्रिया (Universal Process) प्रतिस्पर्धा एक ऐसी प्रक्रिया है जो सार्वभौमिक रुप से सभी समाजों में पाई जाती है। हैमिल्टन के शब्दों में "(प्रतिस्पर्धा) केवल ऐसे अनार्थिक स्थान जैसे स्वर्ग में, अनुपस्थिति हो सकती है जहाँ पर स्वर्गवासी आवश्यकताओं से स्वतन्त्र हैं अथवा जहाँ पर प्रत्येक अच्छी वस्तु की अधिकता है।"[1]

आज ऐसा कोई भी समाज नहीं है जो अपने सदस्यों की प्रत्येक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता हो। इसीलिये प्रतिस्पर्धा प्रत्येक समाज में एवं सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहती है। इसीकारण इसे सार्वभौमिक प्रक्रिया कहा जाता है।

प्रतिस्पर्धा के प्रकार
(Types of Competition)

प्रतिस्पर्धा के दो प्रकार होते हैं :

(i) वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा (Personal Competition) वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा से तात्पर्य उस प्रतिस्पर्धा से है जो व्यक्तियों के बीच होती है।

---

1. "When there is a shift in interest from the objects of competition to the competitors themselves, rivalry results. Rivalry is personalized competition."
—Ogburn & Nimkoff : *Handbook of Sociology*.

1. "Only in such a non-economy as heaven, where celestials are free from wants or there is a surfeit of all good things can it be absent."
—Walton H. Hamilton : *Competition in Encylopaedia of the Social Sciences (Vol. IV)*

यह प्रतिद्वन्द्विता का ही एक रूप है। वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा में समाज में सदस्य एक दूसरे सदस्य के प्रति चेतन होते हैं।

(ii) **अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा** (Impersonal Competition) अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत सदस्य एक दूसरे सदस्य के प्रति प्रायः अचेतन होते हैं। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा में सदस्यों के दूसरे सदस्यों से सम्बन्ध अवैयक्तिक होते हैं। किसी नौकरी के लिये होने वाली प्रतियोगात्मक परीक्षा में विभिन्न परीक्षार्थियों के सम्बन्ध इसी प्रकार के होते हैं।

प्रतिस्पर्धा के स्वरूप
(Forms of Competition)

समाज में प्रतिस्पर्धा के अनेक स्वरूप पाये जाते हैं। गिलीन तथा गिलिन के अनुसार प्रतिस्पर्धा के मुख्यतः चार रुप होते हैं। (१) आर्थिक (२) सांस्कृतिक (३) भूमिका तथा स्थिति के लिये और (४) प्रजातीय। सामाजिक जीवन में प्रायः प्रतिस्पर्धा के निम्नलिखित रुप देखने को मिलते हैं :

(i) **आर्थिक प्रतिस्पर्धा** (Economic Competition) आर्थिक प्रतिस्पर्धा से तात्पर्य दो सदस्यों अथवा समूहों के मध्य आर्थिक वस्तुओं को प्राप्त करने की होड़ से है। भौतिकवादी समाजों (जैसे अमेरिका, इग्लैंण्ड आदि) में तो यह बहुत अधिक पाई जाती है।

(ii) **सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा** (Cultural Competition) समाज में दो या दो से अधिक सस्कृतियां विद्यमान होने पर उनके विश्वास, मान्यताएँ, धर्म आदि में पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा को सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

(iii) **राजनैतिक प्रतिस्पर्धा** (Political Competition) समाज में विभिन्न राजनैतिक दलों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के लिये की गई प्रतिस्पर्धा को राजनैतिक प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

(iv) **प्रजातीय प्रतिस्पर्धा** (Racial Competition) समाज में जब दो प्रजातियाँ स्वयं को श्रेष्ठ एवं दूसरी को नीचा दिखाने का प्रयास करती हैं तो उसे प्रजातीय प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष
Competition and Conflict)

प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष दोनों ही पृथक करने वाली मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं परन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक रूप से अन्तर है। पार्क तथा बर्गेस ने इनका अन्तर बहुत ही अच्छी प्रकार से बताते हुए कहा है, **"प्रतिस्पर्धा निरन्तर एवं वैयक्तिक होती है; संघर्ष समय-समय पर व्यक्तिगत रूप से होता है"** ।[1] संक्षेप में प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष में निम्नलिखित प्रकार से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है :

प्रतिस्पर्धा (Competition)	**संघर्ष** (Conflict)
१. प्रतिस्पर्धा सदस्यों अथवा दो समूहों के बीच अचेतन रूप से होती है।	१. संघर्ष सदस्यों अथवा समूहों के बीच चेतन रुप में होता है।
२. प्रतिस्पर्धा में सदस्यों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं।	२. संघर्ष में सदस्यों के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं।
३. प्रतिस्पर्धा एक निरन्तर (Continuous) प्रक्रिया है।	३. संघर्ष समय-समय (Intermittent) पर होता है।
४. प्रतिस्पर्धा का प्राथमिक उद्देश्य लक्ष्य प्राप्ति है।	४. संघर्ष का प्राथमिक उद्देश्य दूसरे सदस्य अथवा समूह को हानि पहुंचाना एवं लक्ष्य की प्राप्ति द्वैतीयक उद्देश्य होता है।
५. प्रतिस्पर्धा सामाजिक नियमों को ध्यान में रख कर उसके अनुसार ही की जाती है।	५. संघर्ष में सामाजिक नियमों को ध्यान नहीं दिया जाता है।
६. प्रतिस्पर्धा में हिंसा का प्रयोग नहीं किया जाता है।	६. संघर्ष में हिंसात्मक कार्यवाही की जाती है।
७. प्रतिस्पर्धा के कारण सभी सदस्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उचित परिश्रम करते हैं। सदस्यों	७. संघर्ष परिश्रम को कोई प्रोत्साहन नहीं देता है। संघर्ष में सदस्यों की प्रवृत्ति किसी न किसी प्रकार

1. Competition, however, is continuous and impersonal, conflict is intermittent and personal.'
Park and Burgess : *Introduction to the Science of Sociology*.

प्रतिस्पर्धा (Competition)	संघर्ष (Conflict)
की भावना हमेशा यह रहती है, कि "परिश्रम का फल सदैव मिलता है।" (Labour is always rewarded.)	अपने विरोधी को नष्ट करने की होती है।
८. प्रतिस्पर्धा सदस्यों की मानसिक योग्यता का परिचय है।	८. संघर्ष सदस्यों की मानसिक हीनता का परिचय है।
९. सामाजिक प्रगति के लिये प्रतिस्पर्धा आवश्यक है।	९. संघर्ष सामाजिक प्रगति के लिये हानिकारक है।
१०. प्रतिस्पर्धा नियन्त्रित होती है।	१०. संघर्ष अनियन्त्रित होता है।
११. प्रतिस्पर्धा से समाज में उत्पादन की वृद्धि होती है।	११. संघर्ष समाज में उत्पादन की वृद्धि करने में कभी भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्धा वह मौलिक सामाजिक प्रक्रिया है जो हमेशा सभी देश, काल, तथा परिस्थिति में किसी न किसी रुप में विद्यमान रहती है। इसका एक विशेष गुण है कि यह सदस्यों तथा समूहों को संघर्ष की ओर निर्देशित करती है। मान लीजिए दो दलों में हॉकी का मैच हो रहा है। परिणामस्वरुप दोनों ही दल एक दूसरे दल से द्वेष करना आरंम्भ कर देते हैं। इसी का नाम प्रतिद्वन्दिता (Rivarly) है। प्रतिद्वन्दिता की भावना के विकसित होते ही दोनों दल किसी न किसी प्रकार एक दूसरे दल पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। इसी को संघर्ष कहते हैं। बोगार्डस के अनुसार, **"तर्क की दृष्टि से प्रतिस्पर्धा का संघर्ष में विकसित हो जाना स्वाभाविक है।"**[1]

प्रत्येक प्रकार की प्रतिस्पर्धा में संघर्ष की भावना भले ही उसका अंश कम हो, अवश्य पाई जाती है। डेविस भी इसे स्वीकार करते हुए कहता है, **"इसलिये यह (प्रतिस्पर्धा) विरोध का एक परिवर्तित स्वरुप है।"**[2]

1. "Competition, logically, develops into conflict."
—Bogardus : *Sociology*.

2. "It (Competition) is thus a modified form of struggle."
—K. Davis : *Human Society*.

प्रतिस्पर्धा में संघर्ष की भावना, भले ही उसका अंश सूक्ष्म हो अवश्य ही निहित होती है। अतः संघर्ष की प्रकृति, स्वरुप आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

संघर्ष
(CONFLICT)

संघर्ष भी समाज की एक मौलिक प्रक्रिया है। प्रत्येक मानव समाज में इसे देखा जा सकता है। सहयोग के उपरान्त यह सामाजिक संगठन का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है। प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत सदस्यों तथा समूहों के मध्य पाये जाने सम्बन्ध अवैयक्तिक होते हैं तथा उनका प्राथमिक उद्देश्य लक्ष्य विशेष को प्राप्त करना होता है। परन्तु जब उनका ध्यान लक्ष्य प्राप्ति से हटकर सदस्यों के ऊपर आ जाता है तो उनके बीच प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो जाती है। एक सदस्य दूसरे सदस्य को किसी न किसी प्रकार पराजित करना चाहता है। परिणामस्वरूप उनके बीच वैमनस्य तथा विरोध की भावना तीव्र हो जाती है। वैमनस्य तथा विरोध की भावना अधिक तीव्र हो जाने पर वे एक दूसरे की हानि करने की चेष्टा करते हैं तथा अपने विरोधी के प्रति हिंसात्मक कार्यवाही आरम्भ कर देते हैं। यही संघर्ष है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है, जब दो सदस्य अथवा समूह एक दूसरे को कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने से रोकने का प्रयत्न हिंसात्मक ढंग से करते हैं, तो उसे संघर्ष कहते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

समाजशास्त्रियों ने संघर्ष की अनेक परिभाषाएँ दी हैं जिनमें से निम्न-लिखित प्रमुख हैं :

गिलिन तथा गिलिन के अनुसार, "**संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने ध्येयों की प्राप्ति का प्रयत्न विरोधी को सीधी हिंसा अथवा हिंसा की धमकी की चुनौती देकर करते हैं।**"[1]

1. "Conflict is the social process in which individuals or groups seek their ends by directly challenging the antagonist by violence or the threat of violence."
—Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*

ग्रीन के शब्दों में, "संघर्ष दूसरे अथवा दूसरों की इच्छा का जान-बूझकर किया गया विरोध है।"[1]

पार्क तथा बर्गेस के मतानुसार, "प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष दोनों ही विरोध के रूप हैं। प्रतिस्पर्धा एक निरन्तर एवं अवैयक्तिक प्रक्रिया है जब कि संघर्ष समय समय पर व्यक्तिगत रूप से होता है।"[2]

फिचर ने संघर्ष की परिभाषा इस प्रकार दी है, "संघर्ष पारस्परिक अन्तःक्रिया का वह रूप है. जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक दूसरे को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।"[3]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक तरफ जहाँ सहयोग की प्रक्रिया द्वारा समाज में एकीकरण स्थापित होता है, वहीं संघर्ष की प्रक्रिया ठीक इसके विपरीत कार्य करती है। अतः संघर्ष, सहयोग का पूर्ण रूप से विरोधी है।

समाज में संघर्ष की प्रक्रिया तभी अधिक क्रियाशील होती है जब दो सदस्यों अथवा समूहों के स्वार्थ अथवा हित एक दूसरे से इतने अधिक प्रतिकूल होते हैं कि उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना असंभव हो जाता है। समाज में केवल विरोधी दृष्टिकोण होने से ही संघर्ष नहीं होता है। समाज में संघर्ष का भय उसी स्थिति में होता है, जब सदस्य अथवा समूह निदिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये परस्पर विरोधी रीतियाँ अपनाना आरम्भ कर देते हैं। संघर्ष का अर्थ और भी अच्छी प्रकार से समझने के लिये उसकी प्रकृति पर विचार करना आवश्यक है।

---

1. "Conflict is fhe delibrate ,attempt to oppose, resist or coerce the will of another or others."
—A. W. Green : *Sociology.*
2. "Both competition and conflict are forms of struggle. Competition however, is Continuous and impersonal, conflict is intermittent and personal."
—Park and Burgess: *Introduction to the Science of Sociology*
3. "Conflict is that form of mutual interaction through which two or more persons attempt to remove each other, either by annibilating or by rendering the other party ineffectual."
—Joseph H. Fitcher

संघर्ष की प्रकृति
(Nature of Conflict

संघर्ष का विस्तृत अर्थ समझने के लिये संघर्ष की प्रकृति को भलि-भाँति समझ लेना आवश्यक है। संक्षेप में संघर्ष की प्रकृति के निम्नलिखित मुख्य लक्षण हैं :

(i) **चेतन प्रक्रिया** (Conscious Process) संघर्ष समाज की एक चेतन प्रक्रिया है। संघर्ष में प्रत्येक प्रतिद्वन्दी अपने निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने के साथ-साथ अपने विरोधी का जिसके बारे में उसे पूर्ण ज्ञान होता है, हानि करने का प्रयास करता है। प्रतिस्पर्धा में सदस्यों का ध्यान अपने निर्द्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति पर होता है परन्तु संघर्ष में प्रतिद्वन्द्वियों का ध्यान प्रायः निर्दिष्ट लक्ष्यों से हट कर अपने विरोधी पर केन्द्रित हो जाता है और उनमें तीव्र उद्वेग उत्पन्न होने लगते हैं। पार्क तथा बर्गेस के अनुसार, **'संघर्ष अति तीव्र उद्वेग और अत्याधिक शक्तिशाली उत्तेजना को जागृत कर देता है एवं ध्यान तथा प्रयत्न को अत्याधिक एकाग्रचित कर देता है"**।[1]

(ii) **वैयक्तिक प्रक्रिया** (Personal Process) संघर्ष की प्रक्रिया वैयक्तिक होती है। संघर्ष में प्रतिद्वन्द्वियों का ध्यान अपने निर्दिष्ट लक्ष्यों एवं उद्देश्यों से हट कर व्यक्तियों पर आ जाता है। प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानता है और उसको हानि पहुंचाना अथवा सदा के लिये समाप्त कर देने का प्रयास करता है।

(iii) **समय-समय पर होने वाली प्रक्रिया** (Intermittent Process) संघर्ष की प्रक्रिया प्रतिस्पर्धा की भाँति निरन्तर न होकर समय-समय पर होने वाली या अस्थायी होती है। समाज में संघर्ष थोड़े समय के लिये रहता है फिर कुछ समय के लिये रुक जाता है और ततपश्चात फिर आरम्भ हो जाता है। संघर्ष के लिये अत्याधिक धन, परिश्रम, शौर्य आदि की आवश्यकता होती है परन्तु इनकी भी कुछ सीमा होती है। अतः इन वस्तुओं

1. "Conflict······evokes the deepest emotion and strongest passions and enlists the greatest concentration of attention and of effort".
—R. E. Park and E. W. Burgess : *Introduction to the Science of Sociology*.

तथा शक्तियों के ह्रास होते ही प्रतिद्वन्द्वियों को संघर्ष रोकना पड़ता है। कुछ समय पश्चात् वे इन उपकरणों को फिर से प्राप्त कर लेते हैं और संघर्ष आरम्भ करते हैं। अतः स्पष्ट है कि संघर्ष की प्रक्रिया समाज में निरन्तर रूप से कभी भी नहीं बनी रह सकती है। कुछ समय के लिये संघर्ष को समाज में अनिवार्य रूप से समाप्त होना पड़ता है।

(ii) सार्वभौमिक प्रक्रिया (Universal Process) संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। सभी समाजों में इसकी प्रक्रिया गतिशील रहती है। समाज में सदस्यों अथवा समूहों के हितों और स्वार्थों के टकराने पर संघर्ष उत्पन्न होता है। यद्यपि सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधन संघर्ष को रोकने का प्रयत्न करते हैं लेकिन संघर्ष को पूर्ण रूप से रोकने में वे भी असफल हो जाते हैं। वर्तमान समय में सभी समाज भौतिक रूप से उन्नतिशील होने के लिये विशेष रूप से जागरूक हैं। इस कारण व्यक्तिवाद तेजी से बढ़ रहा है। समाज में बढ़ते हुए संघर्ष इस व्यक्तिवाद का ही परिणाम है। संभवतः इसी कारण संघर्ष की प्रक्रिया प्राचीन समय की अपेक्षा वर्तमान समय में अधिक मात्रा एवं विभिन्न रूपों में सभी समाजों में क्रियाशील है।

संघर्ष के प्रकार
(Types of Conflict)

समाज में संघर्ष विशेषतः दो प्रकार का पाया जाता है—वैयक्तिक तथा सामूहिक।

(क) वैयक्तिक संघर्ष (Personal Conflict) समाज में रहने वाले सदस्यों के मध्य पाया जाने वाला संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष कहलाता है। समाज को इस प्रकार के संघर्ष से सदैव हानि होती है। अतः वह हमेशा अनेक उपकरणों द्वारा ऐसे संघर्ष को रोकने का प्रयत्न करता है।

(ख) सामूहिक संघर्ष (Corporate Conflict) सामूहिक संघर्ष से तात्पर्य उस संघर्ष से है जो वैयक्तिक न होकर विभिन्न समूहों अथवा समाजों के मध्य पाया जाता है। जिस प्रकार एक समाज में रहने वाले विभिन्न समूह अपने स्वार्थों के लिये संघर्ष करते हैं उसी प्रकार एक समाज भी कभी-कभी दूसरे समाज से संघर्ष करता है।

कभी-कभी कुछ समस्याओं को लेकर एक समाज को दूसरे समाज से संघर्ष करना होता है। इसे युद्ध कहते हैं। युद्ध का सामूहिक रुप से सभी

सदस्यों पर प्रभाव पड़ता है। इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। बीसंज तथा बीसंज भी इस बात को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, "**फिर भी अधिक संघर्ष विनाशकारी होता है और जितनी समस्याओं को सुलझाता है उससे कहीं अधिक समस्याओं को जन्म देता है।**"[1] यह सत्य है कि युद्ध के परिणाम बड़े ही भयावह होते हैं परन्तु इससे समूह के अन्दर सामूहिक चेतना तथा सामूहिक समानता बढ़ती है। ग्रीन के अनुसार, "**युद्ध सामूहिक चेतना तथा सामूहिक समानता को बढ़ाता है।**"[2]

संघर्ष के स्वरूप
(Forms of Conflict)

समाज में व्यक्तिगत एवं सामूहिक संघर्ष के अतिरिक्त भी यह विभिन्न रुपों में देखने को मिलता है। समाज के साथ-साथ संघर्ष का रुप भी समाज में परिवर्तित होता रहता है। समाज में संघर्ष के निम्नलिखित स्वरूप विशेष रूप से पाये जाते हैं :

(१) **प्रत्यक्ष संघर्ष** (Direct Conflict) प्रत्यक्ष संघर्ष से अर्थ उस संघर्ष से है जिसके अन्तर्गत सदस्य अपने विरोधियों के लिये प्रत्यक्ष रुप से इस प्रकार के कार्य करते हैं कि वे अपने लक्ष्यों को न प्राप्त कर सकें। युद्ध, दलगत संघर्ष, साम्प्रदायिक दंगे, सदस्यों में परस्पर मार-पीट एवं हत्या आदि प्रत्यक्ष संघर्ष के अन्तर्गत ही आते हैं।

(२) **अप्रत्यक्ष संघर्ष** (Indirect Conflict) जब सदस्य अपने विरोधियों के मार्ग में अप्रत्यक्ष रुप से विघ्न डालने का प्रयत्न करते हैं तो उसे अप्रत्यक्ष संघर्ष कहते हैं। समाज में अनियन्त्रित प्रतिस्पर्धा भी अप्रत्यक्ष संघर्ष है। अप्रत्यक्ष संघर्ष विरोधियों में परस्पर शत्रुता से आरंम्भ होता है।

(३) **प्रजातीय संघर्ष** (Racial Conflict) समाज में व्यक्तियों को शारीरिक लक्षण एवं जन्मगत गुणों के आधार पर अनेक प्रजातियों में विभक्त किया जाता है। समाज इनमें से कुछ जातियों को श्रेष्ठ मानता है

1. "Much conflict, however, is destructive and breeds more problems that it solves."
—Biesanz and Biesanz : *Moderno Sciety.*

2. "War heightens group awareness and identify"
—A. W. Green : *Society.*

और कुछ को हीन। फलस्वरुप समाज में विभिन्न प्रजातियों में श्रेष्ठता एवं हीनता को लेकर अनेक संघर्ष होते हैं। अमेरिका में अभी हाल में ही जो श्वेत तथा स्वर्ण के बीच संघर्ष हुए हैं, प्रजातीय संघर्ष का उत्तम उदाहरण है।

(४) **आर्थिक संघर्ष** (Economic Conflict) आर्थिक संघर्ष सभी समाजों में देखने को मिलते हैं। प्रायः समाज में आवश्यकता के अनुपात में साधन सीमित होते हैं। अतः आर्थिक वस्तुओं को प्राप्त करने में हुए संघर्ष को आर्थिक संघर्ष की संज्ञा दी जाती है।

(५) **वर्ग संघर्ष** (Class Struggle or Conflict) वर्ग संघर्ष से तात्पर्य उस संघर्ष से है जो समाज के दो वर्गों के मध्य पाया जाता है। समाज में मध्यम एवं उच्च वर्ग अथवा पूंजी-पतियों तथा मजदूरों के बीच संघर्ष वर्ग संघर्ष का उदाहरण है। समाज में सदैव ही उत्पादन के दृष्टिकोण से दो वर्ग विद्धमान रहे हैं। इन वर्गों के स्वार्थ भी भिन्न होते हैं। इस कारण इन दोनो वर्गों में हमेशा संघर्ष होता रहता है।

वर्ग संघर्ष को सैद्धान्तिक रुप प्रदान करने का श्रेय विश्व के महान चिन्तक कार्ल मार्क्स को है। मार्क्स के अनुसार समाज में दो वर्ग बुर्जुआ तथा सर्वहारा होते हैं। बुर्जुआ वर्ग वह है जिसके पास उत्पति के साधन हैं और सर्वहारा वर्ग के पास श्रम है। बुर्जुआ वर्ग हमेशा सार्वहारा वर्ग का आर्थिक शोषण करता है। परिणामस्वरुप इन दोनों ही वर्गों में संघर्ष होता मार्क्स के अनुसार है। यह संघर्ष उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सर्वहारा वर्ग, बुर्जुआ वर्ग पर अपना स्वामित्व स्थापित नहीं कर पाता है।

(६) **राजनैतिक संघर्ष** (Political Conflict) प्रायः एक समाज में विभिन्न राजनैतिक दल रहते हैं। यद्धपि सभी राजनैतिक दलों का उद्देश्य राष्ट्र को समृद्धशाली बनाना होता है, परन्तु शासक राजनैतिक दल से प्रत्येक दूसरे राजनैतिक दल का संघर्ष होता रहता है। अतः विभिन्न राजनैतिक दलों में पाया जाने वाला संघर्ष राजनैतिक संघर्ष कहलाता है।

(७) **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष** (International Conflict) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष से तात्पर्य उस संघर्ष से है जिसमें एक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दूसरे राष्ट्र का विरोध करता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कभी-कभी युद्ध में भी परिणित हो जाता है जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संघर्ष एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो सभी समाजों में और सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। सामाजिक संरचना पर संघर्ष की इन प्रक्रियाओं के प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। जिन समाजों में यह संघर्ष प्रत्यक्ष होता है वहाँ अनेक विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाज में अनेक प्रकार के विघटनकारी तत्व उत्पन्न होने लगते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप समाज में पृथकता का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। समाज का प्रतिमानित स्वरूप बनाए रखने के लिए इस बढ़ती हुई पृथकता को नियंत्रित करना नितान्त आवश्यक है।

प्रतिकूलता
(CONTRAVENTION)

समाज में प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया के क्रियाशील होने के साथ-साथ एक और सामाजिक प्रक्रिया क्रियाशील रहती है जिसे प्रतिकूलता कहते हैं। इसे न तो पूर्ण रूप से संघर्ष कहा जा सकता है और न ही प्रतिस्पर्धा। वस्तुतः यह प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के बीच की एक स्थिति है। इससे एक विशेष प्रकार के विरोध का बोध होता है। यह विरोध व्यक्ति की निर्णायक शक्ति को प्रभावित करता है। ये ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें मनुष्य संघर्ष के योग्य तो नहीं होता, साथ ही साथ उसमें प्रतिस्पर्धा की भी क्षमता नहीं होती है। अतएव प्रतिकूलता मनुष्य को सदैव अनिश्चितता की ओर खींचती रहती है। प्रतिकूलता की नीचे दी गयी प्रकृति से इसके मुख्य लक्षणों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है।

प्रतिकूलता की प्रकृति
(Nature of Contravention)

प्रतिकूलता की प्रकृति के दो प्रमुख लक्षण हैं :

(क) प्रतिकूलता की प्रकृति का प्रथम लक्षण यह है कि इसमें व्यक्ति किसी भी विषय पर निश्चित धारणा बनाने में असफल रहता है। वह हमेशा दुविधा की स्थिति में रहता है। जैसे किसी व्यक्ति या कार्य-क्रम के बारे में यह निर्णय न हो पाना कि वह उचित है अथवा अनुचित।

(ख) प्रतिकूलता का दूसरा लक्षरण यह है कि व्यक्ति के अन्दर किसी कार्य-क्रम अथवा समूह के बारे में अप्रत्यक्ष घृणा (Latent or Covert Hatred) उत्पन्न हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अन्य व्यक्तियों और कार्यक्रमों के प्रति अनेक प्रकार की शंकाओं से ग्रसित होने लगता है। ऐसे व्यक्तिओं का समाज की अधिकतर प्रक्रियाओं में उपेक्षित व्यवहार देखने को मिलता है।

उपरोक्त दोनों दशाओं के कारण व्यक्ति सदैव ही दुविधा एवं शंका की स्थिति में रहता है। परिणामस्वरुप प्रतिकूलता न तो प्रतिस्पर्धा का ही रूप धारण करती है और न ही संघर्ष का। फिर भी यह एक प्रकार का संघर्ष ही है जो अप्रत्यक्ष संघर्ष से बहुत कुछ समानता रखता है। इसी कारण कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे एक मौलिक सामाजिक प्रक्रिया की संज्ञा दी है।

प्रतिकूलता के स्वरुप
(Forms of Contravention)

वीसे तथा बेकर[1] के अनुसार प्रतिकूलता के निम्नलिखित तीन प्रमुख स्वरुप हैं।

(अ) पीढ़ियों की प्रतिकूलता (Contravention of Generations) इस प्रकार की प्रतिकूलता दो पीढ़ियों के मध्य देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये आधुनिक समय के युवक अपने से बड़ों के विचारों को पसन्द नहीं करते। वे इन्हें शंका की दृष्टि से देखते हैं और उनके विचारों को पुराने विचार (out dated) समझते हैं। इसी प्रकार वृद्ध भी नव-युवकों को पथभ्रष्ट एवं आस्तिक समझते हैं।

(ब) लिंगों की प्रतिकूलता (Contravention of Sexes) दो विषम लिंगी व्यक्तियों में इस प्रकार की प्रतिकूलता देखने को मिलती है। जैसी स्त्री-पुरुष में। दोनों ही एक दूसरे को दुविधा की दृष्टि से देखते हैं।

(स) संसदीय प्रतिकूलता (Parliamentary Contravention) संसदीय प्रतिकूलता से तात्पर्य उस प्रतिकूलता से है जो संसदीय शासन प्रणाली में बहुमत तथा अल्पमत के मध्य देखने को मिलती है। उदाहरण स्वरुप भारत की लोक सभा में कांग्रेस दल का बहुमत है। अन्य राजनैतिक

1. Leopold Wiese and Howard Becker : *Systematic Sociology*.

दल अल्पमत में है । अतः वे हमेशा दुविधा में रहते हैं । इसी कारण अल्पतम वाले राजनैतिक दल बहुमत वाले राजनैतिक दल का विरोध करते हैं ।

प्रतिकूलता के उपरोक्त स्वरूपों से यह तो स्पष्ट है कि यह समाज में पृथक करने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया है परन्तु इसकी प्रकृति के लक्षण संघर्ष के समान स्पष्ट नहीं है । फिर भी प्रतिस्पर्धा के समान इसके लक्षण अस्पष्ट भी नहीं हैं ।

Selected Readings

1. Biesanz and Biesanz : Modern Society.
2. E. S. Bogardus : Sociology.
3. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
4. A. W. Green : Sociology.
5. Park and Burgess : Introduction to the Science of Sociology.
6. MacIver and Page: Society.

Questions

१. सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा कीजिए । प्रतिस्पर्धा को एक प्रक्रिया के रूप में समझाइये ।
Define social process. Explain competition as a process.

२. आधुनिक समाज प्रतियोगिता मूलक है । सिद्ध कीजिए ।
Modern society is competitive. Justify.

३. प्रतिस्पर्धा का समाजशास्त्रीय महत्व दर्शाइये । प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में क्या भेद है ?
Show the sociological importance of competition. What is the distinction between competition and conflict ?

४. प्रतियोगितात्मक समाज के प्रमुख लक्षणों का विश्लेषण कीजिए ।
Analyze the main fealures of a competitive society.

५. संघर्ष के समाजशास्त्रीय महत्व को बतलाइए।
Bring out the sociological importance of conflict.

६. सहयोग संघर्ष और प्रतिस्पर्धा में भेद कीजिए। क्या प्रतिस्पर्धा संघर्ष का एक प्रकार है ?
Distinguish between co-operation, conflict and competition. Is competition a form of conflict ?

द्वितीय खण्ड

विषयक्रम

अध्याय ७

सामाजीकरण
(SOCIALIZATION)

मानव सभ्यता के आरम्भ से ही माता-पिता के समक्ष यह समस्या रही है कि वे अपने बालकों का लालन-पालन किस प्रकार करें कि वे बड़े होने पर समाज के योग्य एवं उत्तरदायित्व पूर्ण सदस्य बन सकें। बालकों के सामाजीकरण या लालन-पालन की समस्या सभी देशों, समाजों तथा जातियों के सन्मुख आरम्भ से ही रही है एवं वर्तमान में भी मौजूद है। अतः सामाजीकरण की समस्या बहुत ही पुरानी एवं व्यापक है।

सामाजीकरण की समस्या के व्यापक होते हुए भी सभी समाजों के व्यक्तियों का सामाजीकरण एक सा नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी समाजों की सामाजिक-सांस्कृतिक सरंचना एक सी नहीं होती है और न ही उनके आदर्श और मूल्य समान और सर्वव्यापक हुआ करते हैं। एक सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण में विकसित व्यक्तित्व दूसरे पर्यावरण में विकसित व्यक्तित्व के समान नहीं हो सकता है। इस असमानता का कारण विभिन्न समाजों में अनेक प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं का क्रियाशील होना है। जैसी किसी समाज विशेष की रुढ़ियाँ, मान्यताएँ और प्रथाएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उसके सदस्यों का सामाजीकरण होता है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में यदि कोई भिन्नता है तो वह व्यवहार सम्बन्धी भिन्नता है। मनुष्य अपने व्यवहार से ही अन्य प्राणियों से भिन्न

माना जाता है। वह समाज में रहकर समाज के लोकाचार सीखता है और समाज में प्रचलित व्यवहार के तरीकों को सीखना ही व्यक्ति का सामाजीकरण है। सामाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को समाज का एक योग्य एवं उत्तरदायी सदस्य बनाती है तथा उसे अन्य समूहों में भाग लेने के योग्य बनाती है।

(सामाजीकरण की आवश्यकता)
The Need of Socialization

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य एवं अन्य प्राणियों में मूलरूप में कोई भेद नहीं है। यदि उनमें कोई भेद है तो वह व्यवहार सम्बन्धी भिन्नता है। मनुष्य के व्यवहार ही उसे समाज में अन्य प्राणियों से अलग करते हैं। मनुष्य इन व्यवहारों को समाज में सामाजीकरण की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा सीखता है और अपना आचरण समाज के मानदण्डों के अनुरूप बनाता है। मनुष्य समाज के शिष्टाचार आदि तभी सीख सकता है जब वह समाज के अन्दर रहे। समाज के बाहर रहने से वह केवल पशु ही रहेगा और उसके लिए मानवीय व्यवहारों को सीखना असंभव होगा। अतः सामाजीकृत व्यक्ति बनने एवं मानवोचित् गुणों को सीखने के लिये व्यक्ति का समाज में रहना अनिवार्य है।

व्यक्ति के विकास के लिये सामाजीकरण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर उन मानवों के उदाहरणों से उचित प्रकार से दिया जा सकता है जिनका किन्हीं कारणो से जन्म के बाद समाज में रहने का अवसर प्राप्त न होने के कारण सामाजीकरण नहीं हो सका। इस प्रकार के मानवों का वर्णन गेसेल ने अपनी पुस्तक के 'वूल्फ चिल्ड्रन एण्ड ह्यूमन चाइल्ड' (Wolf Children and Human Child) तथा किंग्सले डेविस ने अपने लेखों में किया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मानवों के उदाहरण उल्लेखनीय हैं:

(१) कास्पर हॉसर (Kasper Hauser) नामक एक सत्रह वर्षीय बालक सन् १९३८ में नूरेम्बर्ग में पकड़ा गया। किन्हीं कारणों से वह बहुत ही छोटी अवस्था से समाज में नहीं रह सका था। उस बालक को सीधे खड़े होने में भी कठिनाई होती थी। उसे भाषा का बिलकुल ही ज्ञान

न था और उसकी बुद्धि केवल एक छोटे बालक के समान थी। उसका व्यवहार बड़ा ही विचित्र था। बेजानदार चीजों को वह प्रायः जानदार समझ लेता था और उनसे जानदार जैसा व्यवहार करना आरम्भ कर देता था। कुछ वर्षों बाद इस बालक की हत्या करके शव परीक्षा की गई। शव-परीक्षा की रिपोर्ट से यह ज्ञात हुआ कि मानसिक रूप से वह अन्य बालकों की तुलना में अत्यन्त ही हीन था। यहाँ एक बात कह देनी आवश्यक है कि हॉसर की मानसिक हीनता का कारण जन्मगत नहीं था। समाज से अलग रहने के कारण ही उसका मानसिक विकास उचित रूप से नहीं हो सका था।

(२) हॉसर के समान ही एक दूसरा उदाहरण फ्रांस के अवेरान (Aveyron) नामक जंगल से प्राप्त बालक का है। उसका व्यहार जंगली पशुओं के समान था। उसे न तो बोलना ही आता था और न ही कुर्सी पर बैठना। वह भोजन जंगली पशुओं के समान करता था। पीनेल (Pinel) नामक फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक ने उसे जड़बुद्धि की संज्ञा दी, क्योंकि ग्यारह वर्ष का बालक होने के उपरान्त भी उसकी बुद्धि केवल एक या दो वर्ष के बालक के समान थी। परन्तु ईतार्द ने पीनेल की बात स्वीकार नहीं की। उसका कहना था कि जड़-बुद्धि होने पर तो उस बालक के लिए जंगल में जीवित रहना ही मुश्किल था। अतः ईतार्द ने उस बालक का पालन-पोषण किया। उसे स्नान कराया जाता था एवं पहनने के लिए वस्त्र दिये जाते थे। कुछ समय पश्चात वह ऋतुओं (Season) में भेद समझने लगा तथा दूसरी बातों को भी धीरे-धीरे समझने लगा। बहुत प्रयत्नों के बाद भी वह बोलना नहीं सीख सका, केवल किसी प्रकार संकेत की भाषा प्रयोग करना सीख गया।

उपरोक्त बालक के उदाहरण से एक बात यह स्पष्ट है कि यदि बालक का किसी कारण आरम्भ में समाज में रहना संभव न हो सके तो उसका मानव बनना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ईतार्द के शब्दों में, **"विक्टर ने एक जंगली से यह सीखा कि किस प्रकार मानव समाज में रहना एवं साधारण इच्छाओं को किस प्रकार लिखित भाषा में व्यक्त करना चाहिए; परन्तु उसने अन्य समवय बालकों से कभी योग्यता में समानता नहीं की। बचपन में मानव समाज की कमी ने बालक में इतनी अधिक**

रुकावटें पैदा कर दी कि इतने बड़े प्रयत्नों के उपरान्त भी इतना कम फल प्राप्त हुआ।"[1] ४० वर्ष की अवस्था में विक्टर की मृत्यु हो गई।

(३) इसी प्रकार का एक उदाहरण दो भारतीय बालिकाओं का भी है। सन् १९२० में अमला एवं कमला दो बालिकाओं को भेड़िये की मांद से प्राप्त किया गया। उस समय उनकी उम्र क्रमशः ८ एवं १½ वर्ष थी। अमला की मृत्यु तो कुछ समय पश्चात हो गई परन्तु कमला ९ वर्षों तक जीवित रही।

आरम्भ में कमला में सभी मानवोचित गुणों का अभाव था। वह चलने में अपने चारों हाथों-पैरों का प्रयोग करती थी। वह दिन के समय चुपचाप पड़ी रहती थी, परन्तु रात में घूमा करती थी। वह कच्चा मांस खाती थी तथा भेड़िये के ही समान दूध पीती थी। मनुष्यों से वह दूर ही रहने का प्रयत्न करती थी। उसे ९ वर्षों की अवधि में बड़ी ही सावधानी एवं सतर्कतापूर्वक कुछ प्रारम्भिक बातों को सिखाया गया। बहुत ही प्रयत्नों से उसे केवल ४५ शब्द ही सिखाये जा सके। सन् १९२९ में १७ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

(४) अन्ना (Anna) नामक एक बालिका का उदाहरण भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। अमेरिका के एक नगर के एक बन्द कमरे से उसे सन् १९३८ में प्राप्त किया गया। संभवतः अवैध बच्चा (illegitimate child) होने के कारण उसकी मां ने उसे एक कमरे में बन्द कर दिया था। उसके ५ वर्षों के एकान्तवास में उसे दूध के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया गया और न ही उसे किसी अन्य प्राणी से मिलने दिया गया। परिणामस्वरूप उसमें मानवोचित गुणों का बिलकुल ही विकास नहीं हो पाया। अन्ना का शरीर केवल हड्डियों का एक ढाँचा मात्र था। उसे न तो बोलना ही आता था और न ही वह चल फिर सकती थी। उसमें मानवोचित गुणों का विकास

---

1. "From a wild Savage Victor learnt how to live in human society and even to express some of his simplest wants in written language; but he never equalled the ability of other boys of his age. The lack of human society in early childhood had retarded the boy so much that it look a gigantic effort to produce so little."

—Itard : *The Wild Boy of Aveyron*

करने के लिए बहुत ही सावधानीपूर्वक लालन-पालन किया गया। सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के कारण अन्ना की दशा में सुधार हुआ। उसने बहुत शीघ्र अन्य साधारण बालकों के समान खाना-पीना एवं बात करना सीख लिया। उसने रंगों की पहचान और चित्रों में भेद करना भी सीख लिया। इस अभागी बालिका की सन् १९४२ में मृत्यु हो गयी।

(५) हमारे देश में अभी हाल में ही कुछ असमाजीकृत बालकों के उदाहरण मिले हैं। रामू नामक बालक शैशवावस्था में ही अपने माता-पिता से अलग हो गया था। उसका पालन-पोषण किसी जंगली पशु ने किया था। सन् १९५४ में इस बालक को लखनऊ के एक अस्पताल में रक्खा गया। १९५६ में परशुराम नामक बालक को भी कुछ शिकारी भेड़िये से छीन लाये थे। उसे आगरा के एक अस्पताल में रक्खा गया। इन दोनों ही बालकों में किसी भी मानवोचित गुणों का विकास नहीं हुआ था। उनकी आदतें, व्यवहार सभी कुछ जानवरों जैसा था। अनेक प्रयत्नों के बाद भी ये बच्चे अपने समव्यस्क बच्चों के समान नहीं हो पाये।

रामू की अभी कुछ माह पूर्व ही मृत्यु हुई है।

जंगली बालकों के उपरोक्त उदाहरणों से सामाजीकरण की व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यकता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति में मानवोचित गुणों का विकास करने के लिए उसका सामाजीकरण अनिवार्य होता है। व्यक्ति का विकास बिना अपनी संस्कृति को सामाजीकरण के माध्यम से सीखे हुए असंभव है। व्यक्ति में 'स्व' का विकास केवल सामाजीकरण के ही कारण होता है। व्यक्ति के सामाजीकरण की समस्या बड़ी ही मिश्रित एवं पेचीदा है तथा किसी भी मानव समाज में इसे पूर्णतया हल नहीं किय जा सका है। किंग्सले डेविस के शब्दों में, **"सामाजीकरण का विकास मानव प्रकृति एवं समाज के भावी परिवर्तनों को अत्याधिक संभावनाएँ प्रदान करता है।"**[1]

परिभाषायें (Definitions)

सामाजीकरण को विद्वानों ने अनेक ढंग से परिभाषित किया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख परिभाषायें अगले पृष्ठ पर उद्धृत हैं।

1. "The improvement of socialization offers one of the greatest possibilities for the future alteration of human nature and human society" —*K. Davis*.

चाइल्ड के अनुसार, " **सामाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके आधार पर बच्चे अपने समाज के योग्य एवं अच्छे नागरिक बनते हैं।"**

लापियर (Lapiere) व्यक्ति में मानवीय गुणों के विकास को उसका सामाजीकरण मानता है। मनुष्य मूलरुप से पशु, स्वार्थी एवं पाशविक होता है। मनुष्य के इस पाशविक मूलस्वभाव में परिवर्तन होने पर ही वह मानव बनता है। अतः लापियर का कथन ठीक ही है कि, **"मानव की पाशविक प्रवृति में परिवर्तन को ही सामाजीकरण कहा जा सकता है।"**

जॉनसन के मतानुसार, "**सामाजीकरण एक सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।"**[1]

किम्बाल यंग की परिभाषा भी जॉनसन की परिभाषा से मिलती-जुलती है। यंग के अनुसार, "**सामाजीकरण..........का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक संसार में प्रवेश करता है; जिससे वह समाज का और उसके विभिन्न समूहों का सदस्य बन जाता है और जो उसे उस समाज की मान्यताओं को स्वीकार करने को प्रेरित करती है।"**[2]

अकोलकर के शब्दों में, "**सामाजीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति लोकसम्मत व्यवहार के स्वरुप को अपनाता है।"**[3]

1. "Socialization is learning that enables the learner to perform social roles."

—H. M. Johnson : *Sociology.*

2. "Socialization......will mean the process of inducting the individual into the social and cultural world; of making him a participant member in society and its various groups and inducing him to accept the norms and values of that society".

—K. Young : *A Handbook of Social Psychology.*

3. "The process of adoption by the individual of the conventional patterns of behaviour is described as his socialization".

—V. V. Akolkar : *Social Psychology.*

गिलिन और गिलिन ने लिखा है, "सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का एक क्रियात्मक सदस्य बन जाता है; समूह के स्तर के अनुसार कार्य करता है तथा उसके लोकाचार परम्परा और सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना समन्वय स्थापित करता है।"[1]

हुलियलकर तथा अन्य के अनुसार, "सामाजीकरण का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति समाज व्यवस्था की अनुभूति करने लगता है; वह अनुभव करता है कि उसे आत्म केन्द्रित विचारों एवं व्यवहारों को छोड़ देना चाहिए; उसे इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि दूसरे लोग स्वीकार कर सकें; इसमें प्रतिशोध की अपेक्षा सहयोग का तत्व निहित होता है और दूसरे लोगों के व्यक्तित्व के प्रति पारस्परिकता और आदर निहित होता है।"[2]

बोगार्डस के मतानुसार, "सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोग मानव कल्याण के लिये एक दूसरे पर निर्भर होकर व्यवहार करना सीखते हैं और ऐसा करने में सामाजिक आत्म नियन्त्रण, सामाजिक उत्तरदायित्व और सन्तुलित व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं।"[3]

1. "By the term socialization......we mean the process by which the individual develops into a functioning member of the group acting according to its standards, conforming to its modes, observing its traditions, and adjusting himself to the social situations he meets sufficiently well to command the tolerence if not admiration of his fellows."

—Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*.

2. "The essence of socialization is this, the individual comes to realize that there is a social order; that he must give up his ego-centred thinking and behaviour; that he must learn so to behave that others approve of his ways; it also involves an attitude of co-operation rather than aggression; and a sense mutuality and respect for other peoples personality.

—Huliyalkar and others.

3. Socialization is the process whereby persons learn to behave dependably together on behalf of human welfare and, in so doing, experiences social self control, social responsibilities and belanced personalities",

—E. S. Bogardus : *Sociology*.

विद्वानों की दी गई परिभाषाओं का सामाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जो व्यक्ति को समाज के अनुरुप बनाती है। किम्बाल यंग ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "**इसका (सामाजीकरण) अर्थ है कि व्यक्ति उन जनरीतियों, रुढ़ियों, नियमों तथा अपनी (समाज की) संस्कृति के लक्षणों, कुशलताओं और अन्य आदतों को सीखता है, जो उसे समाज का एक क्रियाशील सदस्य बनाती हैं। वह अपने स्वयं, परिवार, पड़ोस, वर्ग, तथा समुदाय के उद्देश्यों तथा मूल्यों से आत्मसात करना सीखता है।............संक्षेप में, सामाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया अन्तःक्रियाओं या सामाजिक कार्यों के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है।**"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजीकरण से अर्थ उन प्रक्रियाओं के सीखने से है जो व्यक्ति को समाज के मानित लक्ष्यों को प्राप्त करने के योग्य बनाती है। ये प्रक्रियाएँ व्यक्ति को जीवनपर्यन्त प्रभावित करती रहती हैं; और व्यक्ति का समाज के साथ अभियोजन स्थापित करती रहती हैं। व्यक्ति इन प्रक्रियाओं को सीखने के साथ-साथ समाज के समूह के साथ अपना आत्मसात करने लगता है। यही व्यक्ति का सामाजीकरण है।

सामाजीकरण और सीखने की प्रक्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु इन दोनों में थोड़ा अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

सामाजीकरण और सीखना
(Socialization and Learning)

यद्यपि सामाजीकरण का सीखने की प्रक्रिया से घनिष्ट सम्बन्ध है परन्तु प्रत्येक प्रकार का सीखना सामाजीकरण नहीं है। जॉनसन ने इस सम्बन्ध

---

1. It means that the individual learns the folk ways, mores, laws, and other features of his culture, as well as skills and other necessary habits which enable him to become a functioning member of society. He learns to identify himself with the aims and values of his family, neighbourhood, class and community.......In short, the whole process of socialization fall within the scope of interaction or the social act".

K. Young : *A Handbook of Social Psychology*.

में कहा है कि, "**सम्पूर्ण सीखना सामाजीकरण नहीं होता है; यह माना जाता है कि कुछ सीखना संप्रेरणाओं के लिये और सामाजिक व्यवस्थाओं में भाग लेने के लिए आवश्यक योग्यता है।**"[1]

सामाजीकरण समाज में प्रचलित मूल्यों, आदर्शों एवं मान्यताओं का एक निश्चित दिशा में सीखना है। जॉनसन ने इस सन्दर्भ में लिखा है, "**सामाजीकरण वह सीखना है जो किसी विशेष दिशा और गुण में होता है एवं सामाजिक कार्यों के करने की किसी की योग्यता में सहायक होता है, कुछ सामाजिक व्यवस्था के विचार से यह सीखना इच्छित एवं अभिलाषा-युक्त होता है।**"[2]

जॉनसन के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वह सीखने को व्यक्तियों के सामाजिक कार्यों को करने की योग्यता समझता है। जॉनसन का विचार उचित ही है क्योंकि कुछ सीखना इस प्रकार का भी हो सकता है जो व्यक्तियों को सामाजिक कार्यों के करने में बाधा हो। मनुष्य समाज में बहुत सी बातें सीखता है। ये बातें समाज के लिये लाभदायक एवं हानिकारक दोनों ही हो सकती हैं। हानिकारक होने पर सामाजिक व्यवस्था के असंतुलित हो जाने का भय रहता है। मनुष्य का उन बातों का सीखना जो समाज के लिये हानिकारक हैं, सामाजीकरण नहीं है। सामाजीकरण का अर्थ समाज में सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरुप जीवन शैली में समाज के मान्य व्यवहारों को अपनाने से है। अतः वही सीखना व्यक्ति के सामाजीकरण से सम्बन्धित हैं जो उसे समाज के निर्दिष्ट मापदण्ड सिखाता है।

---

1. ...Not all learning is socialization, since presumably some learning is irrelevent to the motivations and ability necessary for participation in social systems".
—H. M. Johnson : *Sociology; A System Introduction.*

2. "Socialization, being learning that contributes to one's ability to perform social roles, is learning with a particular direction and quality, from the point of view of some particular social system, it is desirable and desired learning".
—Ibid.

सामाजीकरण की प्रक्रिया
(Process of Socialization)

मनुष्य के सामाजिक मानवीय स्वरुप को गढ़ने के अनेक चरण होते हैं। ये चरण मनुष्य के विभिन्न आयुखण्डों में विभक्त रहते हैं। इन्हीं के अनुसार संम्बधित समूहों के द्वारा उसका सामाजीकरण होता है। सामाजीकरण को क्रियाशील होने के लिए यह आवश्यक हैं कि मनुष्य की जैवकीय संरचना और मानसिक क्षेत्र सामान्य हो। यदि कोई मनुष्य अपाहिज, मूर्ख, पागल अथवा किसीं प्रकार से असामान्य है, तो उसके सामाजीकरण की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि व्यक्ति सामाजिक पर्यावरण से अलग है तो सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार उसका सामाजीकरण सम्भव नहीं हो पाता है। सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य का सामाजीकरण निम्नलिखित चरणों में होता है जिसे सामाजीकरण के स्तर (Stages of Socialization) भी कहा जा सकता है।

(१) **शैशवकालीन सामाजीकरण** (Infancy Socialization) मनुष्य के जन्म से लेकर तीन वर्ष तक का समय साधारणतः इसी काल के अन्तर्गत आता है। इसमें उसका सामाजीकरण मुख्यतः मातृपक्षीय होता है और माता ही उसे सामाजीकरण की समस्त सामग्री प्रदान करती है। शैशवकाल में बच्चे के कार्यों और व्यवहारों पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं किया जाता है। उसे केवल अपने पर्यावरण और परिवार के कुछ सदस्यों से परिचय प्राप्त करना होता है। इस परिचय से बच्चे में स्नेह उत्पन्न होता है तथा उसमें आत्म सुरक्षा का विश्वास भी जागृत होता है।

(२) **बाल्यकालीन सामाजीकरण** (Childhood Socialization) लगभग चार वर्ष से लेकर दस वर्ष तक के बच्चे इस श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। इस काल में बच्चे का परिचय क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वह स्वयं चल फिर कर परिवार एवं समाज के अन्य सदस्यों से अपनी मित्रता करने लगता है। उसकी शौच आदि की आदतें नियमित एवं नियंत्रित होंने लगती हैं। वह परिवार के निर्धारित नियमों और आचरणों का अनुकरण करना सीखता है तथा इसी काल में बच्चे को लिंगभेद और उनकी मान्यताओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ उसके संगी-साथी भी बनते हैं और उसमें मित्रता का भाव उत्पन्न होता हैं।

(३) किशोरकालीन सामाजीकरण (Adolescence Socialization)—यह ग्यारह वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक मानी जा सकती है। इस आयु में मनुष्य में स्वयं सीखने की जिज्ञासा जागृत हो चुकी होती है। उसके विचारों में कुछ क्रम और तर्क आने लगते हैं तथा वह संवेदनशील हो जाता है। मित्रता की भावना इस काल में कुछ दृढ़ हो जाती है तथा विपरीत लिंग में भी अधिक अभिरुचि जागृत होने लगती है। इस काल में मनुष्य के जीवन पर स्कूलों के मित्रों, अध्यापकों, पड़ोसियों आदि का प्रमुख प्रभाव रहता है।

(४) व्यस्ककालीन सामाजीकरण (Adult Socialization)—इस श्रेणी के अन्तर्गत मनुष्य का शेष जीवन रक्खा जा सकता है। इस काल में व्यक्ति अपनी शारीरिक वयस्कता की चरम सीमा को पहुंच जाता है। उसे अपनी संस्कृति तथा समाज के मूल्यों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा वह सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने योग्य हो जाता है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया के कारक
(Factors in the Process of Socialization)

जन्म काल के समय मनुष्य के बच्चे और पशु के बच्चे में कोई अन्तर नहीं होता। यह सामाजीकरण की ही प्रक्रिया है जो बच्चे में मानवीय गुणों का संचार करके उसे अन्य जीवों से पृथक करती है और उसे एक सामाजिक प्राणी बनाती है। सामाजीकरण से बच्चे सामाजिक आदर्शों, मूल्यों, मान्यतायों, रुढ़ियों आदि से अपना समन्जन करते हैं और उसी की मर्यादाओं के साथ अपना आत्मसात करते हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया के निम्नलिखित मुख्य कारक हैं :

(१) पालन-पोषण (Rearing) पालन-पोषण सामाजीकरण की प्रक्रिया का प्रथम चरण है। पालन-पोषण के दौरान बच्चा विभिन्न वस्तुओं को और परिवार के सदस्यों को पहचानता है और उनके गुणों तथा दुर्गुणों का आभास करता है। उसके अभिभावक जिन वस्तुओं के बारे में जिस प्रकार उसे अच्छा बुरा ज्ञान प्रदान करते हैं, उसी प्रकार वह उन्हें ग्रहण करता है और उनके प्रति अपने आचरण व्यक्त करता है। पालन-पोषण की प्रक्रिया में दूषित व्यवहारों, आचरणों, सिद्धान्तों, कल्पनाओं आदि का समावेष मनुष्य के सामाजिक जीवन पर अमिट छाप छोड़ता है।

(२) **सहानुभूति एवं सहयोग** (Sympathy and Co-operation) सहानुभूति से बच्चे में प्रेम और अपनत्व की भावना का विकास होता है तथा वह अपने पराये को पहचानने में समर्थ होता है। सहानुभूति के अभाव में घृणा और भय का प्रादुर्भाव होता है जो व्यक्ति को विचलनकारी बना सकता है। आदर्श सामाजिक जीवन के समूह का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। विशेषीकरण में सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने के लिये पास्परिक सहयोग नितान्त आवश्यक है। विभिन्न वर्गों के बीच अनेक प्रकार से सहयोग का आदान प्रदान होता है जिसमें विभिन्न सामाजिक प्रवत्तियों का संगम होता है। परिणामतः सामाजीकरण में सहयोग की प्रक्रिया अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। सामाजिक व्यवस्था में सहयोग का कुछ न कुछ महत्व आदि कालीन सामाजिक जीवन से ही रहा है।

(३) **सामाजिक प्रशिक्षण** (Social Training) सामाजिक प्रशिक्षण के लिये सर्वोत्तम समय मानव की किशोरावस्था होती है जिसमें उसके व्यवहार परिवार की गति-विधियों से ही नहीं, अपितु उसके क्षेत्र से प्रभावित होते हैं। इस स्तर पर उसके अन्दर समाज की नैतिक मान्यताओं और आदर्शों को आत्मसात करने की क्षमता स्फुटित होती है। मिलर और डोलार्ड (Miller and Dollard) ने सामाजीकरण की इस प्रक्रिया के चार आधार बताये हैं। उनके अनुसार सामाजिक प्रशिक्षण, सचांलन (Drive), सूझ-बूझ (Cue), प्रतिचार (Response) और पारितोष (Reward) पर निर्भर करता है। किशोरों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किये गये प्रयास, उनके व्यवहारों को प्रकट करते हैं। सफल प्रयासों से उन्हें संतोष मिलता है और उससे उन व्यवहारों की पुनर्वृत्ति होती है। इस प्रक्रिया में बच्चों के उद्वेगों, भावनाओं और प्रेरणाओं के प्रति सहानुभूति का बहुत अधिक योगदान है।

(४) **अनुकरण** (Imitation)—बच्चे का खान-पान, बोल-चाल, आचार-व्यवहार और प्रेम तथा ईर्ष्या सभी अर्जित गुण होते हैं। वह इन्हें अपने समकालीन परिवारिक और सामाजिक सदस्यों से सीखता है। यह प्रक्रिया अनुकरण द्वारा कार्यान्वित होती है। जैसा घर के और समाज के लोग बोलते-चालते और व्यवहार करते हैं, बच्चे उसी का आत्मीकरण करते हैं।

(५) सामाजिक प्रत्यक्षीकरण (Social Perception)—सामाजिक जीवन में घटना चक्रों का कोई सुनियोजित क्रम नहीं होता है और न ही उनसे व्यवहार करने के निश्चित सिद्धान्त हुआ करते हैं। एक ही प्रकार की परिस्थितियों में समय-समय और स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार की भूमिकाएँ अदा करनी होती है। प्रत्येक परिस्थिति में एक समान व्यवहारों से लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है। ऐसी दशा में मनुष्य को बहुत कुछ प्रत्यक्ष जीवन में घटित घटनाओं से सीखना पड़ता है। किसी समस्या का व्यवहारिक निदान परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त दृष्टिगोचर होता है। इस प्रत्यक्षीकरण से व्यक्ति व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करता है।

(६) निर्देश (Suggestion)—यदि किसी बच्चे का दूषित सामाजीकरण नहीं हुआ है तो उसमें बड़ों के प्रति आदर की भावना और आज्ञा-पालन की तत्परता अवश्य होगी। ऐसी दशा में व्यक्ति अपने से अधिक अनुभवी लोगों के निर्देशों का पालन करता है। यह निर्देश उसके सामाजिक व्यवहारों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। समुचित निर्देशन के अभाव में व्यक्ति के असमाजीकृत और विचलित होने की सम्भावना बनी रहती है। निर्देश सामाजीकरण की प्रक्रिया के प्रकाश स्तम्भ होते हैं।

(७) पुरस्कार और दण्ड (Reward & Punishment)—पुरस्कार और दण्ड से बच्चों को अपने सुकृत्यों-कुकृत्यों का ज्ञान होता है। किशोरावस्था में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था अभिवावकों एवं अध्यापकों द्वारा की जाती है और व्यस्क होने पर इसकी व्यवस्था विधान द्वारा की जाती है। सामाजिक मर्यादाओं के अनुकूल व्यवहार करने पर उन्हें प्रशंसा, प्रोत्साहन और सम्मान प्राप्त होता है तथा असामाजिक व्यवहार करने पर उन्हें अपमान, अपयश और सजा मिलती है। पुरस्कार के प्रलोभन से और दण्ड के भय से व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहारों का नियन्त्रण होता है।

बालकों के सामाजिक मर्यादायों के अनुकूल अथवा असामाजिक व्यवहार करने पर पुरस्कार एवं दण्ड का निर्धारण बड़ी ही सावधानी से करना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि पुरस्कार अथवा दण्ड का योगार्थिक रुप ही हो। कभी-कभी एक मुस्कान या कुछ मीठे शब्द बालकों के लिये अधिक प्रभावशाली होते हैं। जॉनसन की भी इस सम्बन्ध में यही धारणा है। उसके अनुसार, "**यह आवश्यक नहीं है कि पुरस्कार एवं दण्ड योगार्थिक रुप**

में ही हो क्यों कि एक चूसने की मिठाई की अपेक्षा एक मुस्कान अधिक प्रभावशाली हो सकती है।"[1]

बालकों को उनकी गलतियों के लिये दण्ड देने में विद्वानों में विशेष रुप से मतभेद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि दण्ड का प्रयोग करना ही नहीं चाहिये क्यों कि इससे बालक के व्यक्तित्व के विकास में बाधा होती है। जॉनसन के मतानुसार, "दण्ड में कम से कम दो भय हैं..........प्रथम भय यह है कि दण्ड सामाजीकरणीय माध्यम में घृणा उत्पन्न कर देगा और विषय को या तो अपनी असहमति से कम संज्ञाशील बना देगा अथवा विषय को अनाज्ञाकारी प्रेरणा देगा जिससे कि सामाजीकरणीय माध्यम को निराशा होगी। दण्ड की प्रेरणा को दूर करने से सामाजीकरणीय माध्यम की निराशात्मक प्रेरणा दृढ़ हो सकती है। दण्ड में दूसरा भय यह है कि विषय 'अधिक सीखा हुआ' हो जायेगा, व्यवहार क्षेत्र में बालक जिसमें दण्डित हो चुका है, इतनी अधिक व्याकुलता विकसित कर सकता है कि उससे उसके सामान्य इच्छित व्यवहार प्रतिमानों में भी नियत्रण लग जाय।"[2]

---

1. "Reward and Punishment need not come in tangible form; a smile may be more effective than a piece of candy."

—H. M. Johnson : *Sociology*

2. There are atleast two dangers in punishment......The first danger is that punishment will produce hatred for the socializing agent and will either make the subject less sensitive to his disapproval or give the subject a motive for frustrating the socializing agent by disobeying in retaliation. The motive of frustrating the socializing agent can become stronger than the motive of avoiding punishment. Another danger in punishment is that the subject will 'over learn'. He may develop so much anxiety in the behaviour field in which he has been punished that he will be inhibited in 'normal' and desirable behaviour patterns."

—Ibid.

कम आयु के बालकों को दण्ड देने में बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा इसका परिणाम हानिकारक हो सकता है। अतः जहाँ तक संभव हो छोटे आयु के बालकों को दण्ड देना ही नहीं चाहिये। अकोलकर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, **"परन्तु प्रारम्भ के पाँच वर्षों में दण्ड का प्रभाव बाल-मन एवं 'स्वप्रेम' पर एक अप्रत्याशित छाप के रूप में पड़ता है। यह 'नरसिष्ट घाव' एक स्थायी चिन्ह छोड़ देता है। अभिवावकों को थप्पड़ या घूंसे से बालक के व्यक्तित्व पर स्थायी होने वाली हानि से हमेशा बचाव करना चाहिये।"**[1]

बालकों का सामाजीकरण दण्ड एवं पुरस्कार की प्रक्रिया से बहुत ही उत्तम ढंग से हो सकता है। परन्तु दण्ड देने में बहुत सावधानी रखनी चाहिये। यदि किसी कारण बालक को दण्ड देना अनिवार्य ही हो, तो ऐसा तभी करना श्रेष्ठ है जब बालक की आयु ७ वर्ष से अधिक हो। छोटे बालकों को तो पुरस्कार से वंचित रखना ही पर्याप्त दण्ड है।

(८) सहमति तथा असहमति (Approval and Disapproval)

सहमति तथा असहमति भी सामाजीकरण की प्रक्रिया का एक मुख्य कारक है। बालक के उचित एवं समूह के आदर्श के अनुकूल व्यवहार करने पर उससे सहमति प्रकट करनी चाहिए एवं विपरीत आचरण करने पर उससे असहमति प्रदर्शित करनी चाहिए। बालक के व्यवहार से सहमति तथा असहमति प्रदर्शित करने से उसे उचित-अनुचित का ज्ञान होता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह में प्रचलित आदर्शों के अनुरूप ही कार्य करना चाहता है। अपमान तथा दण्ड के भय से वह समूह विपरीत आचरण नहीं करता है। अतः बालकों के सफल सामाजीकरण के लिए आरम्भ से ही उनके प्रत्येक कार्य के प्रति ध्यान पूर्वक सहमति तथा असहमति प्रदर्शित की जानी चाहिए।

---

1. "But during the first five years punishment comes as a totally unexpected shock, a blow to its selflove. This 'Narcissistic wound' may leave a permanent scar. Parents must avoid the permanent harm done to the child's personality by this early slaps and blows."

—V. V. Akolkar : *Social Psychology.*

(९) **मजाक उड़ाना** (Ridicule) मजाक उड़ाना दण्ड का ही एक स्वरूप है। मजाक उड़ाने से बच्चा लज्जित होता है तथा स्वयं में सुधार लाने का प्रयत्न करता है। मजाक उड़ाने में कुछ बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कठोर दण्ड की भाँति इसका भी परिणाम गलत हो सकता है। मजाक बालक के मित्र-समूह के समक्ष कभी भी नहीं उड़ाना चाहिए। ऐसा करने से बालक में हीनता की भावना का विकास होता है जो कि उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए हानिकारक है। कभी-कभी बालक अनजाने में ही कुछ भूल कर देता है। ऐसी स्थिति में उसका मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। मजाक उड़ाने की मात्रा भी अधिक नहीं होनी चाहिए एवं यह उपयुक्त अवसर पर ही होना चाहिए।

सामाजीकरण के अभिकरण
(Agencies of Socialization)

सामाजीकरण की प्रक्रिया अनेक कारकों अथवा सामाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों द्वारा प्रभावित होती है। इन विभिन्न अभिकरणों में बहुत से विद्वान परिवार को बहुत ही महत्वपूर्ण मानते हैं। किम्बाल यंग के मतानुसार, **"समाज में सामाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है और इसमें कोई संदेह नहीं कि परिवार के अन्तर्गत माता एवं पिता ही साधारणतया सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं।........ सामाजीकरण के अन्य अभिकरणों में पड़ोस, सम्बन्धी, प्रारम्भिक समूहों के सदस्य एवं बाद में द्वैतीयक समूहों की सदस्यता है।"**[1]

किम्बाल यंग के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के सामाजीकरण में इन अभिकरणों का बहुत अधिक महत्व है। इन अभिकरणों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) परिवार (Family)

(२) आयु-समूह (Peer group)

---

1. "Of the various agents of socialization within society, the family is the most important, and within the family there is no doubt that the mother and father are ordinarily the most significant individuals.......Other agents of socialization are the neighbourhood, relative, and members of the other primary groups as well as later membership in secondary groups".

—K. Young : *A Handbook of Social Psychology*.

(३) पड़ोस (Neighbourhood)
(४) नातेदारी समूह (Kinship group)
(५) विद्यालय (Educational group)
(६) अन्य प्राथमिक समूह (Other primary groups) जैसे मित्र मंडली, क्लब अथवा मनोरंजन गोष्ठी

उपरोक्त सभी अभिकरण प्राथमिक समूह के अन्तर्गत आते हैं। द्वैतीयक समूहों (Secondary groups) के अन्तर्गत निम्नलिखित अभिकरण आते हैं।

(i) वर्ग (Class)
(ii) जाति (Caste)
(iii) राष्ट्रीयता (Nationality)
(iv) राष्ट्र (Nation)
(v) राजनैतिक दल (Political parties)
(vi) धार्मिक समूह (Religious group)
(vii) भाषा समूह (Language group)
(viii) व्यवसायिक समूह (Occupational group)
(ix) अन्य समूह (Other groups)

व्यक्ति का सामाजीकरण उपरोक्त सभी अभिकरणों अथवा माध्यमों द्वारा होता है। व्यक्ति के सामाजीकरण में ये अभिकरण निम्नलिखित प्रकार से सहायक होते हैं।

प्राथमिक समूह
(Primary Groups)

(१) **परिवार** (Family) व्यक्ति के सामाजीकरण में परिवार सबसे प्रमुख अभिकरण है एवं व्यक्ति के सामाजीकरण का आधार बिन्दु है। बालक का सामाजीकरण सबसे प्रथम अपने परिवार से ही प्रारम्भ होता है। इसीलिये परिवार को सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला कहा जाता है।

बालकों के सामाजीकरण में उसके जन्म के बाद के चार-पाँच वर्ष बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। जंगली बालकों के उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। छोटी आयु में बालकों की सीखने और आदत डालने की

प्रवृत्ति अधिक होती है। अतः छोटी आयु में बालकों का सीखना उनके वास्तविक सामाजीकरण की आधार शिला है। बचपन में प्रयोग की हुई वस्तुएँ और भावी महत्वाकाक्षाएँ आजीवन तक व्यक्ति की आदत एवं लक्ष्य बनकर रह जाते हैं। किम्बाल यंग ने बालक के प्रारम्भिक वर्षों के सामाजीकरण को महत्वपूर्ण बताया है। यंग के ही शब्दों में, "**इस सम्बन्ध में साधारणतः यह विश्वाश किया जाता है कि प्रारम्भिक सामाजीकरण बाद में कुछ भी सीखने की अपेक्षाकृत मौलिक एवं अधिक आधारभूत होता है।**"[1]

परिवार में माता-पिता की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होती है। बालक के जीवन पर अपने माता-पिता के व्यवहारों का प्रभाव बहुत गहरा होता है। वह प्रायः जीवन पर्यन्त उन्हीं व्यवहारों का अनुकरण करता है। माता-पिता संकट के समय किस प्रकार धैर्य से कार्य करते हैं, इसका बालक के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता दूसरों के प्रति असामान्य व्यवहार करते हैं, तो बालकों पर भी इनका प्रभाव बुरा पड़ता है और अपने जीवन में वे भी इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं।

कुछ माता-पिता बालकों पर आवश्यकता से अधिक अनुशासन रखते हैं और प्रायः बच्चों को डाँटते फटकारते रहते हैं। इससे बच्चों के मन में आत्मग्लानि की भावना उत्पन्न होती है। यह उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में निश्चय ही बाधक है। इसके विपरीत कुछ माता-पिता बच्चों को बहुत ही लाड़ प्यार से रखते हैं। इसका प्रभाव बच्चों पर अच्छा नहीं पड़ता। इस प्रकार के वातावरण में पले बच्चे प्रायः अपनी आलोचना से डरते हैं। परिणामस्वरूप वे आत्मकेन्द्रित एवं स्वार्थी हो जाते हैं। कभी-कभी माता-पिता अपनी अज्ञानता से अपने ही बच्चों में भेद-भाव करने लगते हैं। इससे बच्चों पर बहुत गलत प्रभाव पड़ता है। परिवार की आर्थिक स्थिति का भी प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। सम्पन्न परिवार के बालकों में हीनता, असुरक्षा तथा अनिश्चितता का भाव कम उत्पन्न होता है, जब कि गरीबी के वातावरण में पले बच्चों की प्रवृत्तियाँ ठीक इसके विपरीत होती हैं।

1. In this connection it is generally believed that the early socialization is basic and more fundamental than any thing that is learned later".
—K. Young : *A Handbook of Social Psychology.*

परिवार के सदस्यों का मानित लक्ष्यों की प्राप्ति की सफलता तथा असफलता का भी बच्चों पर प्रभाव पड़ता है। लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल माता-पिता के बच्चों में आत्मग्लानि एवं हीनता का भाव रहता है जो कि उनके व्यक्तित्व के विकास में हानिकारक है। परिवार के अन्य सदस्यों के धार्मिक, राजनैतिक तथा विविध समस्याओं से सम्बन्धित विचार भी बच्चों को प्रभावित करते हैं ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक पर माता-पिता तथा परिवार के अन्य सभी सदस्यों के व्यवहारों का अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति परिवर्तित हो जाने पर भी उसके ऊपर परिवार की संस्कृति की छाप जीवनपर्यन्त बनी रहती है। व्यक्ति के सामाजीकरण में परिवार के समान महत्वपूर्ण अन्य कोई भी अभिकरण नही है। इसी कारण परिवार को नागरिक जीवन की प्रथम एवं महत्वपूर्ण पाठशाला कहा जाता है।

(२) **आयु-समूह** (Peer group) बालक के सामाजीकरण में प्राथमिक समूहों के अन्तर्गत समान आयु-समूह का भी विशेष स्थान है। बालक थोड़ा बड़ा हो जाने पर परिवार के बाहर निकलता है और अपने समान आयु-समूह के बालकों से मित्रता करता है। वह समान आयु-समूह के बालकों के साथ खेलता है तथा नवीन बातों को सीखता है। अतः बालकों के स्वतन्त्र विकास के लिए इस समूह का होना अति आवश्यक है, अन्यथा बालक स्वयं में ही लीन रहता है और उन अनेक बातों को सीखने से वंचित रह जाता है जो उसे समान आयु-समूह के बालकों से ही सीखने को मिलती हैं।

(३) **पड़ौसी** (Neighbourhood) बालक के सामाजीकरण में पड़ौस का स्थान भी बहुत महत्वपूर्ण है। बालक अपने पड़ौसियों की विविध दिनचर्या देखकर उसका अनुकरण करता है। अतः बालक के उत्तम सामाजीकरण के लिए अच्छे पड़ौस का होना बहुत आवश्यक है।

(४) **नातेदारी समूह**(Kinship group) प्राथमिक समूहों के विभिन्न अभिकरणों में बालक के सामाजीकरण में नातेदारी समूह का भी विशेष महत्व है। विभिन्न अवसरो पर बालक को अपने रिश्तेदारों के यहाँ जाने का अवसर मिलता है। बालक अपने रिश्तेदारों की बातों से प्रभावित होता है और उनका अनुकरण करता है।

(५) **विद्यालय** (Educational group) परिवार की ही भाँति विद्यालय का भी बालक के सामाजीकरण में बहुत अधिक महत्व है। वस्तुतः परिवार के बाद बालक का सामाजीकरण विद्यालय में ही होता है। बालक विद्यालय में अनेक साथियों से मिलता है और विशेष रूप से अपने शिक्षकों से प्रभावित होता है। अतः विद्यालय बालक के सामाजीकरण का एक उत्तम माध्यम है।

(६) **अन्य प्राथमिक समूह** (Other primary groups)—प्राथमिक समूह के उपरोक्त प्राथमिक समूहों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्राथमिक समूह हैं जिनके द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। मित्र मंडली, क्लब, मनोरंजन गोष्ठी आदि ऐसे ही समूह है। व्यक्ति इन समूहों का सदस्य बनता है, और इनके अन्य सदस्यों के अनुरूप ही अपना आचरण करता है। सामाजीकरण के अभिकरणों में इन समूहों का भी बहुत महत्व है।

द्वैतीयक समूह
(Secondary Groups)

समाज में व्यक्ति के सामाजीकरण के लिये प्राथमिक समूह के समान द्वैतीयक समूहों का भी अत्याधिक महत्व है। व्यक्ति जीवनपर्यन्त द्वैतीयक समूहों का सक्रिय सदस्य रहता है। अतः उसके ऊपर इन समूहों की एक अमिट छाप रहती है। व्यक्ति के ऊपर धार्मिक, राजनैतिक, व्यवसायिक समूह आदि विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं। ये समूह व्यक्ति के व्यवहारों एवं दृष्टिकोण में नवीन परिवर्तन लाते हैं। व्यक्ति जिस धर्म को मानता है, उसी के अनुसार सके विचार एवं दृष्टिकोण होते हैं। राजनैतिक समूह भी व्यक्ति को विशेष रुप से प्रभावित करते हैं। व्यक्ति की जिस राजनैतिक दल में आस्था होती है, उसी के अनुसार विभिन्न समस्याओं के प्रति उसके विचार भी होते हैं। व्यवसायिक समूह भी व्यक्ति को कम प्रभावित नहीं करते। इन समूहों का भी एक आदर्श होता है। व्यक्ति जिस व्यवसाय में होता है, उसी के अनुरुप उसके विचार भी होते हैं। द्वैतीयक समूहों में राष्ट्र, भाषा समूह आदि भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों के उपरोक्त विभिन्न अभिकरणों द्वारा जीवन पर्यन्त प्रभावित होता रहता है। ये अभीकरण ही व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

सामाजीकरण के सिद्धान्त
(Theories of Socialization)

सामाजीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के निम्नलिखित चार सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय हैं :

(क) दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त (Durkheim's theory of Collective Representations)

(ख) कूले का आत्मदर्पणवादी सिद्धान्त (Cooley's theory of Looking-glass self)

(ग) मीड का आत्मवादी सिद्धान्त (Mead's theory of Self)

(घ) फ्रायड का परा अहम् का सिद्धान्त (Freud's theory of Super Ego.)

(क) दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त (Durkheim's theory of Collective Representations) सामाजीकरण के सम्बन्ध में दुर्खीम के विचार उसकी प्राख्यात पुस्तक 'सोशियोलोजी एण्ड फिलासफी' (Sociology and Philosophy) में देखने को मिलते हैं। यद्यपि दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में सामाजीकरण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है, परन्तु उसके 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' एवं 'सामूहिक चेतना (Collective Consciousness) सम्बन्धी विचारों से सामाजीकरण की प्रक्रिया को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

समाज में सभी सदस्यों की विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में कुछ समान विचार, धारणाएँ तथा भावनाएँ होती हैं। सदस्यों की व्यक्तिगत चेतना से एक दूसरे सदस्य प्रभावित होते हैं और उनके मष्तिक में होने वाली अन्त: क्रियाओं के परिणामस्वरुप सामूहिक चेतना का प्रार्दुभाव होता है सामूहिक चेतना सदस्यों में विचार, धारणाएँ तथा भावनाएँ उत्पन्न करती है। इसी को दुर्खीम सामूहिक प्रतिनिधित्व कहता है।

सामूहिक प्रतिनिधित्व समाज में सदस्यों को प्रभावित करती है और सदस्यों को समाज के अनुरूप व्यवहार करने के लिये प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप समाज में नवीन प्रतीकों का जन्म होता है। इन प्रतोंकों में लोगों की आस्था एवं शक्ति निहित होती है और पारस्परिक रुप से सभी का उस

पर आधिपत्य होता है। इसका मुख्य कारण है कि इन प्रतीकों का निर्माण सामूहिक रूप से होता है और सभी लोग इनका अस्तित्व बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिये हम धार्मिक पुस्तकों तथा राष्ट्रीय ध्वज को लेते हैं। धार्मिक पुस्तकों के प्रति लोगों के मन में गहरी आस्था होती है और सभी के ऊपर समान रूप से इनका प्रभाव पड़ता है। लोग इन्हें श्रद्धा एवं भक्ति की दृष्टि से देखते हैं। राष्ट्रीय ध्वज जो कि राजनैतिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है, राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्यों द्वारा निर्मित इन प्रतीकों में बहुत अधिक सामाजिक शक्ति निहित होती है और वे समाज के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं क्यों कि इनमें विशेषीकरण (Specialization), सहयोग एवं अन्तः निर्भरता का तत्व निहित होता है। बोगार्डस ने इन सामूहिक प्रतीकों का महत्व बताते हुए कहा है कि इनसे व्यक्ति सामाजिक बनता है और उसमें समष्टिगत भावना का विकास होता है जो समाज के व्यवहार को सदैव प्रभावित करती रहती है।

सामूहिक प्रतिनिधित्व की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह अवैज्ञानिक होता है और कभी-कभी अपनी उपयोगिता खो देता है, परन्तु फिर भी इसका महत्व बना रहता है। इसका कारण इसके अन्दर निहित सामाजिक शक्ति है। जादू, टोनों एवं टोटकों आदि का कोई वैज्ञानिक आधार नही है। ये केवल अन्धविश्वास पर ही आधारित हैं, परन्तु फिर भी ऐसे समाज आज भी देखने को मिलते हैं, जहाँ इन सबमें बहुत अधिक विश्वास किया जाता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आजकल इनकी उपयोगिता नहीं है, परन्तु फिर भी भारतीय समाज में इनका अत्याधिक महत्व है। अंग्रेजों की राजभक्ति भी कुछ इसी प्रकार की है। इंग्लैंड में देश की सर्वोच्च शक्ति पार्लियामेन्ट में निहित है परन्तु फिर भी राज्य परम्परा आज भी जीवित है, जब कि वहाँ अब राजा का कोई भी महत्व नहीं है।

दुर्खीम समाज की समस्त संस्थाओं, मूल्यों, आदर्शों, प्रतिमानों एवं भाषा आदि को सामूहिक प्रतिनिधित्व कहता है। समाज के मूल्य, आदर्श, विधान, तथा शिष्टाचार की पुस्तकें आदि समाज के सभी व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। इनका प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ न कुछ अंश में नैतिक दबाव रहता है और व्यक्ति के व्यवहार बहुत अंशों में इन्ही से प्रभावित एवं नियन्त्रित रहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दुर्खीम सामूहिक प्रतिनिधित्व को सामाजिक मूल्य का

एक प्रमुख कारक मानता है। इसी लिए उसके सामूहिक 'प्रतिनिधित्व' के सिद्धान्त को 'सामाजिक मूल्य का सिद्धान्त' भी कहा जाता है। मूल्यों के अर्थ के सम्बन्ध में प्राय. लोगों को भ्रम रहता है। दुर्खीम ने इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहता है कि व्यक्तियों के निर्णय प्रायः तथ्यों एवं मूल्यों पर आधारित होते हैं। तथ्य के सम्बन्ध में व्यक्तियां के निर्णय का मुख्य आधार अवलोकन होता है और मूल्यों के निर्णय (Value Judgement) प्रायः उपयोगिता तत्व पर आधारित होते हैं। तथ्यों के सम्बन्ध में व्यक्तियों के निर्णय को दुर्खीम ने वैषयिक (objective) बताया है। इसके विपरीत मूल्यों के सम्बन्ध में व्यक्तियों के निर्णय पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं। अतः आंशिक रूप में वह प्रातीतिक (Subjective) होते हैं। समाज-शास्त्रियों के लिए दूसरे प्रकार का मूल्य निर्णय ही महत्वपूर्ण है।

दुर्खीम के सिद्धान्त की एक प्रमुख मान्यता यह भी है कि सामूहिक प्रतिनिधित्व सदैव सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप होते हैं। अतः समाज में व्यक्तियों पर इनका नैतिक दबाव इतना अधिक होता है कि उन्हें वाध्य होकर अपने व्यवहारों को उनके अनुरूप करना पड़ता है। सामाजिक मूल्यों की प्रकृति सदैव आदेशात्मक (imperative) होती है क्योंकि ये सामूहिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं। समाज में सामाजिक मूल्य व्यक्तिगत क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न न होकर सामूहिक क्रिया (Collective action) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसीलिए सामाजिक मूल्यों को दुर्खीम वैषयिक कहता है। इनकी प्रकृति आदेशात्मक होने का एक कारण यह भी है कि इनकी उत्पत्ति का केन्द्र व्यक्ति न होकर समूह होता है, और समूह में समाज की शक्ति निहित होती है।

दुर्खीम के सामूहिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की एक अन्य प्रमुख मान्यता यह भी है कि दुर्खीम ने समाज को एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वह समाज को प्रकृति द्वारा प्रदत्त भौतिक एवं सामाजिक शक्तियों का एक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली संयोग मानता है। समुन्नत विचार केवल समाज द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र अथवा सामूहिक चेतना का विज्ञान निश्चित ही मानव विज्ञान के लिए एक नवीन मार्ग का निर्माण करेगा।

(ख) कूले का 'आत्मदर्पणवादी' सिद्धान्त (Cooley's theory of Looking-glass Self) सामाजीकरण के सिद्धान्तों में कूले के

'आत्मदर्पण का सिद्धान्त' एक विशेष योगदान है। कूले का मत है कि समाज और व्यक्ति के प्रति कोई धारणा एक दूसरे को अलग करके नहीं की जा सकती। समाज और व्यक्ति अभिन्न हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य के आत्म और सामाजिक चेतना का विकास एक ही साथ होता है। जन समुदाय में जन-जन एकत्रित हो करके समाज का निर्माण होता है जो सामाजिक चेतना से पृथक नहीं है। इस सम्बन्ध में कूले के चिन्तन के तीन प्रमुख बिन्दु हैं। पहला, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकृति की कल्पना अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण में करता है; दूसरा, दूसरे व्यक्तियों के दृष्टिकोण और अपने सम्बन्ध में उसके निर्णय की कल्पना करता है तथा तीसरा, 'स्व' (self) की भावना से प्रेरित होकर वह अपने अनेकानेक स्वरुप प्रतिपादित करता है। इन विन्दुओं से ज्ञात होता है कि मनुष्य का आत्मरूप और सामाजिक चेतना, कूले के सिद्धान्तानुसार अभिन्न हैं तथा इन्हीं के आधार पर सामाजीकरण की प्रक्रियाएँ क्रियाशील होती हैं।

कूले ने सामाजिक आदर्शों के निर्माण के लिये व्यापक अनुभूतियों और अनुभवों की अनिवार्यता को इंगित किया है क्योंकि इन्हीं के आधार पर सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का सृजन होता है। ये आदर्श और मूल्य मानव समूहों में बहुत कुछ समान होते हैं तथा प्राथमिक समूहों द्वारा अर्जित किये जाते हैं। मनुष्य अपने बालकालीन सामाजीकरण की प्रक्रिया में अभिभावकों, परिवार के सदस्यों और अपने साथ खेलने फिरने वाले बच्चों के सम्पर्क में मानित आदर्शों को ग्रहण करता है। इसके लिये समुचित संचार (Communication) की आवश्यकता होती है। संचार जितना ही प्रभावशाली होगा, सामाजिक नैतिकता उतनी ही संगठित होगी। इन संचारों के विस्तार के लिये समकालीन रीति-रिवाजों, रुढ़ियों और विश्वासों का बहुत महत्व है। समाज के उच्च आदर्श, संचार और संगठन-व्यवस्था की उतकृष्टता के परिचायक होते हैं।

(ग) मीड का आत्मवादी सिद्धान्त (Mead's theory of Self) सामाजीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अमेरिकन समाज वैज्ञानिक जार्ज हर्बर्ट मीड के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। व्यक्ति के सामाजीकरण के लिये मीड समाज को ही उत्तरदायी मानता है। इसके स्पष्टीकरण के लिये उसने आत्मवादी सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की है जो कि

सामाजीकरण की प्रक्रिया को समझने में बहुत ही महत्वपूर्ण है। मीड के अनुसार बालक जन्म के समय पूर्णतः जैविकीय (Biological individual) होता है तथा उसमें तथा अन्य प्राणियों में कोई अन्तर नहीं होता। परन्तु धीरे धीरे बालक का समाज के साथ सम्पर्क स्थापित होता जाता है और उसकी जैविकीय प्रवृतियाँ समाज के अनुकूल हो जाती हैं तथा बालक समाज के शिष्टाचार के समान व्यवहार करना आरम्भ कर देता है। यही व्यक्ति का सामाजीकरण है।

मीड ने व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में दो प्रक्रमों का उल्लेख किया है, जिसका विवेचन सामाजीकरण की प्रक्रिया को समझने में आवश्यक हैं।

(i) **संकेत एवं चेष्टाएँ**—मीड के अनुसार बालक जन्म के समय बिलकुल ही अबोध होता है। भाषा का ज्ञान न होने के कारण वह अपने भावों एवं आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति विभिन्न संकेतो तथा चेष्टाओं द्वारा करता है। वह दूसरों की प्रतिक्रियाओं को देखता है तथा फिर उसे स्वयं में समाविष्ट कर लेता है। इस प्रकार बालक जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वह अपने माता-पिता द्वारा बोले गये विभिन्न शब्दों का अर्थ समझने लगता है और कुछ समय उपरान्त उसे भाषा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेने से वह दूसरों द्वारा बोले हुए शब्दों का अर्थ समझने लगता है एवं दूसरों के व्यवहारों एवं विचारों से प्रभावित होता है तथा दूसरों को प्रभावित भी करता है। सभ्य समाज में बालक का सामाजीकरण उसी अवस्था में संभव है जब वह भाषा का ज्ञान अर्जित कर ले क्योंकि भाषा ही वह माध्यम है जिससे वह दूसरों के विचारों को समझता है तथा अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है।

(ii) **'आत्म' अथवा 'स्व' का विकास**—मीड के सिद्धान्त का मुख्य आधार व्यक्ति में आत्म' अथवा 'स्व' के विकास का है। इसी विचार का विस्तृत विवेचन मीड ने अपने सिद्धान्त में किया है।

बालक द्वारा भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त वह दूसरों के व्यवहारों का प्रत्यक्षीकरण करने लगता है और फिर अपना करता है। वह दूसरों के शब्दों, बोलने का तरीका तथा विविध शारीरिक सकेंतों को समाविष्ट कर लेता है और विभिन्न भूमिकाएँ (role taking) अदा करने

की चेष्टा करता है। वह स्वयं के लिये दूसरी वस्तु बन जाता है और दूसरों की भूमिकाएँ अदा करता है। इस प्रकार बालक का विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने का प्रयास उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है। मीड के शब्दों में, "**आत्म आचरण में उत्पन्न होता है, जब व्यक्ति स्वयं के अनुभव में सामाजिक वस्तु बन जाता है। यह उस समय होता है जब कि व्यक्ति अभिवृत्ति या प्रयोगों, एवं संकेतों की कल्पना करता है जो दूसरा व्यक्ति स्वयं में प्रयोग करेगा, प्रत्युतर देगा या प्रत्युतर प्रस्तुत करेगा। ....बच्चा अपने स्वयं के अनुभव में धीरे-धीरे एक सामाजिक जीव बन जाता है तथा स्वयं से उसी ढंग से क्रिया करेगा जिस ढंग से वह दूसरों के साथ करता है।**"[1]

मर्फी और शेरिफ आदि विद्वानों ने दृष्टि प्रत्यक्षीकरण पर बहुत महत्व दिया है परन्तु मीड ने उनका खण्डन करते हुए कहा है, "**व्यक्ति स्वयं का अनुभव इस प्रकार, प्रत्यक्ष रुप में नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष रूप में, उसी सामाजिक समूह के दूसरे व्यक्ति सदस्यों के विशेष दृष्टिकोण से करता है।............**"[2]

व्यक्ति के इस प्रकार दूसरों के रुखों का अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट कर लेने की प्रक्रिया को मीड ने सामान्यीकृत अन्य (generalized other) कहा है। 'सामान्यीकृत अन्य' की मनोवृत्ति से तात्पर्य पूरे समाज की मनोवृति

---

1. The self arises in conduct, when the individual becomes- social object in experience to himself. This takes place when the individual assumes the attitudes or uses the gesture which another individual would use and responds to it himself or tends to so respond...The child gradually becomes a social being in his own experince, and he acts towords himself in a manner analogous to that in which he acts tcwards others."

—George H. Mead : *A behavioristic account of the significant symbol in Journal of Philosophy (1922).*

2. "The individual experiences himself as such, not dirctly, but only indirectly, from the particular stand points of other individual members of the same social group.........."

—Ibid

से है। इसी के माध्यम से समाज में सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मीड आत्म के विकास की दो अवस्थाएँ मानता है। (अ) स्वयं के आत्म के प्रति दूसरे व्यक्तियों के विशिष्ट व्यवहारों का संगठन तथा (ब) स्वयं के आत्म के प्रति सामान्यीकृत अन्य के सामाजिक रुखों अथवा व्यवहारों का समाविष्ट। व्यक्ति के पूर्ण आत्म के विकास के लिये यह आवश्यक है कि दूसरों के विशिष्ट व्यवहारों का संगठन एवं उनका सामान्यीकरण किया जाय। मीड के सिद्धान्त का निष्कर्ष यही है कि संगठित आत्म का विकास केवल सामान्यीकृत सामाजिक रुखों के आधार पर ही किया जा सकता है।

फ्रायड का परा अहम् का सिद्धान्त
(Freud's Theory of Super Ego)

फ्रायड ने सामाजीकरण के संदर्भ में काम-प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। काम-प्रवृत्तियाँ, जिन्हें फ्रायड 'लिबिडो' (Libido) कहता है, मनुष्य के समस्त सामाजिक अन्तः क्रियाओं को संचालित करती हैं। मानवीय जीवन के सभी सामाजिक और असामाजिक कृत्य इन प्रवृत्तियों के ही अन्तर्गत आते हैं। फ्रायड की इस विवेचना के तीन प्रमुख विन्दु हैं—इदम् (Id), परा अहम् (Super Ego) और अहम् (Ego)। इदम् के अन्तर्गत मनुष्य पशुवत काम प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है। वह अपनी काम वासनाओं की पूर्ति के लिये किसी भी नीति-अनीति अथवा सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करने के लिये तत्पर रहता है। परा अहम् में मनुष्य की काम प्रवृत्तियों पर सामाजिक मर्यादाओं का नियंत्रण रहता है और उसी के अनुसार मनुष्य को अपनी काम वासनाओं का दमन करना पड़ता है। अहम् का आधार तार्किक है। यह अपनी बौद्धिक और विचारशील क्रियाओं से मनुष्य की पशुवत प्रवृत्तियों और सामाजिक मान्यताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।

फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार उपरिकथित प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य सामाजिक व्यवहार करता है और इसी प्रक्रिया में उसका सामाजीकरण होता चलता है। बच्चा जैसे-जैसे कामुकता से प्रभावित होता है वैसे वैसे प्रत्येक अवस्था के समकक्ष से, उसे सामाजिक उपलब्धियाँ प्राप्त होती

रहती हैं। ये उपलब्धियाँ सामाजिक आदर्शों, मूल्यों एवं प्रथाओं से नियंत्रित रहती हैं। अर्थात मनुष्य को अपने बालकालीन जीवन से ही अपनी प्रवृतियों को लेकर इनके साथ समंजन करना पड़ता है। यही समंजन उसका सामाजीकरण करता है। समाज के नियम और आदेश व्यक्ति में जो नियन्त्रात्मक विवेक स्थापित करते हैं, उसे फ्रायड ने परा अहम् की संज्ञा दी है। परा अहम् ही वह यन्त्र है जो अन्तरात्मा के रुप में व्यक्ति के व्यवहारों को संचालित करता है। जो कुछ समाज विरोधी इच्छाएँ हैं वे मूल प्रवृत्तिआत्मक प्रेरणायें हैं या कामवासना की प्रेरणायें हैं, उन सबको दमित करना परा अहम् का कार्य है। वास्तव में परा अहम् ही सामाजिक नियन्त्रण है। व्यक्ति इसी के द्वारा सामाजीकृत होता है।

Selected Readings

1. K. Young : A Handbook of Social Psychology.
2. V. V Akolkar : Social Psychology.
3. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
4. E. S. Bogardus : Sociology.
5. H. M. Johnson : Sociology.
6. Emile Durkheim : Sociology and Philosophy.
7. Emile Durkheim : The Elementry Forms of Religious Life.

Questions.

१. सामाजीकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख विद्वानों के मतों की विवेचना कीजिए।
Clarify the meaning of socialization. Discuss the views of some prominent scholars on socialization process.

२. सामाजीकरण से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट करते हुए सामाजीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।
What do you understand by socialization ? Explain and mention the process of socialization.

३. बालक के सामाजीकरण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
Describe the process of socialization of a child.

४. सामाजीकरण के अभिकरणों का वर्णन कीजिए।
Describe the agencies of socialization.

५. बालक के सामाजीकरण में परिवार की महत्ता प्रदर्शित कीजिए।
Show the importance of the family in the socialization of the child.

६. "सामाजीकरण उस समस्या की ओर संकेत करता है जो मानव जीवन में पुरानी एवं व्यापक है—यह समस्या कि बच्चों का पालन किस प्रकार हो जिससे वे अपने समाज के पूर्ण वयस्क सदस्य बन जाएँ।" समालोचना कीजिए।
"Socialization refers to a problem which is old and pervasive in human life—the problem of how to rear children so that they will become adequate adult members of the society to which they belong." Comment.

७. हमारे समाज में व्यक्ति का सामाजीकरण करने वाली कौन-कौन सी संस्थाएं मुख्य हैं ? उनमें कौन-कौन सी संस्थाएं आपके विचार से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं और क्यों ?
In our society what are the chief institutions which have to do with the socializing of the individual? Which of those do you consider the most important and why?

८. समाजीकरण के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
Discuss some important theories of socialization.

९. सामाजीकरण के सम्बन्ध में फ्रायड तथा मीड के मत की विवेचना कीजिए।
Discuss the views of Freud and Mead on socialization.

अध्याय ८

सामाजिक सीखना
(SOCIAL LEARNING)

जन्म से लेकर मरण तक सीखना मानव में निहित मूलभूत प्रक्रिया है। इसके अभाव में जीवन का क्रमवद्ध ढंग से चलना कठिन हो जाता है। व्यक्ति अपनी मूल क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के आधार पर स्वयं अपने एवं पर्यावरण के मध्य प्रक्रियायें आरम्भ करता है तथा उनसे अनेक उत्तेजनाओं को प्राप्त करता है। भूख लगना तथा बाजार में किसी चीज को देखकर खाने की इच्छा, ये दो प्रकार की उत्तेजना के द्योतक हैं। इन्हीं के आधार पर उत्तेजनाओं की दो श्रेणी हो जाती है जिन्हें आंतरिक एवं वाह्य उत्तेजना की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य के अन्दर इन विभिन्न उत्तेजनाओं की व्यवहार के रूप में प्रतिक्रियायें होती हैं। इन प्रतिक्रियाओं द्वारा वह स्वयं तथा पर्यावरण के मध्य समंजन बनाये रखने का प्रयास करता है। किम्बाल यंग का कहना है, **"सीखना व्यक्ति की अनुकूलन प्रणाली में होने वाले उन परिवर्तनों को कहते हैं जो वाह्य उत्तेजनाओं पर निर्भर होते हैं।"**[1]

---

1. "......Learning consists of changes in the individuals adjustive system that do depend on stimuli arising in the environment."

—K. Young : *A Handbook of Social Psychology*.

सीखने में प्रमुख बात यह है कि वह अर्जित योग्यता प्रदान करता है। इससे व्यवहार में स्थायित्व एवं प्रगतिशीलता प्राप्त होती है। सीखने की प्रक्रिया में अनुभूति का प्राप्त होना तथा उसके द्वारा फिर नवीन व्यवहार का जन्म या प्राचीन व्यवहार में संशोधन होता है। यहाँ एक बात समझ लेने की है कि प्रत्येक व्यवहार में जो परिवर्तन होते हैं, वे सभी सीखने के अन्तर्गत नहीं आते। जैसे चोट लगना, गिरना और मूर्छित हो जाना, यह सीखना नहीं है। सीखने के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने विभिन्न मत दिये हैं, जिनका विवेचन आवश्यक है।

परिभाषायें (Definitions)

सीखने से सम्बन्धित विद्वानों की निम्नलिखित परिभाषायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किम्बाल यंग के अनुसार, **"सीखने का अर्थ व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में होने वाले उन परिवर्तनों से है जो चेतन या अचेतन रूप से नवीन उत्तेजनाओं तथा पुरानी या नवीन प्रतिक्रियाओं के सम्बन्धित होने से उत्पन्न होते हैं।**[1]

सीखने की परिभाषा करते हुए मिकागो ने लिखा है, **"सीखना जैसा कि हम इसको मापते हैं, अभ्यास के कार्य के रूप में सापेक्षतः व्यवहारों में एक स्थायी परिवर्तन है। बहुत से विषयों में, इस परिवर्तन की एक दिशा होती है जो व्यक्ति की तात्कालिक संप्रेरणाओं की स्थिति को संतुष्ट करती है।"**[2]

---

1. Learning may be defined as a change in response system brought about by deliberate or unconscious linkage or association of new stimuli and old or new responses."

—Ibid.

2. "Learning as we measure it, is relatively permanent change in behaviours as a function of practice. In most cases, this change has a direction which satisfies the current motivational condition of the individual."

—Michaego.

मनुष्य की सभी सीखने की प्रक्रिया को वैसे सामाजिक सीखना ही कहा जाता है लेकिन किम्बाल यंग के अनुसार समाज के निश्चित तथ्य को सीखना ही सामाजिक सीखना कहा जाता है। सामाजिक सीखने की परिभाषा देते हुए यंग ने लिखा है, "**सामाजिक सीखना कुशलता, तथ्यों और मूल्यों की प्राप्ति की ओर संकेत करता है जो हमारे अभ्यास से अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप आता है**"।[1]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सीखना एक सहज क्रिया नहीं है तथा इसका सम्बन्ध किसी प्रयोजन से होता है। सीखना शारीरिक या मानसिक, वाह्य या आंतरिक, स्तर पर अभियोजन की एक प्रक्रिया है। इसके फलस्वरूप मानव व्यवहारों में हुए परिवर्तन क्षणिक एवं स्थायित्व लिए हुये होते हैं। व्यक्ति अपने सीखने के क्रम में सामाजिक, असामाजिक, ठीक या गलत, स्वेच्छा या अनिच्छा को अपनाता है।

सीखने की सीमा इतनी व्यापक है कि वह मनुष्य के जीवनपर्यन्त चलती रहती है फिर भी वह अपूर्ण ही रह जाती है। शारीरिक परिपक्वता के साथ बौद्धिकता की पुष्टि मानी जाती है, लेकिन सीखने की पूर्णता नहीं। सीखने को कभी-कभी अनुभव से भी जोड़ा जाता है लेकिन इसमें अन्तर है। अनुभव आंतरिक प्रेरणा श्रोत है जो कि सीखने को ग्रहण करता है या ग्रहणीय सीख को व्यवहार के रूप में प्रदर्शित करता है। इस प्रकार सीखना व्यवहार के परिवर्तन से सम्बन्धित है।

व्यवहार की इकाइयां
(Units of Behaviour)

क्रियाशील व्यवहार की इकाई प्रतिक्रिया (Response) है। इन्ही व्यवहारों में परिवर्तन का सम्बन्ध सीखने से है। इसी स्थान पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि व्यवहार के किस भाग को इकाई मानकर 'सीखने' का अध्ययन प्रारंभ किया जाय ? इस दृष्टिकोण से किम्बाल यंग की बात स्पष्ट

1. "Social learning refers to the acquisition of skills, facts and values which comes about as a result of practice in our contact with other persons."
—K. young : *A Handbook of Social Psychology*.

है कि प्रतिक्रिया को ही व्यवहार की मूल इकाई माना जा सकता है। यंग के मतानुसार "प्रतिक्रियायें किसी निर्दिष्ट दिशा में कार्य परिवर्तन हैं जो कि मांसपेशियों की गति के प्रभाव या ग्रंथियों के रस रूपी पदार्थ से परिवर्तित होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रिया एक गति भी है जो किसी विशिष्ट उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न के लिए की जाती है।"[1]

प्रतिक्रियायें चालकों (Drives) को संतुष्ट करती है। जब संतुष्टि की एक क्रिया समाप्त हो जाती है तो चालक फिर अभाव बोध प्रस्तुत करते हैं और ये अभाव बोध उत्तेजना के रूप में सामने आते हैं; इस प्रकार उत्तेजना प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाती है। सीखने का सिद्धान्त यह बताने का प्रयत्न करता है कि किस प्रकार उत्तेजना परिवर्तन लाती है और प्रतिक्रिया को उत्पन्न करती है।

प्रतिक्रिया या प्रतिवचन के प्रकार
(Types of Responses)

किम्बाल यंग के अनुसार प्रतिक्रियाओं की विवेचना दो प्रकार से की जा सकती है।

(१) यांत्रिक प्रतिक्रियायें (Instrumental Responses)
(२) सांकेतिक प्रतिक्रियायें (Cue producing Respones)

यांत्रिक प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में किम्बाल यंग ने लिखा है, "यांत्रिक प्रतिक्रिया वह है जिसका प्रमुख कार्य सावयव के वाह्य पर्यावरण के सम्बन्ध में तात्कालिक रुपान्तर उत्पन्न करना है।"[2]

---

1. "Responses are activity changes in a given direction influenced by movements of muscles or by the secretions of glands. Moreover, a response is also a movement as it is carried out in attempting to achieve some specified end or goal".

—Ibid

2. "An instrument response is one whose chief function is to produce immediate modification in the relationship of the orgnism to its external environment."

—Ibid

इसके उदाहरण के लिए मानव के वाह्य व्यवहार आते हैं जैसे साइकिल चलाना, कलम से लिखना आदि।

सांकेतिक प्रतिक्रिया यंग से अनुसार, **"संकेत उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का कार्य अन्य प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तेजना के रूप में कार्य करना होता है।"**[1]

यह एक ऐसी उत्तेजना है जो दूसरी प्रतिक्रिया की ओर संकेत करती है और साथ ही साथ उसे उत्पन्न भी करती है।

लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज
(Habit Family)

किसी एक मान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जब कर्ता उन्मुख होकर कार्य करना प्रारम्भ करता है तो उसे केवल एक ही कार्य द्वारा अपनी लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो पाती। फलस्वरूप उसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं तथा ये सभी कार्य सम्बन्धित होते हैं। इन्हीं कार्यों के पुन्ज को 'लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज' की संज्ञा दी जाती है। एक कार्य से सम्बन्धित दूसरे कार्य को ही प्रथम कार्य की प्रतिक्रिया कहते हैं। इस प्रकार क्रिया एवं प्रतिक्रिया का क्रम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लगातार बना रहता है। अभी तक मुख्य रूप से एकाकी प्रतिक्रिया का ही अध्ययन किया गया है। जब कोई प्रतिक्रिया उत्तेजक उत्पन्न करता है, तो वह केवल माँसपेशियों के पुन्ज से ही सम्बन्धित होता है। इस पुन्ज का मुख्य उद्देश्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है। मानव व्यवहार सदैव अस्थिर एवं परिवर्तनीय होता है। यहां पर एक शंका उत्पन्न होती है कि जब प्रतिक्रिया निश्चित एवं स्थिर होती है तो मानव व्यवहार के परिवर्तनशील होने का क्या कारण है? इस समस्या के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिकों ने लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज का अध्ययन किया है। लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज को प्रतिक्रियाओं की एक व्यवस्था भी कहा जाता है। किम्बाल यंग के मतानुसार, **"लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज साधारणतः प्रतिक्रियाओं का एक वर्ग है, और यह वर्ग, व्यक्ति प्रतिक्रियाओं के**

1. The function of cue-producing response is to act as a stimulus for another response."

—Ibid

समान कुछ विशिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों की ओर संकेत द्वारा परिभाषित किया जाता है।"[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिक्रियाओं एवं लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुजं में भेद है क्यों कि लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया अनेक प्रतिक्रियाओं का पुञ्ज होता है; और यदि प्रतिक्रियायें न हों तो लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज का निर्माण ही संभव नहीं हो सकता। समाज के सभी कार्यों का यदि विश्लेषण किया जाय तो वे एक प्रकार से लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज की कोटि में ही आयेंगे। एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अनेक कार्य करते हुये अग्रसर रहता है। उदाहरण के लिये पारसन्स द्वारा दिये गये सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त में कर्ता की लक्ष्य तक पहुंचने की प्रक्रिया लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पारसन्स ने एक शैलानी का उदाहरण दिया है, जो अपनी मोटर कार को मछली के शिकार के लिए एक झील की ओर ले जाता है। इस व्यवहार को सामाजिक क्रिया सिद्धान्त द्वारा चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. मछली का शिकार—'लक्ष्य'—जिसके लिए मानव व्यवहार करता है।
२. मछलियाँ जहाँ हैं—'परिस्थिति'
३. कई रास्तों में से एक का 'चुनाव'
४. गाड़ी का परिचालन—'प्रयत्न'

जब व्यवहार की व्याख्या इस प्रकार की जाती है तो प्रतिक्रियाओं का एक समूह सामने आता है जो कि आपस में सम्बन्धित भी है। अतः सभी मिलकर लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्ज के अन्तर्गत आते हैं। एक प्रतिक्रिया में परिवर्तन लाने पर इकाई के अन्य प्रतिक्रियाओं में भी परिवर्तन लाना पड़ता है। अतः जो नियम एक प्रतिक्रिया के लिए लागू होगा, वही समस्त लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुञ्ज के लिए लागू होगा।

मनुष्य जो कुछ सीखता है वह इन सिद्धान्तों के आधार पर ही दूसरे मनुष्यों से सीखता है। परिस्थितियों के प्रभाव के कारण व्यवहार में होने

1. "The habit family is simply a class of responses; and this class, like the individual response, is defined by reference to some specified goal or end".

—Ibid

वाले परिवर्तनों को हम 'सीखना' कहते हैं। व्यवहार सदैव किसी न किसी स्थिति तथा वस्तु से सम्बन्धित होता है। ये स्थितियाँ तथा वस्तुयें ही उद्देश्यों का निर्माण करती हैं। उद्देश्य को आधार मान कर किसी भी व्यवहार का अध्ययन संभव है। उद्देश्य एक नहीं बल्कि अनेक इकाइयों से संगठित होकर कार्य करते हैं, इसलिये मनोवैज्ञानिकों ने व्यवहार प्रतिक्रियाओं, लक्ष्य उन्मुख प्रतिक्रिया पुन्जों एवं इनकी इकाइयों में विभेद करके 'सीखने' के मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं कारकों का अध्ययन करना चाहा है।

सीखने के प्रकार
(Types of Learning)

सीखने की प्रक्रिया मनुष्य के चेतन, अचेतन दोनों रूपों में चलती रहती है। कभी उसका सीखना जानबूझ कर तथा कभी अनजाने में होता रहता है। अतः सीखने के अनेक प्रकार होते हैं; जिनसे मनुष्य सदैव कुछ सीखता रहता है। सीखने के निम्नलिखित प्रकारों का सामाजिक जीवन में बहुत महत्व हैं।

(i) सक्रिय एवं निष्क्रिय सीखना (Active and Passive Learning.)
(ii) आंतरिक प्रेरणाश्रोत द्वारा सीखना (Learning by Insight.)
(iii) प्रयत्न एवं भूल से सीखना (Learning by Trial and Error)
(iv) पूर्व सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन सीखना(Conditioned Learning)
(v) आकारात्मक सीखना (Configurational Learning)
(vi) प्रतीकात्मक सीखना (Symbolic Learning)

१. **सक्रिय एवं निष्क्रिय सीखना** (Active and Passive Learning) व्यक्ति अपने प्रतिमानित लक्ष्य को पाने के लिए जब जानबूझकर अपने एवं पर्यावरण में अनुकूलन बनाये रखता है, तो उसे जो कुछ इससे सीख मिलती है, उसे सक्रिय सीखना कहते हैं। इस प्रकार के सीखने में चेतन रूप से व्यवहार किया जाता है, तथा व्यवहार का सामंजस्य अनुकूलन के पक्ष में सजग होता है, जो कि प्रयत्न चेतना पर आधारित होता है। इसे सक्रिय सीखना कहा जाता है।

निष्क्रिय सीखने के अंतर्गत व्यक्ति को यह आभास नहीं हो पाता कि उसके तथा पर्यावरण के बीच अनुकूलन हो पा रहा है अथवा नहीं लेकिन अनुकूलन क्रिया बराबर होती रहती है। इसे निष्क्रिय सीखना कहा जाता है। जीवन में व्यक्ति प्रायः ऐसे अनेक व्यवहार कर बैठता है जिसकी वह आशा भी नहीं करता और स्वयं उसे आश्चर्य होता है। अतः ऐसा परिणाम जो कि अचेतन व्यवहार द्वारा एक नया स्वरूप प्रकट करे एवं चेतना में स्थिर भी जो जाये, निष्क्रिय सीखना कहा जाता है।

अंत में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सक्रिय एवं निष्क्रिय सीखना कभी एक दूसरे से अलग नहीं रहते। दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। व्यक्ति अनेक उत्तेजनाओं को चेतन एवं अचेतन दोनों रूपों से प्राप्त करता है। अचेतन रूप से प्राप्त उत्तेजनायें अचेतन मस्तिष्क में पड़ी रहती हैं लेकिन अवसर मिलने पर व्यवहार को प्रभावित करने लगती हैं। इसी प्रकार चेतन रूप से प्राप्त उत्तेजनायें कभी-कभी अचेतन उत्तेजनाओं से तालमेल कर बैठती हैं और व्यवहार को प्रभावित करती हैं। मानव व्यवहार में अधिकतर योगदन निष्क्रिय सीखने का ही रहता है।

२. आंतरिक प्रेरणाश्रोत द्वारा सीखना (Learning by Insight) आंतरिक प्रेरणा एक ऐसी प्रक्रिया है जो समस्त परिस्थिति के निरीक्षण के फलस्वरूप एकाएक उत्पन्न होती है; अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति तक अविराम गति से चलती रहती है। अंतर्दृष्टि द्वारा सीखने में मानसिक क्रिया का अत्यन्त महत्व है।

गैस्टाल्ट का मत है कि कभी कभी मनुष्य के मस्तिष्क में किसी समस्या का हल बिना कोई चेतन अथवा अचेतन प्रयत्न किये ही अचानक प्रकट हो जाता है। इसको अंतर्दृष्टि द्वारा सीखना कहते हैं।

किम्बाल यंग का मत है कि कभी-कभी विज्ञान, साहित्य, गणित आदि के क्षेत्रों में किसी समस्या का हल अचानक सूझ जाता है। किन्तु इसे कोई दैवी शक्ति या रहस्य नहीं माना जा सकता। उसके अनुसार अन्तर्दृष्टि द्वारा किसी समस्या के बारे में अचानक ज्ञान हो जाना प्रयत्न तथा भूल द्वारा सीखने से मिलता जुलता है।

हिल्गार्ड ने अंतर्दृष्टि को विकसित होने के निम्न तत्वों को सहायक माना है।

(i) अन्तर्दृष्टि प्राणी की क्षमता पर आधारित होती है।
(ii) भूतकालीन अनुभव इसके लिये सहायक होते हैं।
(iii) पूर्ण परिस्थिति के तत्वों का प्रभाव पड़ता है।
(iv) खोजबीन एवं हिचकिचाहट का क्रम बना रहता है। गलत सही होते-होते उचित तथ्य प्राप्त होते हैं।
(v) उचित क्रिया के बारबार होने पर अंतर्दृष्टि विकसित होती है।
(vi) अंतर्दृष्टि द्वारा प्राप्त क्षमता का प्रयोग दूसरे सूझ के लिए सहायक होता है।

३. **प्रयत्न एवं भूल से सीखना** (Learning by Trial and Error) व्यक्ति किसी उद्देश्य को लेकर प्रयत्नशील रहता है और उसके लिए वह बार-बार प्रयत्न करता है, लेकिन भूल हो जाने के कारण उसे प्राप्त करने में असफल रहता है। विद्वानों का कहना है कि यदि भूल न हो, तो किसी भी प्रकार का विकास संभव नहीं होता है। अतः भूल मानव मस्तिष्क के विकास के लिए आवश्यक समझी जाती है। व्यक्ति जब अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है तो उसे एक प्रकार का संतोष प्राप्त होता है। यह संतोष एक ही बार की क्रिया से होता है लेकिन उसके पीछे वह अनेक गलतियां भी करता है। इस प्रकार त्रुटियों की संख्या अधिक एवं सही की संख्या कम होती है। प्रयत्न एवं भूल से सीखने में मानसिक क्रिया का बहुत कम हाथ होता है। इसमें अनेक क्रमहीन क्रियायें होती हैं, इसी क्रियाओं में जब मनुष्य को उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है तब वह उसे अपना लेता है। सफलता मिलने से संतोष और संतोषण की भावना पुष्ट होने से पुनः प्रयत्न, जिसके साथ अनेक भूल; यही क्रम बराबर चलता रहता है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व-प्रथम थार्नडाइक नें किया और इसका परीक्षण अनेक पशुओं पर किया और परिणाम यह निकाला कि पशुओं में अनुकरण शक्ति नहीं होती। दूसरा यह कि वे विचारों का प्रयोग नहीं करते बल्कि 'प्रयत्न एवं भूल' से ही वे सीखते हैं। इसके अंतर्गत थार्नडाइक ने तीन नियम निर्दिष्ट किये जो कि अंतर्सम्बन्धित भी हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

(i) संतोषण का नियम (Law of Effect)
(ii) अभ्यास का नियम (Law of Exercise)

(iii) तत्परता का नियम (Law of Readiness)

'संतोषण का नियम,' अभ्यास के नियम से आगे है, क्योंकि बार-बार क्रिया करके कोई चीज सीखी जाती है। जब भूल अधिक होती है और निपुणता एक बार में ही प्राप्त हो जाती है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि व्यक्ति उस निपुणता से पारंगत हो जाता है। उसकी पुष्टि के लिए उसका अभ्यास आवश्यक होता है। इस प्रकार संतोषण के बाद अभ्यास का नियम काम करता है। तत्परता का नियम सीखने का आवश्यक पहलू है क्यों कि यदि व्यक्ति किसी कार्य के लिए तत्पर ही नहीं होता और न प्रयत्न करता है और न भूल ही, न संतोष ही प्राप्त करता है तो अभ्यास का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। कभी-कभी ऐसा हम सभी अनुभव करते हैं कि चीज सामने रहती है लेकिन बिना तत्परतापूर्ण दृष्टि डाले हम उसे नहीं देख पाते। हम जिस चीज को जैसा देखते हैं वह उसी प्रकार दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ किसी अपरचित व्यक्ति को एकाएक देखकर हम कुछ भी कल्पना कर बैठते हैं, जबकि वह उस कल्पना से भिन्न होता है।

'अभ्यास के नियम' को २ भाग में बाँटा जा सकता है—

(अ) उपयोगिता पूर्ण अभ्यास का नियम।

(ब) अनुपयोगितापूर्ण अभ्यास का नियम।

उपयोगिता पूर्ण अभ्यास के अंतर्गत एकही परिस्थिति में एकही कार्य बार-बार किया जाता है; इस प्रकार के अभ्यास से दोनों में दृढ़ता पैदा होती है जो कि बहुत उपयोगी है।

उपरोक्त नियम के विपरीत परिस्थितियाँ एवं प्रतिक्रियायें भिन्न भिन्न होती हैं और अक्रमिक ढंग से व्यक्ति समाज में सीखता रहता है।

४. **पूर्व सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन सीखना** (Conditioned Learning) इस सिद्धान्त में कुछ शर्तों द्वारा सीखने की क्रिया को नियंत्रित किया जाता है ताकि भूल कम हो और व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। उद्देश्य की प्राप्ति से जो संतुष्टि की भावना पैदा होती है, वह ठीक व्यवहार को मस्तिष्क में संजो लेती है, और फिर उस व्यवहार की पुनरावृत्ति से अपने लक्ष्य की ओर संकेत करती है, जिससे उसे संतोष प्राप्त होता है। इस क्रिया को पावलव (रूसी मनोवैज्ञानिक) ने एक कुत्ते को घंटी बजने पर लार टपकाना सिखाया था।

पावलव ने इसी सिद्धान्त के आधार पर असामान्य. व्यवहार एवं आदत–निर्माण के विकास की व्याख्या भी की है। उसके अनुसार व्यवहारों का प्रतिक्षेपण एवं उसके प्रत्युत्तर में उस परिस्थिति या दशा का आभास होना इसमें देखने में आता है। इन्होंने इस बात को भी कहा है कि बालकों में आदत डालना, अपने अधिकार क्षेत्र में अनुशासन आदि सभी इसी पूर्व सम्बन्ध प्रत्यावर्तन के ही उदाहरण हैं।

५. **आकारात्मक सीखना** (Configurational Learning) इस प्रकार के सीखने को महत्व देने वाले विद्वानों में सर्वप्रथम गैस्टाल्ट (Gastalt) आते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति सीखने की क्रिया को अपनाने से वह किसी एक कारक को आधार नहीं मानता। एक परिस्थिति विशेष में अनेक कारक होते हैं और जब इन सभी कारकों की इकाइयों को एक-रूपता प्रदान की जाती है तो उसे पूर्ण परिस्थिति या आकार कहते हैं। इसी के अन्तर्गत व्यक्ति सीखता है। जैसे एक बालक जब पैदा होता है, तब माँ की गोद से सीखना प्रारंभ करता है और क्रमशः उसका विकास होता रहता है और वह अनेक परिस्थितियों से गुजरता है; जिसमें उसके सीखने का क्रम जारी रहता है। सीखने में परिवार के सदस्य, घर, पास पड़ौस, आदि सभी परिस्थिति की इकाइयाँ हैं और इन सभी को एक आकार मान कर ही परिवार को बालक की प्रारम्भिक पाठशाला कहा जाता है।

६. **प्रतीकात्मक सीखना** (Symbolic Learning) मनुष्य ही प्रतीकों का सृजन करता है और उसी से सीखता भी है। 'ह्वाइट' ने प्रतीक की परिभाषा देते हुए लिखा है कि **"प्रतीक वह वस्तु है, जिसको मूल्य या अर्थ उसके प्रयोगकर्ता द्वारा प्रदान किया जाता है"**। प्रतीक अपने अर्थ बोध-गुण द्वारा ही व्यक्ति के सीखने का एक साधन बन जाता है। वस्तुतः अर्थ की स्थापना के अभाव में प्रतीक एक चिह्न या मूर्त वस्तु के रूप में ही होता है।

प्रतीक द्वारा सीखना सबसे जटिल सीखना है, लेकिन साथ ही यह सब सीखने के प्रकारों में श्रेष्ठ है। प्रतीक को प्रोफेसर मुकर्जी ने दो भागों में बाँटा है।

(अ) वास्तविक तथा

(ब) अमूर्त

वास्तविक—प्रतीकों के अंतर्गत, झण्डा, सीटी, सिगनल आदि आते हैं।

अमूर्त—प्रतीकों में सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों, प्रवृत्तियों आदि को लिया जाता है।

प्रतीकात्मक सीखने में प्रतीकों को मस्तिष्क में तर्क तथा युक्ति द्वारा सम्बन्धित करके किसी समस्या का हल निकाला जाता है। तर्क में हम भाषा का प्रयोग करते हैं जो कि हमारे विचारों का प्रतीक है। राष्ट्रीय झण्डा राष्ट्रीयता का प्रतीक है क्योंकि उस पर बने चक्र से हमारे मन में तर्क उठता है और राष्ट्रीयता की भावना पैदा होती है और राष्ट्रीयता की भावना का झण्डे को देखकर सीखना ही प्रतीकात्मक सीखने का एक उदाहरण है।

सीखने के प्रकार में एक प्रकार अंतर्दृष्टि द्वारा सीखने का भी है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। अंतर्दृष्टि के समान विचार एवं तर्क भी कोई दैवी शक्ति नहीं है। विचार एवं तर्क का प्रतीकात्मक सीखने में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। हमारे विचार ही प्रतीक हैं। जैसे-जैसे हम प्रत्येक गुण-दोष आदि का निरीक्षण-परीक्षण प्रारंभ करते हैं वैसे-वैसे विचार की विकसित अवस्था मानी जाती है। व्यक्ति की विचार शक्ति एवं तर्क शक्ति की निर्भरता निम्नलिखित चार बातों पर निर्भर करती है।

१. प्रत्यक्ष अनुभव एवं प्रतिक्रियाओं में नवीनता।
२. स्मृति एवं उसकी क्षमतायें (धारणा, स्मरण, तथा पहचान)
३. मस्तिष्क का विकास एवं उसमें समावेशित अनुभवों का आपसी सम्बन्ध; जिनसे विचारों एवं तर्क शक्ति में वृद्धि हो सके।
४. अन्य प्रतीक जो कि तर्क एवं विचारों को बल प्रदान करते हैं।

सीखने के सिद्धान्त
(Theories of Learning)

सीखने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं :

१. थार्नडाइक का प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त।
   (Thorndike's theory of Trial and Error)
२. इवान पावलव का सम्वद्ध प्रत्यावर्तन सिद्धान्त।
   (Pavlov's theory of Conditioning)

३. हल का सीखना सिद्धान्त ।
(Hull's theory of Learning.)

४. कोहलर का सूझ का सिद्धान्त ।
(Kohler's theory of Insight Learning)

१. थार्नडाइक का प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त (Thorndike's theory of Trial and Error) मनुष्य प्रयत्न किसी न किसी रूप में लगातार करता रहता है और जिन प्रयत्नों से उसे सफलता प्राप्त होती है उसे वह अपना एक व्यावहारिक अंग बना लेता है। इस सिद्धान्त में थार्नडाइक ने सीखने के प्रभाव (Effect) तथा स्थान पूर्ति (Substitution) को प्रमुख स्थान दिया है। उसने यह भी बताया है कि प्रभाव के अलावा अभ्यास (Exercise) तथा प्रयोग (Use) भी सीखने में बहुत ही अधिक योगदान देते हैं अर्थात् स्थिति एवं प्रतिक्रिया की बार बार पुनरावृत्ति उनके सम्बन्ध को दृढ़ बनाती है।

थार्नडाइक इस सिद्धान्त में यह बताता है कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर सर्वप्रथम व्यक्ति में लक्ष्य की कामना जिसमें तत्परता निहित रहती है; इसके बाद प्रयत्न जिस पर लक्ष्य आधारित होता है; और अन्त में संतोषण जिसकी प्राप्ति वह करता है, इन्हीं सभी का मिश्रित योग ही प्रयत्न एवं भूल का सिद्धान्त है।

थार्नडाइक ने अनेक प्रयोग पशुओं पर किये और सिद्ध किया कि पशुओं का सीखना 'प्रयत्न एवं भूल' पर ही निर्भर करता है। अपने प्रयोग में वह उलझन बाक्स का प्रयोग करता था जिसकी सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुंचता था कि पशु उससे बाहर निकलने के लिए किस-किस प्रकार की प्रतिक्रियायें करता है।

एक उलझन बाक्स में उसने एक भूखी बिल्ली को बन्द किया और एक मछली का टुकड़ा उस बाक्स से कुछ दूरी पर रख दिया, बाक्स के अन्दर एक ऐसा बटन था जिसके दबाने से उसका दरवाजा खुल जाता था। बिल्ली ने उसमें से बाहर निकलने के अनेक प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। अनेक प्रयत्नों के बाद एकाएक उसका पंजा उस बटन पर पड़ा और दरवाजा खुल गया, वह बाहर निकल आई। दूसरी बार सी में फिर बन्द किया; इस बार उसे प्रथम बार से कम प्रयत्न करना पड़ा। थोड़े से प्रयत्न से ही बटन दब गया और वह बाहर निकल आयी।

ऊपर के प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रयत्नों में व्यर्थ प्रयत्नों को पशु भी छोड़ते जाते हैं। अपने सिद्धान्त की सत्यता के लिये थार्नडाइक ने 'संतोष का नियम' (Law of Effect) नामक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसके अनुसार **"किसी प्रतिक्रिया स्वरूप प्राप्त सफलता या संतोष उस स्थिति एवं प्रतिक्रिया में आपसी संबंध को दृढ़ करती है तथा असफलतायें या असंतोष के आपसी सम्बन्ध को ढीली कर देतीं हैं; इसके साथ ही उनके दुबारा होने का कोई स्थान भी रिक्त नहीं रह जाता है।"**

ऊपर के उदाहरण में मुख्य दो बातें हैं जिसमें एक 'संतोष का नियम' तथा दूसरा 'अभ्यास का नियम' (Law of Exercise) है। पहली बात की चर्चा ऊपर हो चुकी है। दूसरी बात 'अभ्यास का नियम' के अन्तर्गत उदाहरण में बिल्ली के क्रमशः अभ्यास की प्रक्रिया से व्यर्थ व्यवहारों पर रोक या कमी का होना स्पष्ट होता है। यदि क्रिया की पुनरावृत्ति से ही कोई चीज सीखी जाती है, तो गलत क्रिया बहुत बार होती है और सही प्रतिक्रिया पहली ही बार में दृढ़ हो जाती है क्यों कि सही क्रिया से संतोष प्राप्त होता है। इस अभ्यास के द्वारा आदत या स्वभाव का भी निर्माण होता है।

उपरोक्त नियमों के अतिरिक्त थार्नडाइक ने एक तीसरा नियम भी बताया है जिसे 'तत्परताका नियम' (Law of Readiness) कहते हैं। इसका वर्णन सीखने के प्रकार में भलि-भांति हो चुका है।

२. **पावलव का सम्बद्ध प्रत्यावर्तन सिद्धान्त** (Pavlov's theory of Conditioning) यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है परन्तु इसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय इवान पावलव को है। इसके आधार पर उसने यह समझाने का प्रयास किया है कि इन्द्रिय-उत्तेजनाओं और पिण्ड-प्रतिकियाओं का मापन एवं नियन्त्रित दशाओं की तुलना सम्भव है। इस सिद्धान्त में अभ्यास के नियम का बहुत अधिक प्रभाव रहता है, क्यों कि क्रियाओं के बार-बार होने से ग्रहण-शीलता और कर्मइन्द्रियों में आपसी सम्बन्ध दृढ़ होते हैं।

पावलव ने इस सिद्धान्त की पुष्टि एक कुत्ते के ऊपर प्रयोग करके की है। उसने एक कुत्ते को एक ऐसे कमरे में बन्द किया, जहाँ पर किसी बाहरी आवाज का जाना संभव नहीं था। वह कुत्ते को भोजन देने के पहले एक घण्टी बजाता था। घण्टी की आवाज सुनते ही कुत्ता भोजन के लिये तैयार

हो जाता था। इस क्रिया के बार-बार होने से कुत्ता घन्टी की आवाज सुनते ही भोजन के लिये तैयार हो जाता था। कुछ समय पश्चात कुत्ता एक निश्चित परिस्थिति से अवगत हो गया और वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न होने पर वैसा ही व्यवहार करता था।

पावलव सम्पूर्ण सीखने के प्रकार के मूल में सहज क्रियाओं के सम्बद्ध प्रत्युतर प्रतिक्रिया (Conditioned Response) को ही मानता है। उसके अनुसार, **"अलग अलग तरह की आदतें, जो किसी प्रकार के प्रशिक्षण, शिक्षा अथवा अनुशासन पर आधारित है, सम्बन्द्ध प्रत्यावर्तन की एक लम्बी शृङ्खला मात्र है।"**[1]

सम्बद्ध प्रत्यावर्तन से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों का विशेष रुप से ध्यान रखना चाहिये :

१. इस सिद्धान्त के प्रयोग के समय किसी अन्य बाधक उत्तेजक को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये।

२. किसी भी उत्तेजक द्वारा एक ही क्रिया को सम्पादित किया जा सकता है। जैसे घंटी बजने के स्थान पर किसी अन्य आवाज से भी अभ्यास कराया जा सकता है।

३. इस प्रतिक्रिया को समाप्त करने के लिए अस्वाभाविक उत्तेजक को अनेक बार उपस्थित किया जाय। जैसे घन्टी तो बजायी जाए, लेकिन कुत्ते को भोजन न दिया जाय। बार-बार करने से कुत्ते को यह ज्ञात हो जायेगा कि घन्टी की आवाज पर उसे भोजन नहीं मिलेगा।

३. हल का सीखना सिद्धान्त (Hull's theory of Learning)

पिछले दो सिद्धान्तों में थार्नडाइक ने प्रभाव (Effect) को तथा पावलव ने स्थान पूर्ति (Substitution) को अधिक महत्व दिया है। हल का कहना है कि मनुष्य को प्रेरणा अन्य उपकरणों द्वारा भी प्रदान की जा सकती है, जिससे वह सीखने की क्रिया में रत रहे। इस

1, "Different kinds of habits based on training, education and discipline of any sort are nothing but a long chain of conditioned reflexes"

Pavlov.

उपकरण में उसने निम्नलिखित बातों को मान्यता प्रदान की है। उसके 'सीखने के सिद्धान्त' को यदि निम्नलिखित चार भागों में विभाजित कर दिया जाए तो इससे एक अच्छा एवं सरल सिद्धान्त बन जायेगा।

(क) प्रणोदन (Drive)
(ख) संकेत (Cue)
(ग) प्रतिक्रिया (Response)
(घ) पुरस्कार अथवा दण्ड (Reward or Punishment)

(क) **प्रणोदन (Drive)** डालर्ड तथा मिलर के अनुसार, "**शक्तिशाली उत्तेजनायें जो कार्य को प्रेरित करती हैं, प्रणोदन हैं। कोई भी उत्तेजना यदि वह शक्तिशाली हो तो प्रणोदन बन सकती है। उत्तेजना जितनी अधिक शक्तिशाली होगी उतने ही अधिक इसमें प्रणोदन कार्य होगें।**"[1]

किम्बाल यंग से अनुसार, "**प्रणोदन एक शक्तिशाली उत्तेजना है और सावयव के कुछ असंतुलन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है जो प्रतिक्रिया या प्रत्युत्तर को प्रेरित करती है। कोई भी उत्तेजना यदि वह अधिक शक्तिशाली है तो प्रणोदन हो सकती है। अत्यधिक शक्तिशाली उत्तेजना में अत्यधिक प्रणोदन काम करते हैं।**"[2]

सभी मनुष्यों के अन्दर कुछ ऐसी उत्तेजनायें होती हैं जो अपना विशेष स्थान रखती हैं और सभी को अनुकूल कार्य करने को बाध्य करती हैं। कुछ उत्तेजनाओं को तो मनुष्य दबा भी देता है, लेकिन जब उत्तेजना शक्तिशाली हो जाती है तो उसे रोकना सम्भव नहीं हो पाता। इसे ही प्रणोदन (Drive) कहते हैं। ये प्रणोदन वाह्यजगत से सम्बधित होते हैं।

---

1. "Strong stimuli which impel action are drives. Any stimulus can become a drive if it is made strong enough. The stronger the stimulus, the more drive function it possesses."

—Dollard and Miller.

2. "........a drive is a strong stimulus resulting from some disequilibrium in the organism which impels it to respond or react. If strong enough, any stimulus may become a drive, and the stronger the stimulus the more 'drive function' it has."

—Kimball Young.

व्यक्ति के अन्दर कुछ ऐसे भी प्रणोदन होते हैं जो साधारणतया अन्य उत्तेजनाओं से अधिक शक्ति रखते हैं जैसे भूख, निद्रा, कामेक्षा आदि। चूँकि ये मानव की मूल उत्तेजनायें हैं न कि परिस्थिति जन्य, अतः इन्हें 'मूल उत्तेजक' भी कहा जा सकता है।

तीसरे प्रकार के उत्तेजक मनुष्य को अपनी संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्थाओं से प्राप्त होते हैं जैसे धन, ऐश्वर्य, शिक्षा, मान, प्रतिष्ठा आदि। लेकिन यदि गंभीरता पूर्वक विचार किया जाय तो यह मालुम पड़ेगा कि प्रणोदन मनुष्य की मूल उत्तेजनाओं पर ही आधारित है।

उपरोक्त अनेक प्रणोदन मनुष्य को व्यवहार करने को बाध्य करते हैं। अतः अनुकूलन करने के प्रयत्न ही मानव के नवीन ढंगों को सीखने का द्योतक है।

(ख) संकेत (Cue) डालर्ड और मिलर के मतानुसार, **"प्रणोदन व्यक्ति को प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित करते हैं परन्तु वह कब और कहाँ प्रतिक्रिया करेगा यह संकेत ही निश्चित करते हैं।"[1]**

किम्बाल यंग ने लिखा है, **"संकेत यह निश्चित करते हैं कि व्यक्ति कब, कहाँ और किस प्रतिक्रिया को करेगा।"[2]**

संकेत उत्तेजना पर आधारित होता है। यह कभी-कभी प्रणोदन (Drive) का भी कार्य करता है। इसका मुख्य कार्य यह निर्णय करना होता है कि कौन सी प्रतिक्रिया कहाँ होगी।

(ग) प्रतिक्रिया (Response) प्रतिक्रिया सीखने का तीसरा स्तर है। प्रत्युत्तर व्यक्ति को संकेत ग्रहण करने को बाध्य करते हैं तथा संकेत (Cue) के आधार पर ही प्रणोदनों की प्रतिक्रियायें निर्देशित होती हैं। कोई भी कार्य बिना स्वयं किये शीघ्र सीखने में नहीं आता। जब तक किसी चालक

1. "The drive impels a person to respond. Cues determine when he will respond, where he will respond, and which response he will make."

—Dollard and Miller

2. "The cue determines when, where, and which response an individual will make."

— K. Young

की कार्य रूप में प्रतिक्रिया नहीं होती, तब तक उस कार्य को सीखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण सीखने में प्रतिक्रियाओं का होना आवश्यक है। जिस प्रकार बहुत सी उत्तेजनायें हो सकती हैं, उसी प्रकार प्रतिक्रियायें भी अनेक हो सकती हैं। सभी उत्तेजनायें बराबर शक्ति नहीं रखती इसी कारण यह संभव नहीं कि सभी प्रतिक्रियायें घटित भी हों। किसी भी उत्तेजना की अनेक प्रतिक्रियायें हो सकती हैं।

प्रतिक्रियाओं के घटित होने के आधार पर उनका अपना एक स्तर होता है। कुछ प्रतिक्रियाओं के घटित होने की सम्भावनाय अधिक होती हैं, इन्हें प्रबल प्रतिक्रिया (Dominant Response) कहा जाता है। इसके विपरीत कुछ प्रतिक्रियायें कम संभाव्य होती हैं। अतः इन्हें दुर्बल प्रतिक्रियायें कहा जाता है।

(घ) पुरस्कार अथवा दण्ड (Reward or Punishment) 'प्रयत्न एवं भूल' सीखने के कारक में 'प्रभाव के नियम' का वर्णन किया गया है। यही नियम 'पुरस्कार अथवा दण्ड' के नाम से यहाँ उल्लेखनीय है। हल का कथन है कि प्रतिक्रियाओं की पुनरावृत्ति ही पर्याप्त नहीं होती, परन्तु उससे सुख, संतोष आदि का आभास आवश्यक है। जो प्रतिक्रिया इसकी पूर्ति करती है वह व्यक्ति के अंतरंग में दृढ़ हो जाती है एवं जो प्रतिक्रिया इसके विपरीत अनुभव जन्य होती है उसकी पुनरावृत्ति व्यक्ति कभी नहीं करता। फलस्वरूप उसका आंतरिक स्थायित्व कभी भी संभव नहीं होता।

किसी भी कार्य करने पर उसके पीछे मनुष्य का एक स्वार्थ होता है। इसीलिए कोई भी कार्य बिना पुरस्कार के सम्भव नहीं होता। पुरस्कार की संभावना न होने के कारण व्यक्ति उस कार्य को निर्मूल समझता है। कार्य निर्मूल समझने पर वह कभी भी सम्पादित नहीं होता। अतः सीखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हल द्वारा सीखने के बताये हुए चारों लक्षणों का महत्व सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। इसीलिए हल के सिद्धान्त का विशेष महत्व है।

४. **कोहलर का सूझ का सिद्धान्त** (Kohler's theory of Insight Learning) जब मनुष्य किसी परिस्थिति को समझ लेता है

और फिर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है तो उसे सूझ कहते हैं। इस प्रक्रिया में सम्पूर्ण परिस्थिति को एक नये दृष्टिकोण से देखने के बाद किसी नयी सम्बद्ध परिस्थिति को जन्म दिया जाता है। समस्त परिस्थिति के निरीक्षण के बाद सूझ की प्रतिक्रिया एकाएक उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'कोहलर' ने किया है। मनोवैज्ञानिक होने के नाते मानसिक क्रिया के सम्पूर्ण अध्ययन में उसने सूझ को भी एक अंग माना है। उसका कहना है जब परिस्थिति के निरीक्षण के बाद उस प्रतिक्रिया का प्रादुर्भाव होता है तो यह लक्ष्य की प्राप्ति तब तक अविराम गति से चलती रहती है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रयत्न और भूल के द्वन्द्ववाद में 'सूझ' अवश्य निहित रहता है। व्यक्ति निरन्तर प्रयत्न करता है, इसी प्रयत्न का सफल प्रतिफल सूझ कहा जा सकता है। सूझ को प्राप्त करने के लिए कठिन कार्यों को करने में बहुत अधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं क्योंकि सरल कार्यों में प्रयत्नों की संख्या कम होती है। किसी प्राचीन समस्या को हल करने में अनुभव से भी सूझ का विकास होता है।

सूझ के विकास में हिल्गार्ड ने निम्न तत्वों को प्रमुख माना है :—

(१) यह व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता पर निर्भर रहता है।
(२) व्यक्ति को विगत ज्ञान एवं अनुभूति का होना आवश्यक है।
(३) परिस्थितिक वातावरण से सूझ सम्बन्धित रहता है।
(४) किसी कार्य के करने में दुविधा एवं तलाश, सूझ की जननी कही जाती है। प्रयत्न और भूल होने से सूझ अवश्यम्भावी होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि ये दोनो एक हैं। सूझ, प्रयत्न और भूल से भिन्न है।
(५) सही प्रतिक्रिया को दोहराने से सूझ का विकास होता है।
(६) सूझ एवं अन्तर्दृष्टि नई परिस्थिति में पुरानी परिस्थिति के मेल पर ही सम्भव है।

कोहलर ने थार्नडाइक के इस कथन का कि पशुओं में सूझ नहीं होती का खण्डन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि पशुओं में भी सूझ होती है जो कि अगले पेज पर उद्धृत उदाहरण से स्पष्ट है।

कोहलर ने एक भूखे बनमानुष को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया और एक केला कुछ दूरी पर रक्खा जो कि हाथ से नहीं पाया जा सकता था। पिंजड़े के अन्दर एक डंडा भी रखा गया। पहले बनमानुष ने हाथ पैर फैलाया किन्तु वह केले को न प्राप्त कर सका। फिर वह शान्त बैठा रहा और कुछ देर बाद एकाएक डंडा हाथ में उठाया और केले को खींचकर उसे खा लिया। अतः स्पष्ट है कि यदि उसमें सूझ न होती तो सम्भवतः डंडे का प्रयोग ही न कर पाता।

उपरोक्त सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि जब तक मनुष्य को परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं होता एवं परिस्थिति से सम्बन्धित उसे सभी साधन प्राप्त नहीं रहते, उसमें सूझ का विकास संभव नहीं होता। सूझ के लिए एक संयोजित स्थिति का होना आवश्यक होता है।

सामाजिक सीखने के महत्वपूर्ण अंग एवं कारक
(Significant Aspects and Factors of Social Learning

सीखने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक अंग एवं कारक हैं जिनका महत्व आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। संक्षेप में इनका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है।

लोपीकरण तथा पुनः प्राप्ति (Extinction and Spontaneous Recovery) मानव समाज में अनेक प्रतिक्रियाएँ सीखता है। इन प्रतिक्रियाओं को जब वह बार-बार दुहराता है तो उनमें से अनेक प्रतिक्रियाएँ आदत (Habit) बन जाती हैं। कुछ प्रतिक्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जिनके बार-बार दुहराने से भी वे आदत का रूप धारण नहीं कर पाती हैं। लोपीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए डोलार्ड तथा मिलर ने लिखा है, **"जब किसी प्रतिक्रिया को बिना दण्ड अथवा पुरस्कार के दोहराया जाता है तो उसके कार्य करने की शक्ति क्रमशः घटती जाती है। इसे प्रयोगात्मक लोपीकरण या और भी सरल शब्दों में लोपीकरण कहते हैं।"**[1]

---

1 "When a learned response is repeated without reinforcement, the strength of the tendency to perform that response undergoes a progressive decrease. This decrement is called experimental extinction, or, more simply, extinction."
—Dollard and Miller : *Personality and Psychotheraphy.*

डोलार्ड तथा मिलर के अनुसार सीखी हुई प्रतिक्रियाओं में से आदत का रूप वही धारण कर सकती हैं जिनके दुहराने से मानव को किसी प्रकार की सन्तुष्टि प्राप्त होती है। प्रतिक्रियाओं के दोहराने पर भी यदि मानव को उनसे किसी प्रकार की सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती है, तो शनैः शनैः उस सीखी हुई प्रतिक्रिया विशेष का लोपीकरण होने लगता है। कभी-कभी लोग लोपीकरण तथा 'भूलने' में कोई अन्तर नहीं समझते हैं। परन्तु दोनों में मौलिक अन्तर है जिसको समझ लेना अनिवार्य है। किसी प्रतिक्रिया का बार-बार न दुहाराये जाने की स्थिति में अथवा अभ्यास न होने के परिणामस्वरूप समाप्त हो जाना तो भूलने के अन्तर्गत आता है। परन्तु किसी प्रतिक्रिया को बार-बार दुहराये जाने पर भी उससे कोई सन्तुष्टि न प्राप्त होने की स्थिति में यदि वह समाप्त हो जाती है तो उसे भूलना न कहकर उस प्रतिक्रिया का लोपीकरण (Extinction) कहेंगे।

मानव के किन्हीं प्रतिक्रियाओं के लोपीकरण का अर्थ यह नहीं है कि वह उन्हें दुबारा नहीं प्राप्त कर सकता। प्रायः ऐसा होता है कि कुछ आदतों के लोपीकरण के उपरान्त भी वह फिर से प्राप्त हो जाती है। प्रतिक्रियाओं का लोपीकरण प्रायः कुछ रुकावटों अथवा कुछ निश्चित बाधाओं के कारण होता है। इन रुकावटों अथवा बाधाओं के हट जाने पर लुप्त हुई आदत फिर से प्राप्त हो जाती है। थकावट (Fatigue) इन बाधाओं में मुख्य है।

मनुष्य किसी आदत के लुप्त हो जाने पर ऐसी प्रतिक्रियाओं को करने के लिए बाध्य होता है जो उसकी पुरानी आदत के समानान्तर हो। नवीन प्रतिक्रियाओं को दुहराने से यदि उसे सन्तुष्टि अपनी पुरानी आदत से अधिक मिलती है तो नवीन प्रतिक्रियाएँ मानव की लुप्त हुई आदत को पुनः प्राप्त नहीं करने देती है परन्तु यदि उसे नवीन प्रतिक्रियाओं के दुहराने से अपनी पहली आदत की अपेक्षा कम सन्तुष्टि प्राप्त होती है तो थोड़े ही समय बाद लुप्त हुई आदत उसे पुनः प्राप्त हो जाती है।

सामान्यीकरण (Generalisation) मानव की कार्य प्रतिक्रियाओं में उत्तेजनाओं का अत्याधिक महत्व है। किसी उत्तेजना के एक स्थिति से दूसरी सामान्य स्थिति में फैल जाने को सामान्यीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका की एक स्त्री अपनी सास के व्यवहार से इतनी अधिक क्षुब्ध थी कि वह अपनी सास की शक्ल के समान अन्य स्त्रियों से भी भयभीत

होने लगी। उस स्त्री की सास के बाल पूर्णरुप से सफेद एवं चेहरा बिल्ली के समान गोल मटोल था। अतः उसे बिल्ली से भी भय प्रतीत होने लगा। कुछ समय उपरान्त वह सफेद बालों वाले सभी जानवरों से डरने लगी। किम्बाल यंग के अनुसार यही उत्तेजनाओं का सामान्यीकरण (Stimulus Generalisation) है। उत्तेजनाओं के सामान्यीकरण न होने की स्थिति में किसी भी प्रकार का सीखना कठिन होता है। यह सामान्यीकरण संकेतों की समानता पर निर्भर करता है। दो परिस्थितियों के मध्य संकेतों (Cues) में जितनी समानता होगी उसी के अनुसार उत्तेजनाओं एवं प्रतिक्रियाओं का सामान्यीकरण होता है। उत्तेजनाओं एवं प्रतिक्रियाओं के विषम होने की स्थिति में प्रतिक्रियाएँ नवीन रुप धारण करके दूसरी ओर अग्रसर होती हैं। इस प्रकार लुप्त आदत दुबारा नहीं पनप पाती और उसकी पुनरावृत्ति कठिन हो जाती है।

सामान्यीकरण एक ऐसा बोध है जिसका 'सीखने' की प्रतिक्रिया में एक महत्वपूर्ण योग है। इसका मुख्य कारण है कि कभी भी दो विभिन्न परिस्थितियाँ समान नहीं होती हैं तथा उनके संकेत भी समान नहीं होते हैं। इसलिये सामान्यीकरण ही एक ऐसा उपकरण है जिसके माध्यम से एक प्रतिक्रिया एक परिस्थिति विशेष से दूसरी परिस्थिति तक पहुंचती है तथा जिसके द्वारा दो उत्तेजनाओं की समानता का पता चलता है। 'विभेद' करने की प्रवत्ति के ही कारण व्यक्ति उनकी विभिन्नताओं की जानकारी प्राप्त कर लेता है और इन दोनों प्रतिक्रियाओं में अलग-अलग व्यवहार करता है। परन्तु फिर भी दो समान परिस्थितियों में मानव की प्रतिक्रियाओं में समानता तथा असमानता दोनों ही देखने को मिलती हैं।

विभेदीकरण (Discrimination) प्रतिक्रियाओं तथा उत्तेजनाओं में नियंत्रण विभेदीकरण को स्पष्ट करती हैं। जब किसी एक प्रतिक्रिया से संतुष्टि और दूसरी प्रतिक्रिया से असन्तुष्टि प्राप्त होती है तो व्यक्ति इसके कारण को जान लेता है और इसी को जान लेना ही व्यक्ति का सच्चा मार्ग दर्शन है। इसके आधार पर उसकी प्रतिक्रियायें सुनिश्चित तथा विशिष्ट होती चली जाती हैं। यह जानकारी व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में उत्तेजनाओं तथा प्रतिक्रियाओं के बीच सामंजस्य बनाये रखने की क्षमता प्रदान करती है एवं यदि इनमें किसी प्रकार के दोष

हैं तो उसे दूर करने का प्रयत्न भी करती हैं। किम्बाल यंग ने उचित ही कहा है, **"विभेदीकरण एवं सामान्यीकरण साथ-साथ चलते हैं।"**[1]

पूर्वापेक्षित प्रतिक्रियायें (Anticipatory Responses) मानव द्वारा किसी पूर्व सीखी हुई बात के आधार पर किसी अन्य व्यवहार की कल्पना द्वारा वैसी ही प्रतिक्रिया करना जैसा कि उसने पहले व्यवहार के लिये किया था को पूर्वापेक्षित बोध कहते हैं और जब यही बोध प्रतिक्रिया का स्वरुप धारण कर लेता है तो पूर्वापेक्षित प्रतिक्रिया कहते हैं। मानव अपने समाज मूल्यों, आदर्शों एवं मान्यताओं के बहुत से तत्वों को प्रत्याशा प्रतिक्रिया द्वारा ही सीखता है। इसका एक अन्य उदाहरण जाति व्यवस्था में भी देखने को मिलता है। कुम्हार का बालक बर्तन बनाना सीखे अथवा न सीखे परन्तु उस विषय में उसका ज्ञान अनायास ही रहता है जब कि दूसरे जाति का बालक ऐसा बोध नहीं कर सकता। इसके लिए उत्तेजकों के सामान्यीकरण तथा पुष्टीकरण के कारण प्रत्याशा प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं।

प्रत्याशा से उत्पन्न प्रतिक्रियायें अनैच्छिक होती हैं इसके लिऐ चाहने और और न चाहने का प्रश्न नहीं खड़ा होता। नीबू को देखकर न चाहने पर भी मुँह में पानी आ ही जाता है।

प्रत्याशा से उत्पन्न प्रतिक्रियायें व्यवहार को सीमित पथप्रदर्शन करती है जिसके आधार पर कार्य सरल ढंग से किया जा सकता है।

विरोध तथा सहयोग (Opposition and Co-operation) समाज में एकीकरण और पृथक्करण दोनों ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ रहती हैं। व्यक्ति इन प्रक्रियाओं के मध्य से गुजर कर अनेक बाते सीखता है। प्रतिस्पर्धा तथा सहयोग सामाजिक प्रक्रियाओं के दो प्रमुख स्वरूप हैं। व्यक्ति की ये मूल प्रवृत्तियाँ हैं या नहीं इस पर मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति में विरोध एवं सहयोग जन्मजात गुण होते हैं और कुछ का कहना है कि समाज के व्यवहार के आधार पर व्यक्ति इनको अपनाता है। जैसे यदि बच्चे को माँ का प्यार उचित न मिला हो तो उसमें विरोध की भावना उत्पन्न होती है और यदि

1. "Discrimination and generalization go hand in hand,"
— K. Young : *A. Handbook of Social Psychology.*

माँ का प्यार समुचित रुप से मिला हो तो उसमें सहयोग की भावना जन्म लेती है। अतः परिस्थिति को ही विरोध एवं सहयोग के लिए उत्तरदायी मानना उचित है। फिर भी इन्हें मूल या जन्मजात प्रवृत्तियाँ नहीं कहा जा सकता है। प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग दोनों ही समाज के बड़े ही आवश्यक तत्त्व हैं। सामाजिक विकास में दोनों ही सहायक होते हैं। प्रतिस्पर्धा से सीखने की गति में तीव्रता आती है और सहयोग से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं।

प्रशंसा तथा लांछन (Praise and Blame) जिस तरह विरोध एवं सहयोग सामाजिक प्रक्रियाओं के दो मुख्य पहलू हैं उसी प्रकार प्रशंसा एवं लांछन भी सामाजिक जीवन के दो प्रमुख आधार हैं। समाज में अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार प्राप्त होने पर व्यक्ति को उससे प्रोत्साहन प्राप्त होता है। ये पुरस्कार वस्तु स्वरूप अथवा प्रशंसा स्वरूप दोनों ही हो सकते हैं। इसके विपरीत दोष पूर्ण व्यवहार के लिए समाज में व्यक्ति पर लांछन लगायाजाता है।

व्यक्ति यह समझता रहता है कि यदि समाज में रहना है तो प्रशंसा प्राप्त करना आवश्यक है जिसके कारण उसे अपने सामर्थ का पूरा प्रयोग करना पड़ता है। कोई कुशल व्यवहार एवं कार्य से, तो कोई धन से प्रशंसा प्राप्त करता है। कभी-कभी व्यक्ति लांछन का भी शिकार हो जाता है जिसके प्राश्चित के लिए उसे समाज के सामने झुकना पड़ता है। इस प्रकार प्रशंसा से वांछनीय सामाजिक तत्वों को बल प्राप्त होता है तथा लांछन से अवांछनीय तत्वों का विनाश होता है।

अनुकरण (Imitation) सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण का बहुत अधिक महत्व है। अनुकरण के सम्बन्ध में सविस्तार विवेचन आगामी अध्याय में किया गया है। यहाँ पर केवल अनुकरण का सीखने की प्रक्रिया पर प्रभाव की संक्षिप्त व्याख्या की गई है। अनुकरण का सीखने की प्रक्रिया में निम्नलिखित तीन प्रभाव मुख्य रूप से पड़ते हैं।

(i) अनुकरण से व्यक्ति को सीखने में विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। परिणामस्वरूप गलतियों की सम्भावना बहुत कम रहती है।

(ii) व्यक्ति अनुकरण द्वारा किसी प्रतिक्रिया को बहुत ही आसानी से सीख जाता है। इस प्रकार समय की बचत होती है। अनुकरण द्वारा अभ्यास की पुष्टि भी उचित ढंग से हो जाती है।

(iii) अनुकरण द्वारा सीखने का एक प्रमुख लाभ यह है कि इससे व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक शक्ति बहुत कम व्यय होती है। परिणामस्वरुप व्यक्ति अचेतन रूप से अनेक बातों को सीख जाता है।

सीखने की प्रक्रिया के कुछ अन्य कारक
(Some Other Factors of Learning Process)

संवेगात्मक दशाएँ (Cathectic)—व्यक्ति की संवेगात्मक दशाओं का भी सीखने की प्रक्रिया में बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि व्यक्ति का किसी संवेगात्मक स्थिति में सीखी हुई बात का उसके मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसी संवेगात्मक स्थिति में सीखी बात बिना किसी पुनरावर्तन के भी स्थायी बन जाती है। उदाहरणार्थ भय की दशा में सीखी हुई बात इतनी दृढ़ होती है कि बहुत समय तक उसे नहीं भूला जा सकता। कभी-कभी शक्तिशाली संवेगात्मक दशाएँ बौद्धिक तथा आर्थिक सीखने में अवरोधात्मक भी होती है। जैसे क्रोध में सम्मोह की स्थिति और सम्मोह से स्मृति विभ्रम। स्मृति विभ्रम हो जाने की स्थिति में व्यक्ति के लिए कुछ भी सीखना कठिक होता है।

थकावट (Fatigue) अनुभवों से ऐसा पता चलना है कि मानसिक या शारीरिक थकावट में व्यक्ति की ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में वह सीधी एवं सरल बातों को शीघ्र ग्रहण कर लेता है क्योंकि थकान व्यक्ति की प्रयत्नशीलता एवं संकल्प को कम कर देती है। प्रयत्नशीलता एवं संकल्प की गति अति शीघ्रगामी होने पर सीखने की प्रक्रिया भी शीघ्रगामी होती है जिसके कारण सीखने की प्रक्रिया ठोस नहीं हो पाती। परन्तु प्रयत्नशीलता एवं संकल्प की गति धीमी होने पर व्यक्ति किसी व्यवहार को विचार कर सीखता है। फलस्वरुप व्यक्ति जो कुछ सीखता है वह ठोस होता है। इस प्रकार थकान और सीखने की प्रक्रिया में बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है।

औषधियां एवं मादक वस्तुएं (Medicines and Intoxicants) व्यक्ति मानसिक रुझान एवं शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए प्रायः नशीली वस्तुओं का सेवन करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति की शरीरिक एवं मानसिक क्षमता का ह्रास होता है। कभी-कभी नशीली वस्तु

के प्रभाव से अप्रत्याशित बातें भी व्यवित के मानस-पटल पर विद्यमान हो जाती हैं। अतः औषधियाँ एवं मादक वस्तुएँ भी सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सीखना व्यक्ति की एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमेशा क्रियाशील रहती है। व्यक्ति को समाजीकृत बनाने में सीखने की प्रक्रिया का विशेष महत्व है। मानव व्यक्तित्व विकास में सीखने का विशेष योगदान है।

Selected Readings

1. Kimball Young : Personality and Problems of Adjustment.
2. Kimball Young : A Handbook of Social Psychology.
3. C. L. Hull : Principles of Behaviour.
4. Dollard and Miller : Personality and Psychotheraphy.

Questions

१. मानव व्यक्तित्व के विकास में सीखने का एक कारक एवं प्रक्रिया के रूप में व्याख्या कीजिए।

Discuss the role of learning as a factor as well as a process in the development of human personality.

२. सामाजिक शिक्षण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट करते हुए बताइये कि सामाजिक शिक्षण किस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया में सहायक है।

What do you understand by social learning ? Explain how social learning helps in the process of socialization.

३. सीखने के प्रमुख सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विश्लेषण कीजिए।

Give a critical explanation of the main theories of learning.

४. सामाजिक शिक्षण के विभिन्न कारकों की व्याख्या कीजिए एवं मानव व्यक्तित्व के विकास में उनका सापेक्षिक महत्व बतलाइये।

Discuss the various factors of social learning and show their relative importance in the development of human personality.

अध्याय ६

अनुकरण
(IMITATION)

मानव का खान-पान, बोल-चाल, प्रेम-ईर्ष्या आदि सभी अर्जित गुण होते हैं। वह इन्हें अपने समकालीन परिवारिक और दूसरे सामाजिक सदस्यों से सीखता है। समाज में जब वह दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं को देखकर ठीक उसी तरह की क्रियायें करने लगता है, तो उसे अनुकरण कहते हैं। इसे और भी स्पष्ट करने के लिये कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को देखकर ठीक उसी प्रकार का व्यवहार करने लगता है तो उसे अनुकरण कहते है।

परिभाषायें (Definitions)

अनुकरण को अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। अतः इसका विशिष्ट अर्थ समझने के लिये निम्नलिखित प्रमुख परिभाषाओं का अवलोकन आवश्यक है।

आलपोर्ट के अनुसार, इस शब्द का प्रयोग हर उस परिस्थिति के लिये किया जा सकता है, जहाँ कोई भी उत्तेजनात्मक परिस्थिति ठीक उत्तेजनात्मक क्रिया जैसी ही शारीरिक क्रिया को प्रेरित करती है।"[1]

1. G. W. Allport : *Historical Background of Modern Social Psychology.*

थाउलस के शब्दों में, "अनुकरण एक प्रतिक्रिया है जिसके लिये उत्तेजक दूसरे की उसी प्रकार की प्रतिक्रिया का ज्ञान है।"[1]

हेज के मतानुसार, "अनुकरण सामाजिक संकेत की एक उपजाति है। यह वाह्य क्रिया के लिये दिया गया एक विचार है, जो प्राप्त करने के बाद क्रियान्वित किया जाता है।"[2]

मीड ने लिखा है, "अनुकरण दूसरों के व्यवहारों या कार्यों को जान-बूझ कर अपनाने को कहते हैं।"[3]

मैकडूगल के मतानुसार, "अनुकरण केवल एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्तियों के कार्यों और शारीरिक क्रियाओं की नकल को कहते हैं।"[4]

विलीयम जेम्स और बाल्डविन अनुकरण को अन्य मूल-प्रवृत्तियों के समान एक मूल प्रवृत्ति (Instinct) समझते हैं, परन्तु इनके बाद के विचारकों ने इनके मत का खण्डन किया है।

अनुकरण का वर्गीकरण
(Classification of Imitation)

(क) बाल्डवीन ने अनुकरण को मानसिक विकास का आधार मान कर इसके दो प्रकार बताये हैं।

(१) ज्ञात अनुकरण (Deliberate Imitation) जब कोई

1. "Imitation is a reaction for which the stimulus is the perception of another's similar reaction".
—R. H. Thouless : *General and Social Psychology* (*3rd. Ed.*)
2. "Imitation is sub-species of social Suggestion. It is the case of a suggested idea of an overt action which after being received is expressed in action."
—Hayes
3. Imitation is self-conscious assumption of another's acts or roles."
—George H. Mead, Quoted by K. Young in his book, *'A Handbook of Social Psychology.'*
4. "Imitation is applicable only to copyiny by one individual of the actions, the bodily movements of another."
—W. McDougall : *An Introduction to Social Psychology*

व्यक्ति या बालक किसी उद्देश्य का जानबूझ कर अनुकरण करता है तो उसे ज्ञात अनुकरण कहते हैं। जैसे कोई गायक अपनी गायन शैली का परिमार्जन करने के लिये अपने से श्रेष्ठ गायक की गायन शैली का अनुकरण करे।

(२) **अज्ञात अनुकरण** (Non-deliberate Imitation) जब बालक बिना सोचे विचारे, निरुउद्देश्य ही किसी चीज का अनुकरण करता है, तो उसे अज्ञात अनुकरण कहते हैं।

(ख) मैकडूगल पाँच प्रकार के अनुकरण मानता है। उसका वर्गीकरण इस प्रकार है।

(१) **सहज अनुकरण** (Sympathetic Imitation) एक दूसरे के भाव के कारण उत्पन्न अनुकरण को सहज अनुकरण कहते हैं। बालक प्रायः सहज अनुकरण करते हैं। एक बच्चे को हँसता देख कर दूसरा बच्चा भी उसका अनुकरण करता है। पशु पक्षियों में भी इस प्रकार के अनुकरण पाये जाते हैं। भीड़ व्यवहार भी कुछ इसी तरह का अनुकरण है।

(२) **भाव चालक अनुकरण** (Ideo-motor Imitation) जब भावों से प्रेरित होकर कोई अनुकरण किया जाता है तो उसे भाव चालक अनुकरण कहते हैं।

(३) **विचारपूर्ण अनुकरण** (Deliberate Imitation) जब व्यक्ति किसी क्रिया या व्यवहार का सोच-विचार के अनुकरण करता है तो उसे विचारपूर्ण अनुकरण कहते हैं। इस प्रकार का अनुकरण जभी सम्भव है जब कि समाज के सदस्यों का बौद्धिक विकास एक निश्चित सीमा पर पहुंच गया हो। मैकडूगल इसे बाल्डविन के ज्ञात अनुकरण की भाँति उपरोक्त स्तर पर ही सम्भव मानता है।

(४) **अविचारपूर्ण अनुकरण** (Non-deliberate Imitation) मैकडूगल इसे भाव चालक अनुकरण और विचारपूर्ण अनुकरण के बीच की स्थिति मानता है। जब व्यक्ति में सोच विचार करने की क्षमता नहीं होती और उसे किसी आदर्श या सिद्धान्त का बोध नहीं होता, तो उसके अभाव में वह परिस्थितिवश अविचारपूर्ण अनुकरण करना आरम्भ कर देता है।

(५) **निरर्थक अनुकरण** (Meaningless Imitation) जिस अनुकरण का वस्तुतः कोई अर्थ नहीं होता और जो अकारण ही किये जाते हैं,

उसे निरर्थक अनुकरण कहते हैं। इस प्रकार का अनुकरण प्रायः बच्चों में देखा जाता है। जैसे किसी छोटे बच्चे का किसी को भी रोता देखकर अकारण ही रोना आरम्भ कर देना।

मैकडूगल के उपरोक्त पाँच प्रकार के अनुकरण व्यर्थ ही लगते हैं। वास्तव में अनुकरण दो ही प्रकार के होते हैं। मैकडूगल ने व्यर्थ ही अनुकरण का इतना लम्बा वर्गीकरण किया है। मैकडूगल के वर्गीकरण का गहन अवलोकन करने से यह प्रतीत होता है कि उसका वर्ग १, २, ४ और ५ बाल्डविन के अज्ञात अनुकरण के ही विभिन्न स्वरूप हैं, और वर्ग ३ ज्ञात अनुकरण का ही परिवर्तित रूप है।

(ग) उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त जिन्सबर्ग ने भी अनुकरण को तीन वर्गों में विभाजित किया है।

(१) प्राणीशास्त्रीय अनुकरण (Biological Imitation) इस अनुकरण को कभी-कभी व्यवहार का अनुकरण(Induction of behaviours) भी कहा जाता है। यह अनुकरण अचेतन अवस्था में किया जाता है। इस अनुकरण के उदाहरण हमें प्रायः रोज ही देखने को मिलते हैं। जैसे किसी बच्चे का मुस्कराना देखकर दूसरे बच्चे का भी मुस्कराना।

(२) भाव चालक अनुकरण (Ideo-motor Imitation) यह वह अनुकरण है जो चेतन अवस्था में जान-बूझ कर किया जाता है।

(३) विवेकशील अनुकरण (Rational Imitation) विवेकशील अनुकरण उसे कहते हैं जो विवेक के आधार पर जान-बूझ कर किये जाते हैं। जैसे भारतवर्ष द्वारा पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करना।

बेजहॉट का अनुकरण का सिद्धान्त
(Bagehot's Theory of Imitation)

सन् १८७३ में सर्वप्रथम बेजहॉट ने अपनी पुस्तक 'फिजिक्स एण्ड पालिटिक्स' (Physics and Politics) में अनुकरण का सामाजिक व्यवहार के रूप में सिद्धान्त प्रतिपादित किया। बेजहॉट के सिद्धान्त को सन् १८९६ में टार्डे ने विकसित किया।

बेजहॉट का कहना है कि मनुष्य में अनुकरण करने की नैसर्गिक प्रेरणा पायी जाती है। उसका कहना है कि मनुष्य समाज में जो कुछ देखता है,

उसका अनुकरण करना चाहता है। यदि मनुष्य अनुकरण करने में स्वयं को असफल पाता है, तो दुःखी होता है। उसके अनुसार वस्त्रों में विभिन्नता अर्थात नये फैशन, लिखने की साहित्यिक शैली, राजनीति, धर्म आदि सभी अनुकरण का ही प्रतिफल हैं। उसका कहना है कि अनुकरण अचेतन होता है। अतः यह एक ऐसी अएच्छिक क्रिया है जिसे व्यक्ति बिना सोचे समझे ग्रहण करता है। अनुकरण की यह क्रिया सभी मानव समूहों को प्रभावित करती है। अपने सिद्धान्त की सत्यता के लिए बेजहॉट ने आदिम समाजों का उदाहरण दिया है। उसका कहना है कि आदिम समाज या पिछड़े हुए समाज हमेशा अपने से उन्नतशील समाज का अनुकरण करते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अथवा किसी न किसी रुप में वह उससे प्रभावित होते हैं।

विद्वानों ने बेजहॉट के सिद्धान्त की यह कह कर आलोचना की है कि उसने अनुकरण के सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया है। कुछ विद्वानों का बेजहॉट पर यह भी आरोप है कि उसने अनुकरण को सामाजिक सिद्धान्तों में उचित एवं महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है।

टार्डे का अनुकरण का सिद्धान्त
(Tarde's Theory of Imitation)

कुछ विद्वानों का कहना है कि टार्डे का सिद्धान्त बेजहॉट के सिद्धान्त का ही परिवर्तित और विकसित स्वरूप है, परन्तु उसके सिद्धान्त का गहन अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि उसने बेजहॉट के सिद्धान्त से अलग एक स्वतन्त्र सिद्धान्त का निर्माण किया है।

टार्डे सामाजिक प्रगति (Social Progress) को समाज के व्यक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिकल मानता है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया तीन रुपों में प्रकट होती है। (१) पुनरावृत्ति (Repetition), (२) विरोध (Opposition) और (३) अनुकूलन (Adaptation)। वह इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सामाजिक क्षेत्र के अलावा भौतिक एवं जैवकीय क्षेत्र में भी मानता है।

टार्डे समाज में अनुकरण को ही पुनरावृत्ति समझता है और समाज का आधार मानता है। उसके अनुसार विरोध युद्ध, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, आदि अनेक सामाजिक स्वरुपों में देखने को मिलता है।

टार्डे के अनुसार समाज में नवीन परिस्थितियों का जन्म होता रहता है, और इन नवीन परिस्थितियों को पुरानी पद्धतियों से नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु पुरानी पद्धतियों से उनका नियन्त्रण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। अतः नवीन परिस्थितियों को नियन्त्रित करने के लिये नूतन उपायों को खोजा जाता है। नूतन उपायों को ही आविष्कार कहा जाता है। नवीन आविष्कारों की खोज करना तथा वर्तमान परिस्थतियों पर नियन्त्रण रख पाना समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए सम्भव नहीं हो पाता। केवल थोड़े से ही व्यक्ति इसे कर पाते हैं। जब इन थोड़े से व्यक्तियों की प्रतिक्रिया और सफलता का अनुकरण समाज के अन्य सदस्य भी करने लगते हैं तो उसे अनुकूलन की स्थिति कहते हैं। वास्तव में समाज के सदस्यों द्वारा नवीन आविष्कारों को ग्रहण करके उसके साथ अपना संमजन करना ही अनुकरण है। अनुकूलन के विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें पुनरावृत्ति तथा विरोध दोनों का ही समन्वय रहता है। समाज में किसी नवीन क्रिया के आविष्कृत होने पर कुछ सदस्य उसे अपना लेते हैं और इस प्रकार उस क्रिया विशेष की पुनरावृत्ति होती है परन्तु साथ ही साथ समाज में उसका विरोध भी होता है। समाज में इस पुनरावृत्ति और विरोध की प्रक्रिया कुछ समय तक चलती रहती है, परन्तु कुछ ही समय उपरान्त इन दोनों में समन्वय स्थापित हो जाता है और समाज में एक नवीन विचार या मत उत्पन्न होता है जो कि सभी सदस्यों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। इसे ही अनुकूलन कहते हैं।

समाज में सदस्य किसी नवीन विचार या आविष्कार को क्यों ग्रहण करते हैं, इसके सम्बन्ध में टार्डे ने दो कारण या कारक बताये हैं। (क) तार्किक (Logical) तथा (ख) तर्कवाह्य (Extra Logical)

समाज में किसी नवीन विचार या आविष्कार को प्रचलित होने में प्रायः तार्किक कारण बहुत ही बाधक सिद्ध हुआ करते हैं। सदस्य कभी भी किसी नवीन मत को एकाएक ग्रहण नहीं कर लेते हैं। नवीन मत को ग्रहण करने के पूर्व सदस्य तार्किक आधार पर उसका विश्लेषण करते हैं और यदि वह विचार या मत विशेष समाज के नियमों एवं मर्यादाओं के अनुकूल होता है तो सदस्यों द्वारा उसे ग्रहण कर लिया जाता है। समाज की मर्यादाओं के विरुद्ध मत प्रायः सदस्यों द्वारा नहीं अपनाये जाते।

समाज में नवीन विचारों को सदस्यों द्वारा शीघ्रता से ग्रहण करने में दूसरा सहायक कारक तर्कवाह्य है। तर्कवाह्य कारक के निम्नलिलित तीन मुख्य रूप हैं :

(i) तर्कवाह्य कारक का प्रथम रूप उसे कहा जाता है जिसमें अनुकरण अन्दर से बाहर की ओर बढ़ता है। इसका अर्थ है कि किसी विचार या आविष्कार का अनुकरण करने के पूर्व सदस्यों की मानसिक स्थिति उस विचार या आविष्कार के अनुकूल होनी चाहिए। सदस्यों को किसी भी नवीन मत या प्रचलन को ग्रहण करने से पूर्व मानसिक रूप से तत्पर होना आवश्यक है। उसके बाद ही वह विचार, प्रचलन अथवा कार्य कार्यान्वित होता है। धर्म, फैशन आदि के अनुकरण प्रायः इसी प्रकार के हुआ करते हैं। पहले किसी फैशन को धारण करने की जिज्ञासा व्यक्ति के मन में संघर्ष करती है। जिज्ञासा प्रबल हो जाने पर मनुष्य उसका अनुकरण करने लगता है।

(ii) दूसरी परिस्थिति वह होती है जिसमें समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति कुछ नूतन अवधारणाओं, चिन्तन शैलियों और रिवाजों का प्रचलन आरम्भ कर देते हैं। फलस्वरूप देश के अन्य लोग भी उनका अनुकरण करना आरम्भ कर देते हैं। उदाहरण के लिए, महात्मा गाँधी का खद्दर प्रेम, विनोबा भावे का भूदान आन्दोलन एवं लाल बहादूर शास्त्री की साप्ताहिक उपवास की धारणा।

(iii) यंत्रवत कठीन जीवन की मनहूसियत को दूर करने के लिये समाज में आये दिन नूतन वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता रहता है। दैनिक प्रयोग के व्यवहार और वस्तुओं में थोड़ा बहुत हेर फेर करके उन्हें आकर्षक कर दिया जाता है, जिसका समाज अनुकरण करने लगता है।

टार्डे ने अपने सिद्धान्त में निर्देश (Suggestion), सहानुभूति (Sympathy) आदि को भी प्रधानता दी है। उसके अनुसार, "**समाज अनुकरण है**।" उसने समाज में अनुकरण के महत्व को स्वीकार किया है।

टार्डे के सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of Tarde's Theory) टार्डे के सिद्धान्त को अनेक विद्वानों ने अस्वीकार किया है और उसकी तीव्र आलोचना की है। जिन्सवर्ग का कहना है कि टार्डे ने अनुकरण शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर किया है और उसका प्रयोग इतना गलत एवं अस्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत अन्य मानसिक व्यवहारों का भी समावेश हो जाता है।

टार्ड ने अपने सिद्धान्त में समाज में अनुकरण का महत्व आवश्यकता से अधिक बताया है। यह सत्य है कि समाज में अनुकरण का महत्व होता है, परन्तु यह कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति अनुकरण का ही प्रतिफल है। इसीलिए टार्ड के कथन 'समाज अनुकरण है'. को ह्यूम तथा हक्सले ने आपत्तिजनक ठहराया है।

टार्ड ने अपने सिद्धान्त में अनुकरण को ही सामाजिक व्यवहार का आधारभूत सिद्धान्त मानकर सामाजिक जीवन की व्याख्या को अत्यन्त ही सरल बना दिया है। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। सामाजिक व्यवहार का आधारभूत तत्व केवल 'अनुकरण' नहीं है। मूल प्रवृत्तियाँ, निर्देश, सहानुभूति, शिक्षा, अवलोकन, अनुभव आदि भी सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने वाले तत्व हैं, जिन्हें कि ऐसा प्रतीत होता है टार्ड अपने सिद्धान्त में भूल गया है। सामाजिक व्यवहार का आधार अनुकरण सहित उपरोक्त सभी तत्वों में खोजना चाहिये न कि किसी तत्व विशेष में। किसी एक तत्व के आधार पर सामाजिक व्यवहार का आधार नहीं ढूँढा जा सकता। टार्ड के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह केवल अनुकरण द्वारा ही सामाजिक व्यवहारों का आधार खोजने का प्रयास करता है।

टार्ड का यह कहना कि जिस देश की जनसंख्या अधिक होती है, वहाँ आविष्कार अधिक मात्रा में होते हैं, गलत है। यह कदापि आवश्यक नहीं है कि अधिक जनसंख्या वाले देश ही अधिक मात्रा में आविष्कार करें। अमेरिका एवं इग्लैण्ड की जनसंख्या, भारत एवं चीन से बहुत कम है, परन्तु इन देशों ने भारत तथा चीन की अपेक्षा बहुत अधिक आविष्कार किये हैं।

चार्ल्स वर्ड ने भी टार्ड के सिद्धान्त की आलोचना की है। उसका कहना है कि **"हम अनुकरण से सीखने की अपेक्षा अनुकरण करना सीखते हैं।"**[1]

सामाजिक जीवन में अनुकरण का महत्व
(Importance of Imitation in Social Life)

मानव के सामाजिक व्यवहारों को अनुकरण विशेष रूप से प्रभावित करता है। यह सत्य है कि सामाजिक व्यवहारों का आधार केवल अनुकरण

1. "We learn to imitate rather than learn by imitation."
—Charles Bird : *Social Psychology*.

ही नहीं है, परन्तु अन्य तत्वों की तुलना में इसका मुख्य स्थान है। समाज में निम्मलिखित प्रक्रियायें अनुकरण द्वारा प्रभावित होती हैं।

(१) **सामान्य भाषा**—बचपन से ही व्यक्ति अपने समाज में प्रचलित भाषा का अनुकरण करना शुरु कर देता है। समाज के सभी सदस्यों द्वारा उस भाषा विशेष का अनुकरण करने से वह उस समाज विशेष की एक सामान्य भाषा बन जाती है।

(२) **सामान्य प्रतीक एवं चिन्ह**—सभी समाजों में कुछ उसके निश्चित प्रतीक एवं चिन्ह होते हैं। जब लोग उसका अनुकरण करना आरम्भ कर देते हैं तो वह सर्वमान्य तथा सामान्य हो जाते हैं। जैसे राष्ट्रीय ध्वज, अशोक स्तम्भ आदि।

(३) **सामान्य वेश-भूषा एवं फैशन**—सभी समाज में लोगों की एक सामान्य वेश-भूषा होती है। लोगों के अनुकरण से वह उस समाज विशेष की सामान्य वेश-भूषा बन जाती है। उदाहरणस्वरूप पश्चिमी समाजों में औरतों की सामान्य वेश-भूषा स्कर्ट है। हमारे देश की औरतों की सामान्य वेश-भूषा धोती है। इसी प्रकार अनुकरण द्वारा फैशन भी बहुत अधिक प्रभावित होता है।

(४) **आविष्कारों का फैलना**—किसी वस्तु का आविष्कार होने पर या नवीन विचारों का प्रसार अनुकरण द्वारा पूरे संसार में बहुत ही शीघ्र हो जाता है।

(५) **सामान्य संस्कृति एवं सभ्यता**—जयदेव सिंह ने लिखा है, **"अनुकरण सामाजिक समानता एवं सादृश्य का श्रोत है।"**[1] समाज की अधिकांश समानतायें अनुकरण का ही प्रतिफल हैं।

---

1. "The source of social similarity and conformity is imitation."

—Jaidev Singh : *A Manual of Social Psychology.*

(६) **सामाजिक व्यवहार तथा रीति-रिवाज**—समाज में प्रचलित व्यवहारों तथा रीति-रिवाज के अनुकरण से वे एक विशेष प्रकार के हो जाते हैं। जैसे हिन्दू समाजों में विभिन्न संस्कार पद्धतियाँ।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन में अनुकरण का बहुत अधिक महत्व है।

Selected Readings

1. G. W. Allport : Historical Background of Modern Psychology.
2. R. H. Thouless : General and Social Psychology.
3. K. Young : A Handbook of Social Psychology.
4. W. McDougall : An Introduction to Social Psychology.
5. Charles Bird : Social Psychology.
6. Jaidev Singh : A Manual of Social Psychology.

Questions

१. अनुकरण से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट कीजिए।
What do you understand by Imitation ? Explain.

२. अनुकरण के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
Explain the theories of Imitation.

३. अनुकरण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। सामाजिक नियन्त्रण के सन्दर्भ में सामाजिक जीवन में इसका क्या महत्व है ?
Explain the concept of Imitation. What is its importance in social life with reference to social control ?

तृतीय खण्ड

विषयक्रम

अध्याय १०

सामाजिक नियंत्रण
(SOCIAL CONTROL)

किसी भी समाज की संरचना मानवीय विकास और प्रगति के साथ जटिल होती चली जाती है। सामजिक पर्यावरण में अनेक विचारों और विश्वासों के व्यक्ति और समूह एकत्रित होते हैं तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं। इस आवश्यकता पूर्ति में व्यक्तियों और समूहों के बीच संघर्ष बढ़ना आरम्भ हो जाता है। जैसे जैसे समाज में, नागरीकरण, औद्योगीकरण, यान्त्रिकरण आदि का प्रादुर्भाव होता है वैसे वैसे विभेदीकरण और स्तरीकरण तीव्रता से फैलने लगते हैं। फलस्वरुप समाज में विघटनकारी और अनियन्त्रित तत्वों का विस्तार होने लगता है। व्यक्ति संघर्ष के प्रश्न में उलझ कर निर्धारित सामाजिक मूल्यों, आदर्शों, परम्पराश्र, मान्यताओं आदि की अवहेलना करने लगता है। सामाजिक संरचना में विघटनात्मक परिवर्तन स्फुटित होने लगते हैं। सामाजिक संरचना के स्थायित्व के लिए इन परिवर्तनों आदि का नियन्त्रण नितान्त आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण से इन समस्याओं का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक हल प्राप्त होता है तथा व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रतिमानित किया जाता है।

मैकाइवर और पेज के अनुसार सामाजिक नियंत्रण से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में एकता और स्थायित्व स्थापित होता है तथा यह समस्त व्यवस्था

एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती है। वस्तुतः सामाजिक नियंत्रण द्वारा मनुष्य के पूर्वानुभव सुरक्षित रहते हैं जो सामयिक समस्याओं के निदान में सहायक होते हैं। इसके अन्तर्गत जनरीतियों, परम्पराओं, संहिताओं, संविधानों आदि अनेक साधनों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ परम्परागत होते हैं तथा कुछ का निर्माण तत्कालीन समस्याओं के अनुरुप किया जाता है।

परिभाषायें (Definitions)

सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में निम्नलिखित विद्वानों की परिभाषायें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

ए० सी० ब्रियर्ले के अनुसार **"सामाजिक नियन्त्रण उन सभी सुनियोजित और अनियोजित प्रक्रियाओं के लिए एक सामूहिक शब्द है, जिसके द्वारा व्यक्तियों को लोकाचार और सामूहिक जीवन के मूल्यों के साथ तादात्मय स्थापित करना सिखाया जाता है, और उसके लिए प्रेरित तथा बाध्य किया जाता है।"**[1]

गिलिन तथा गिलिन के मतानुसार **"सामाजिक नियन्त्रण उन साधनों की एक व्यवस्था है जिसमें सुझाव, अनुनय, अवरोध और शारीरिक शक्ति समेत सभी प्रकार के बल प्रयोग शामिल हैं। इनके द्वारा एक समाज, अपने उपसमूहों के व्यवहारों को अनुमोदित प्रतिमानों के अनुरूप लाता है, या जिनके द्वारा किसी समूह के सदस्यों के व्यवहार उसके मानित नियमों के अनुकूल ढाले जाते हैं।"**[2]

---

1. "Social control is a collective term for those processes, planned or unplanned, by which individuals are taught, persuaded or compelled to conform to the usages and life values of the group to which they belong."
—A. C. Brearley.

2. "We shall define social control as that system of measures—suggestions, persuasions, restraint and coercion by whatever means including physical force by which a society brings into conformity to the approved pattern of behaviour a subgroup or by which a group moulds into conformity its members."
Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*

पार्क तथा बर्जेस के शब्दों में, **"सामाजिक नियंत्रण से हम साधारण तौर से सामाजिक प्रक्रिया में किसी व्यक्ति–अधिकारी, कृतकारी या नेता का मनमाना हस्तक्षेप समझते हैं।"**[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं का सारांश यह है कि सामाजिक नियन्त्रण समाज के व्यवहारों को समाज के मूल्यों, आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुरुप करने के लिए प्रेरित और बाध्य करता है। इसके लिए अनुरोध से लेकर बल प्रयोग तक नाना प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण का स्वरूप और विस्तार विभिन्न समाजों की परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग पाया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण बहुत कुछ सामाजीकरण से मिलता-जुलता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन में आरम्भ से ही समाज के मूल्यों आदर्शों का अनुकूलन सिखाया जाता है। इसी प्रकार सामाजिक नियन्त्रण भी समूहों और उपसमूहों की जीवन शैली में एकरुपता तथा दृढ़ता का विकास करता है और उनमें सामूहिक सहयोग की भावना प्रेरित करता है और दूसरे शब्दों में सामाजीकरण, व्यक्ति में सामाजिकता का प्रादुर्भाव करता है और सामाजिक नियन्त्रण जीवनपर्यन्त उसकी परिपुष्टि करता रहता है।

सामाजीकरण की भाँति, सामाजिक नियन्त्रण, आत्मनियन्त्रण के बहुत निकट है। जब धर्म, विधान, परिवार, प्रथा, शिक्षा आदि के माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण किया जाता है, तब वह नियन्त्रण के वाह्य साधनों के अन्तर्गत आता है। नियंत्रण के आन्तरिक साधन वे होते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति बिना किसी बाहरी दबाव के, स्वयं अपने आत्मबल, बुद्धि, विवेक, आदर्श और वैचारिकी का प्रयोग करता है। इन आन्तरिक साधनों द्वारा नियंत्रित जीवन आत्मनियंत्रण की श्रेणी में आता है। व्यक्ति को आत्मनियंत्रण की क्षमता सामाजीकरण की प्रक्रियाओं से प्राप्त होती है। वह जहाँ तक समाज के आदर्शों और मूल्यों से अपना संमजन करने में स्वतः सफल, होगा, तक सामाजिक नियंत्रण के बाह्य साधनों की आवश्यकता कम पड़ेगी। दूसरे शब्दों में 'आत्मनियंत्रण सामाजिक नियंत्रण का न्यूनतापूरक है।'

---

1. "What we ordinarily mean by social control is the arbitrary intervention of some individual-official, functionary or leader—in the social process."
—Park and Burgess : *Introduction to the Science of Sociology.*

सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप
(Forms of Social Control)

जन-जीवन में अनेक प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएँ होती हैं और प्रत्येक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व पाए जाते हैं। इनके नियंत्रण के लिए किसी एक सर्वव्यापी साधन का प्रयोग किया जा सकना सम्भव नहीं है। समाज की सीमाओं और विस्तार के अनुसार, सामाजिक नियंत्रण के अनेक स्वरूप प्रयोग में लाए जाते हैं। इन स्वरूपों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण (Positive and Negative Control) किम्बाल यंग ने पुरस्कार और दण्ड के आधारपर क्रमशः सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण के दो स्वरूप बताये हैं। प्रोत्साहन, प्रशंसा, धन, उपाधि आदि के प्रलोभन पर जब व्यक्तियों को समाजानुमोदित व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाता है तब उसे सकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। कारावास, दण्ड, शारीरिक यातना, जुरमाना, अथवा अन्य अहिंसात्मक ताड़नाएँ, नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत आती हैं।

(२) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct and Indirect Control) कार्ल मैनहाइम के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूप हो सकते हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण प्राथमिक समूह के सदस्यों में पाया जाता है। घर के अभिभावकों स्कूल के शिक्षकों, सहपाठियों और पड़ोसियों द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण प्रत्यक्ष नियंत्रण कहलाता है। इनके मतों, विचारों, सुझावों आदि से किशोर प्रभावित होते हैं। माध्यमिक समूहों और संस्थाकृत सम्बन्धों के द्वारा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में विधानों नियमों व वाध्यताओं के माध्यम से व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। आधुनिक विषम सामाजिक व्यवस्थाओं में अप्रत्यक्ष नियन्त्रण का सबसे अधिक प्रादुर्भाव पाया जाता है।

(३) औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण (Formal and Informal Control) औपचारिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस नियन्त्रण से है जो वैधानिक सहिताओं, संस्थागत नियमों, सामाजिक मान्यताओं आदि

के द्वारा संचालित होता है। प्राथमिक समूहों में इस प्रकार के नियन्त्रण अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली होते हैं क्योंकि किशोर वर्ग पर कोई नियन्त्रण वैधानिक रूप से नहीं लादा जा सकता है। उनपर संस्कार धीरे-धीरे प्रतिक्षेपित किये जाते हैं। अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार विकसित होते रहते हैं। इनके अन्तर्गत जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रुढ़ियाँ, आदर्श आदि आते हैं। प्राथमिक समूहों, आदिवासियों, तथा असुक्त समाजों में इस प्रकार के नियन्त्रण बहुतायत से पाये जाते हैं।

(४) **आग्रह और बाध्यता मूलक नियंत्रण** (Persuation and Constraint Control) पुरस्कार और दण्ड की भाँति, आग्रह और बाध्यता भी सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप हैं। आग्रहमूलक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों को समाजोनुमोदित व्यवहारों के लिए प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार का नियन्त्रण उस समाज में सबसे अधिक सफल होता है जहाँ के सदस्य, ईमानदार, शिक्षित, सुसंस्कृत होते हैं तथा अपने समाज के मूल्यों, आदर्शों एवं विचारों के प्रति आदर रखते हैं। जिन समाजों में ऐसी भावनाओं का अभाव पाया जाता है वहाँ के लिए बाध्यतामूलक नियन्त्रण संचालित किये जाते हैं। इस नियन्त्रण के अन्तर्गत मुख्यतः दण्ड, विधान आदि साधनों से काम लिया जाता है। यह नियन्त्रण अधिकारवादी होता है जिसमें व्यक्ति को तथाकथित सामाजिक प्रचलन के अनुसार कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है।

(५) **चेतन और अचेतन नियन्त्रण** (Conscious and Unconscious Control) इस प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित होता है। मनुष्य के बहुत से व्यवहार ऐसे होते हैं जिनके प्रति वह पूर्णतः जागरुक रहता है। आत्मनियन्त्रण की भाँति वह स्वतः अपने आपको सामाजिक आदर्शों के अनुसार नियन्त्रित करता चलता है। ऐसे नियन्त्रण ऐच्छिक रूप से जानबूझकर किये जाते हैं और इन्हें चेतन सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। इसके विपरीत जो नियन्त्रण व्यक्ति के स्वभाव अथवा आदत का एक अंग बनकर कार्यशील रहते हैं, उन्हें अचेतन सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। इस प्रकार से नियन्त्रित बहुत कुछ व्यवहार अर्जित हुआ करते हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अनजाने ही, एक नियन्त्रित ढंग से अपने व्यवहार करता चला जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपों का वर्गीकरण विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से किया है। उदाहरणार्थ; कठोर और विनम्र; संस्थाकृत और असंस्थाकृत; आन्तरिक और बाह्य आदि

सामाजिक नियन्त्रण के साधन और अभिकरण
(Means and Agencies of Social Control)

नियन्त्रण के साधन वे यन्त्र हैं जिनके द्वारा सामाजिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है। कोजर और रोजनबर्ग का कथन है कि सामाजिक नियंत्रण उस यांत्रिकता की ओर संकेत करता है, जिसे समाज अपने अंगों—व्यक्तियों पर आधिपत्य करने के लिए प्रयोग करता है। इसके द्वारा लोग समाज की रीतियों के अनुरुप बनाए जाते हैं। नियंत्रण के प्रत्येक अभिकरण में इन साधनों का प्रयोग किया जाता है। सिखाना, प्रशिक्षण देना, रोकथाम लगाना आदि नियंत्रण के सर्वव्यापी साधन हैं। परिवार ही एक ऐसा अभिकरण है जिसमें लगभग सभी साधन प्रयोग में लाए जाते हैं। अन्य अभिकरणों में नियंत्रण की आवश्यकतानुसार इन साधनों का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक नियंत्रण को संचालित करने के लिए अनेक प्रकार की तकनीकों और साधनों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक समाजे की अपनी विशेषताएँ और समस्याएँ होती हैं। इसलिए सामाजिक नियंत्रण के तकनीकों की कोई ऐसी निर्धारित सूची अथवा श्रृङ्खला नहीं हैं जो व्यापक रूप से सभी समाजों एवं परिस्थितियों में लागू की जा सकें। देशकाल और स्थिति के अनुसार नियंत्रण की तकनीक में परिवर्तन होते रहते हैं तथा नूतन साधनों की खोज भी होती रहती है। मोटे तौर से प्रोफेसर गिलिन के अनुसार सामाजिक नियंत्रण के दो मुख्य वर्गीकरण हो सकते हैं—एक तो परम्परागत और दूसरा विशेष परिस्थितियों में समाज निर्मित नियंत्रण।

जिन समाजों में विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत धीमी रहती है, उनमें परम्परागत सामाजिक नियंत्रण बड़े प्रभावशाली होते हैं। ऐसे समाज में जीवनशैली पूर्व-निर्धारित रहती है तथा उसमें स्थायित्व होता है। मनुष्य के जीवन में लक्ष्य और साधन सामाजिक मान्यताओं द्वारा प्रतिमानित रहते हैं उनको नियंत्रित करने के लिए, प्रथाओं, परम्पराओं जनरीतियों, धर्म, रुढ़ियों आदि का प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक और विकसित समाजों में विज्ञान और उद्योग के प्रादुर्भाव ने परिवर्तन की गति इतनी तीव्र कर दी है कि उस समाज के लोग अपना संमजन परम्परागत जीवन की शैलियों से नहीं कर पा रहें हैं। इन समाजों में समाज द्वारा निर्मित नित नूतन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। सामाजिक अस्थिरता के कारण आये दिन समाज की समस्याएँ और उनके निदान बदलते रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में आग्रह मूलक नियंत्रण के साधन सफल नहीं हो पाते हैं। इसलिए इनमें अनिवार्य एवं बाध्य साधनों का प्रयोग किया जाता है। कानून, दण्ड,—संहिताएँ आदि इसकी प्रमुख विधियाँ हैं।

सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य समाज की असमान इकाइयों को संगठित, सन्तुलित तथा एकरुप करना होता है। इसके लिए अनेक सामुदायिक, समितिक, वैधानिक और आचार संहिताओं का प्रयोग किया जाता है। इन संहिताओं से सामाजिक प्रक्रियाओं के मानित और स्वीकृत ढंग प्रस्तुत किए जाते हैं तथा इनके अनुरूप व्यवहार करने के लिए व्यक्ति अथवा समूह पर दबाव डाला जाता है। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(क) परम्पराएँ (Traditions) परम्पराएँ सामाजिक नियंत्रण का औपचारिक साधन हैं। इनका आधार, प्रथाएँ, जनरीतियाँ, विश्वास, आचार-विचार आदि होते हैं। ये बहुत कम परिवर्तनशील होती हैं तथा इनका परम्परागत रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरण होता रहता है। परम्पराएँ व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को नियंत्रण करती हैं। जन्म के उपरान्त बालक परम्पराओं का ही अनुकरण करता है तथा इन्हीं के आधार पर उसका सामाजीकरण होता है। समाज में प्रचलित परम्पराओं को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त होती है तथा इनका प्रभाव इतना गहनतम होता है कि समाज में परिवर्तन होते रहने के बावजूद भी परम्पराओं का परित्याग सुगमता से नहीं हो पाता है। परम्पराओं से मनुष्य का पथ प्रदर्शन होता है, समाज के सदस्यों एवं परिस्थितियों का समंजन होता है, तथा सामाजिक मानदण्डों में स्थिरता स्थापित होती है।

(ख) प्रथाएँ (Customs) प्रथा एक प्रकार का ऐच्छिक कार्य है जो किसी राष्ट्र अथवा समुदाय में विकसित होता है। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नों से कुछ ऐसी विधियाँ खोज ली

जाती हैं जो सबसे अधिक उपयुक्त होती हैं। फिर उसी प्रकार की आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं विधियों का प्रयोग किया जाता है। आगे चल कर यही विधियाँ किसी व्यक्ति विशेष की ही नहीं अपितु पूरे समाज की प्रचलन बन जाती हैं। इन्हीं को प्रथाएँ कहते हैं। प्रथाओं के पीछे सम्प्रदाय का बल होता है। इन्हीं से व्यक्तियों के कर्तव्य और अधिकार विभाजित होते हैं तथा उनका सामाजिक संमजन होता है। प्रथाएँ, परम्पराओं से बहुत मिलती जुलती होती हैं। वस्तुतः प्रथाओं से ही परम्पराओं का स्वरूप निर्धारित होता है।

(ग) **भाषा** (Language) भाषा और सभ्यता का गहरा सम्बन्ध है। भाषा द्वारा समय तथा स्थान पर होने वाली प्रक्रियाओं का रुपान्तर होता है। अनुभवों का संकलन तथा उनका प्रसारण भाषा के ही माध्यम से सम्भव है। भाषा मनुष्य के उन मानव व्यवहारों को नियंत्रित करती है जिनका सम्बन्ध उसकी मूल प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओं से होता है। भाषा से परम्परागत नियंत्रण का संचालन होता है तथा सामाजिक नियंत्रण की निर्धारित विधियों की रक्षा होती है। इसी प्रकार सामाजिक मूल्यों के प्रसारण तथा सामाजिक एकात्मकता के लक्ष्यों की प्राप्ति भी भाषा से ही होती है।

उपरिलिखित चर्चित परम्पराएँ, प्रथाएँ और भाषा सामाजिक नियंत्रण के साधनों के अन्तर्गत आते हैं। इनका विस्तृत विवेचन पृथक अध्यायों में किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अभिकरण (एजेन्सी) भी होते हैं जिनसे सामाजिक नियंत्रण किया जाता है। शिक्षा, परिवार, धर्म, राज्य, कला, प्रचार, जनमत फैशन, हास्य-व्यंग, कानून, दण्ड आदि सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख अभिकरण हैं। शिक्षा, नियंत्रण का एक ऐसा उपकरण है जिसका प्रयोग साधन एवं अभिकरण दोनों प्रकार से किया जाता है। इन सभी अभिकरणों का विस्तृत विश्लेषण भी आगामी पृथक-पृथक अध्यायों में किया गया है।

सामाजिक नियन्त्रण पर समाजशास्त्रियों के मत
(Views of Sociologists on Social Control)

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक जटिलताओं और बिषमताओं को नियन्त्रित करने हेतु सामाजिक नियंत्रण को सैद्धान्तिक तथा वैज्ञानिक स्वरुप

देने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में हरबर्ट स्पेंसर और टालकॉट पारसन्स के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **हरबर्ट स्पेंसर** (Herbert Spencer) स्पेंसर ने व्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए समाज को एक संस्था के रूप में देखा है। जिस प्रकार किसी संस्था से लाभान्वित होने के लिए उसका सदस्य बनना अनिवार्य होता है उसी प्रकार मनुष्य प्रकृति के साथ संघर्ष करने के लिए समाज का सदस्य होकर उसके नियमों आदि का अनुकरण करता है। सामाजिक मान्यताओं से नियंत्रित रह कर मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। स्पेंसर ने सामाजिक नियंत्रण की चार मुख्य तकनीकें बताई हैं—शासन, धर्म, प्रथायें और नैतिकता। समाज इन साधनों से अपने सदस्यों पर भय और बल का प्रयोग करके उनके हितों की रक्षा करता है तथा उनका जीवन नियंत्रित करता है। इससे मानवीय जीवन में नैतिकता का विकास होता है और एक आदर्शमय जीवन का निर्माण होता है। ऐसा हो जाने पर मनुष्य में आत्म-नियंत्रण की क्षमता जाग्रत हो जाती है और फिर उसे नियंत्रित करने के लिए किसी वाह्य साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्पेंसर के विचार में जहाँ तक मनुष्य नैतिकता आदि के आधार पर नियंत्रित किया जा सकता है, वाह्य नियंत्रण की आवश्यकता का कोई विशेष महत्व नहीं है।

(२) **टालकॉट पारसन्स** (Talcott Parsons) पारसन्स नियंत्रण की तकनीक को सामाजिक प्रक्रियाओं में निहित मानता है। सामाजिक प्रक्रियाओं का ध्येय समाज को संतुलित बनाये रखना होता है। समाज में कुछ अनियोजित तथा विघटनकारी तत्त्व होते हैं जो सामाजिक प्रकियाओं में बाधक होते हैं। इनकी रोकथाम करने के लिए सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। पारसन्स का मत है कि किसी भी व्यक्ति में इतनी क्षमता नहीं है कि वह किसी एक सामार्जिक क्रिया की पूर्ति कर सके अथवा अनेक सामाजिक क्रियाओं से अपना निर्वाह कर सके। ऐसा करने के लिए उसे समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है। इस सहयोग से विभिन्न सदस्यों के बीच समन्वय बना रहता है तथा बाधायें उत्पन्न होने की सम्भावनायें कम हो जाती हैं। ऐसी नियंत्रण व्यवस्था प्राप्त करने के दो साधन हैं जो अगले पृष्ठ पर दिये गये हैं।

(i) **संस्थागत सामयिक निर्धारण** (Institutionalised Time Schedule) पारसन्स के अनुसार यदि किसी सामाजिक क्रिया को कार्यान्वित करने के लिए कोई निश्चित समय निर्धारण कर दिया जाए तो पारस्परिक अवरोध को कम किया जा सकता है। किसी एक क्रिया को सम्पन्न करने के लिए समाज के सभी व्यक्ति एक साथ उसके लिए मानसिक रूप से तत्पर होकर एकत्रित होते हैं। सबकी मानसिक विचारधारा समान होने के कारण लोगों में विरोधाभास नहीं होता। छुट्टी का समय, काम करने का समय, बाजार, दफ्तर, देवालय आदि के खुलने का समय निर्धारित रहने से संस्थात्मक रूप से सामाजिक प्रक्रिया द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है।

(ii) **संस्थागत प्राथमिकताएँ** (Institutionalised Priorities) बहुतायत में सामाजिक प्रक्रियायें होने से व्यक्ति विकल्पों का चुनाव नहीं कर पाता है। फलस्वरूप संघर्ष के प्रकम चालू हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित कार्य अपनी सुविधानुसार करने लगता है जिससे अवरोध उत्पन्न होता है। पारसन्स का विचार है कि यदि सामाजिक प्रक्रियाओं को प्राथमिकता के आधार पर संस्थागत कर दिया जाय तो पारस्परिक संघर्ष कम हो जायगा। इससे मनुष्य को ये ज्ञात रहेगा कि उसे कौन सा कार्य पहले और कौन सा कार्य बाद में करना है। इस प्रकार मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित हो जायेगा। धार्मिक कर्मकाण्डों में संस्थागत प्राथमिकताओं की व्यवस्था देखने को मिलती है। मनुष्य के जन्म-विवाह-मरण आदि में इस प्रकार की प्राथमिकताएँ पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी संस्थायें हैं जो मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। पारसन्स ने एकलन (Instulation) और पृथक्करण (Isolation) सामाजिक नियन्त्रण के दो साधन बताये हैं। एकलन द्वारा विरोधी तत्त्वों से समाज की सुरक्षा की जाती है और पृथक्करण से मनुष्य का पथ निर्देशन किया जाता है।

Selected Readings

1. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
2. Park and Burgess : Introduction to the Science of Sociology.

3. MacIver and Page : Society.
4. E. A. Ross : Social Control.
5. J. S. Roucek : Social Control.
6. Tolcott Parsons : Social System.

Qustions

१. सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ स्पष्ट कीजिये ।
Explain the meaning of social control.

२. सामाजिक नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट करते हुए सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख कीजिये ।
What do you understand by social control ? Explain and discuss the various forms of social control.

३. सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधनों का उल्लेख कीजिये ।
Describe the various means of social control.

४. सामाजिक नियन्त्रण के कुछ प्रमुख अभिकरणों का वर्णन कीजिये । ये अभिकरण आधुनिक समाज को नियन्त्रित करने में कहाँ तक सफल हैं ?
Discuss some important agencies of social control. How for these agencies are successful in controlling the modern society ?

५. सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में हरबर्ट स्पेंसर और टॉलकट पारसन्स के मतों की विवेचना कीजिये ।
Discuss the views of Herbert Spencer and Tolcott Parsons on social control..

अध्याय ११

परम्पराएँ
(TRADITIONS)

विज्ञान ने आज विकास की गति इतनी तीव्र कर दी है कि मनुष्य सभी सामाजिक और प्राकृतिक सीमाओं का उल्लंघन करता चला जा रहा है। मनुष्य के जीवन में अब ठहराव नाम की कोई चीज नहीं रह गयी है। नूतनता की खोज एक मृगतृष्णा की भाँति उसे स्थायी नहीं रहने दे रही है। यह परिवर्तन का द्योतक है जो अपने में इतना तीव्रतम है कि मनुष्य के अपने और सामाज़िक जीवन के प्रतिमानित मूल्यों की उपेक्षा करता चला जा रहा है। इन परिवर्तनों से सामाजिक संरचना को क्षति पहुचती है तथा समाज में विघटनकारी तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। इसको नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक है कि सामाजिक संगठन में स्थायित्व बनाये रखा जाये और परिवर्तन की अवांछित प्रक्रियाओं से उसे इतना सुरक्षित कर दिया जाय कि विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों के बीच सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था को संचालित एवं नियन्त्रित करने के लिए महत्वपूर्ण साधन परम्परा है।

परम्परा, स्मृति और स्वतंत्र चिन्तन की श्रृङ्खला है। यही स्मृति और स्वतंत्र चिन्तन मनुष्य को संसार के अन्य प्राणियों से विभक्त करते हैं। इसके अभाव में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। एक तोते को पिजड़े में बन्द करके रटाया जा सकता है और जो कुछ उसे रटाया गया है वह

उसी की पुनरावृत्ति करता रहता है। इस प्रकार तोते में स्मृति तो आ जाती है परन्तु चिन्तन की क्षमता प्राप्त नहीं होती। मनुष्य में स्मृति और चिन्तन दोनों व्याप्त रहते हैं। वह रटी हुई बातें नहीं दोहराता है। वह नयी बातें सोचता है, जीवनयापन की नवीन शैलियों और मार्गों की खोज करता है तथा समयानुसार उनका अनुकरण करके अपना और समाज का जीवन नियन्त्रित करता है। मनुष्य की स्मृति और उसके स्वतन्त्र चिन्तन का आधार परम्पराएँ होती हैं।

जिस मनुष्य में स्मृति होती है वह परम्पराओं से मुक्त नहीं हो सकता है। मनुष्य के विकास, प्रशिक्षण, और नियन्त्रण में मनन और दर्शन का योगदान न हो तो उसका विकास नही हो सकता है। आज तक विकास की जितनी रश्मियाँ इस भूमि पर आयीं हैं वे सब स्मृति, परम्परा, प्रशिक्षण मनन और दर्शन के वायुमण्डल से छन कर आयी हैं। इन रश्मियों के केन्द्र में परम्परा का प्रमुख स्थान है। परम्परा की उपेक्षा करके मनुष्य विकास से ही विमुख नहीं होता अपितु सामुदायिक जीवन की आधार-भित्ति से भी विमुख हो जाता है।

परम्पराओं के ही आधार पर मनुष्य समुदित होता है तथा पारिवारिक और सामाजिक व्यवहार करता है। परम्परा विहीन सामाजिक जीवन की परिकल्पना ही व्यर्थ है। परम्पराओं की निरन्तर धाराओं से समाज का वांछित स्वरूप गढ़ा जाता है, जीवन की शैली निर्धारित होती है, तथा एक प्रतिमानित ढंग से व्यक्ति और समाज का नियन्त्रण होता है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक और उसके बाद उसकी अनन्त पीढ़ियों तक की विचारधाराओं को, परम्परायें एक सूत्र में पिरोये रहती हैं। इससे सामुदायिक जीवन एकरूप तथा संमजित रहता है।

परिभाषायें (Definitions)

परम्पराएँ, सामाजिक नियंत्रण का सार्वभौमिक साधन हैं। ये इतनी व्यापक हैं कि संसार के सभी समाजों में इनका प्रादुर्भाव है। किसी भी समाज का इतिहास और विकास परम्पराओं पर ही आधारित होता है। परम्पराओं से ही मानवीय आचार-व्यवहार, प्रथाएँ, जनरीतियाँ और कानून निर्धारित होते हैं। प्राचीनतम होने के कारण ये बहुत कम परिवर्तनशील होती हैं। परम्पराओं की कुछ परिभाषाएँ अगले पृष्ठ पर उद्धृत हैं।

जिन्सबर्ग के अनुसार, "परम्परा का तात्पर्य व्यक्तियों के विचारों, आदतों और प्रथाओं के संकलित रूप से है जिनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संक्रमण होता रहता है।"[1]

रॉस ने कहा है कि "परम्परा चिन्तन एवं विश्वास की प्रणाली का संक्रमण है।"[2]

अतएव हम कह सकते हैं कि "परम्परा, निरन्तर विचारों की एक ऐसी स्थायी सामाजिक विरासत है जो नियंत्रण की अनेक धाराओं को समाहित किए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होती रहती है।[3]

सामाजिक नियन्त्रण में परम्पराओं की भूमिका
(Role of Traditions in Social Control)

परम्पराओं की सीढ़ी पर चढ़कर मनुष्य अपने सामाजिक पर्यावरण की अनुभूति करता है और इन्हीं में उसे अपने सामुदायिक जीवन के दर्शन होते हैं। किसी भी विशेष समुदाय की एक अपनी विशिष्ट चिन्तन शैली होती है। परम्परा इस चिन्तन अथवा विश्वास के ढंग का संचरण होती है। जन्म के उपरान्त बालक का मानस-पटल सपाट रहता है। धीरे-धीरे उसपर अपने अभिभावकों और गुरुजनों की आदतों तथा विचारों का प्रभाव पड़ता है। निर्देश और अनुकरण द्वारा वह इन आदतों को सीखता है तथा विचारों से अपना तादाम्य स्थापित करता है। इस सीखने की प्रक्रिया में परम्पराओं

1. "By tradition is meant the sum of all ideas, habits and customs that belong to a people and are transmitted from generation to generation."

—Ginsberg.

2. By tradition is meant the transmission of away of thinking and beleiving."

—Ross.

3. "Tradition, consisting various streams of control, is a permanent heritage of continuing ideology, which is transmitted from generation to generation.

—Authors.

का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हुआ करता है। इन परम्पराओं में मनुष्य के सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने वाले तत्व निहित होते हैं जिनके निरन्तर प्रयोग से मनुष्य का एक निर्धारित तथा प्रतिमानित स्वरूप निर्मित होता है।

परम्पराओं की व्यापकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलती है। नृत्य, संगीत, कला, जनरीति, धर्म, फैशन, संस्कार आदि सबकी परम्पराएँ होती हैं। विभिन्न समाजों में परम्पराओं के भिन्न भिन्न तौर तरीके होते हैं परन्तु कोई भी समाज परम्परा विहीन नहीं होता है। सभी क्षेत्रों में प्रादुर्भाव होने के कारण परम्परा, सामाजिक नियंत्रण का एक व्यापक और प्रभावशाली साधन मानी जाती हैं। निम्नांकित विन्दुओं में परम्परा का समाजिक नियंत्रण में बहुपक्षीय योगदान स्पष्ट किया जा सकता है :

(१) **सामाजिक व्यवहार की एकरुपता** (Uniformity of Social Behaviour) सामाजिक व्यवहारों की विभिन्नता ही प्रायः सामाजिक जीवन को असंगठित करती है। किसी एक समुदाय के सदस्य जब नाना प्रकार के विश्वासों और विचारों को लेकर एकत्रित होते हैं तो उनमें संघर्ष की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। फलस्वरूप सामाजिक संगठन अनियंत्रित होने लगता हैं। परम्पराओं के प्रादुर्भाव में समाज के सभी सदस्य एक विचार-सूत्र में बँधे रहते हैं। वे लोग जीवन के बारे में प्रायः एक ही प्रकार से सोचते हैं तथा एक ही जैसा आचरण और व्यवहार करते हैं। मानवीय जीवन को यह एकरुपता परम्पराओं के अनुकरण से प्राप्त होती है।

(२) **व्यावसायिक कुशलता** (Professional Efficiency) शारीरिक गुणों के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति बहुत से मानसिक गुण भी अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। काव्य, संगीत, चित्रकला, हस्तकौशल, आदि अनेक योग्यताएँ, मनुष्य वंशानुसंक्रमण द्वारा ग्रहण करता है। ये कलाएँ अथवा योग्यताएँ परम्परागत होती हैं। इनमें दक्ष होकर जब व्यक्ति व्यावसायिक जीवन में प्रवेश करता है तो वह समाज को परम्परागत रूप से स्वीकृत सेवाएँ, वस्तुएँ और विचार प्रदान करता है। उत्पादन और उपभोग का सामाजिक जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि कोई समाज उन्हीं सेवाओं और वस्तुओं का प्रयोग करता है जो परम्पराओं से

वहाँ प्रचलित रही हैं तो उसके सदस्यों की प्रक्रियाओं और व्यवहारों में परिवर्तन आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार समाज के सदस्य जब अपने व्यवसाय का चयन अपनी परम्पराओं के आधार पर करते हैं तो उसकी अपेक्षित कुशलता उन्हें विरासत के रूप में मिलती है। वे इसमें विशेषीकरण प्राप्त करते हैं। इनसे समाज को केवल ऐसे ही विचार, वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती हैं जो समाज की परम्पराओं द्वारा निर्धारित और प्रतिमानित हैं। परिणामतः व्यक्ति और समाज का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन इनके द्वारा नियंत्रित रहता है।

(३) **सामाजिक परिवर्तन पर नियंत्रण** (Control on Social Change) विकास का ध्येय होता है परिवर्तन। परिवर्तन अपने में अनेक सामाजिक गुण और दोष लेकर आता है। इसकी गति इतनी तीव्र होती है कि मनुष्य अपनी सामाजिक मर्यादायों का निर्वाह नहीं कर पाता है। फलस्वरूप जीवन के एक निर्धारित मार्ग से व्यक्ति और समाज का विचलन होने लगता है। सामाजिक मूल्यों, विश्वासों और आदर्शों की अवहेलना होने लगती है। परिवर्तन के द्वारा सामाजिक संरचना में जो भी उथल-पुथल मच जाती है उनका मुख्य कारण अपर्याप्त सामाजिक नियंत्रण होता है। परम्पराएँ अपनी नियंत्रात्मक शक्ति द्वारा किसी भी अवांछित परिवर्तन को सामाजिक संगठन में प्रवेशकरने पर रोक लगाती है। परम्पराएँ दीर्घ कालीन वैचारिकी एवं विश्वासों पर आधारित होती है इसलिए वे जीवन की नवीन और परिवर्तित भूमिकाओं तथा व्यवहारों को स्वीकार नहीं करती हैं। नियंत्रण के साधन के रुप में परम्पराओं का यह प्रमुख कार्य है कि वे परिवर्तन को नियंत्रित करके सामाजिक जीवन को एक प्रतिमानित तथा प्रचलित स्वरुप में सुरक्षित रखती हैं।

(४) **स्वतंत्र आत्मनियंत्रण** (Independent Self Control) परम्पराओं द्वारा नियंत्रित मानवीय जीवन बाध्यता मूलक नहीं होता है। इसलिए परम्पराओं के माध्यम से नियंत्रण करने के लिए किसी विधान अथवा दण्ड की आवश्यकता नहीं होती है। बचपन से ही मनुष्य को एक आदर्श सामाजिक जीवन के विश्वासों और व्यवहारों का पाठ पढ़ाया जाता है।

परम्पराओं में प्रायः पुनर्जन्म, स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य आदि से सम्बन्धित अनेक विश्वास निहित रहते हैं। इनके कारण मनुष्य कभी कोई ऐसा आचरण

नहीं करता जो असामाजिक अथवा अनैतिक हो। पूर्वजों द्वारा जो भी मानवीय व्यवहार असामाजिक घोषित कर दिए गए हैं वे अगली पीढ़ियों तक असामाजिक ही माने जाएगें। इसके लिए किसी कानून या संहिता की आवश्यकता नहीं होती अपितु व्यक्ति स्वतः अपनी इच्छा से इनका वहिष्कार करता रहता है। यह सब मनुष्य के आत्म नियंत्रित होने के फलस्वरुप होता है और इस आत्म नियंत्रण में परम्पराओं की प्रमुख भूमिका होती है।

(५) **सामाजिक एकता** (Social Integration) परम्पराओं से सामाजिक मानदण्ड पूर्व निर्धारित रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं निर्धारित मानदण्डों के अनुसार आचरण करता है। एकही से विचार और विश्वास होने के कारण व्यक्ति एक संगठन अथवा सम्प्रदाय में रहना प्रसन्द करते हैं। इनके पारस्परिक व्यवहार परम्पराओं द्वारा निर्धारित होने के कारण सारुप्य होते हैं। इसलिए इनमें सामाजिक तनाव उत्पन्न नहीं होने पाता है तथा इनका सामाजिक विकास एक ही निर्धारित दिशा की ओर होता है। इससे सामाजिक जीवन में निरन्तरता और एकता बनी रहती है। परम्परागत सामाजिक जीवन में संघर्ष, कुसंमजन, विलगाव, विघटन आदि की सम्भावनाएँ बहुत कम होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक एकता केवल इसलिए संम्भव है कि वह परम्पराओं पर आधारित होती है।

(६) **सामाजिक और धार्मिक संस्थान** (Social and Religious Institutions) अपने अतीत को चिर स्मरणीय बनाए रखने के लिए परस्पराओं पर आधारित सामाजिक संरचना, विभिन्न संस्थाओं और पर्वों को प्रोत्साहित करती है। सामाजिक संचालन और नियंत्रण के लिए ये परम्पराएँ इतनी महत्वपूर्ण होती हैं कि सामाजिक विरासत के रूप में हस्तान्तरित होने के साथ-साथ अनेक पर्वों तथा धार्मिक एवं सामाजिक संस्थानों का भी स्वरूप ले लेती हैं। समाज के बहुत से सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा धार्मिक पर्व केवल परम्पराओं के दबाव से हुआ करते हैं। सामाजिक संस्थाओं में कल्याणकारी कार्य, प्रशिक्षण एवं सामाजिक सेवाओं का संचालन इस प्रकार होता है कि परम्पराओं के प्रतिमानित मूल्य सुरक्षित रहते हैं। धार्मिक पर्वों में लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं जिससे सहयोग और संगठन को प्रोत्साहन मिलता है तथा परम्पराओं का विस्तार

होता है। इस प्रकार परम्पराएँ, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थानों के माध्यम से सामाजिक मूल्यों का स्थायित्व बनाए रखती हैं।

Selected Readings

1. R. M. MacIver and C. H. Page : Society.
2. E. A. Ross : Social Control.
3. E. S. Bogardus : Sociology.

Questions

१. सामाजिक नियंत्रण में परम्परा का महत्व स्पष्ट कीजिए।
Discuss the importance of tradition in social control.

२. परम्परा क्या है ? सामाजिक नियंत्रण में परम्परा की भूमिका बताइए।
What is tradition ? Explain the role of tradition in social control.

अध्याय १२

प्रथाएँ
(CUSTOMS)

मानव जाति का इतिहास प्रथाओं और परम्पराओं का इतिहास है। इन्हीं से मनुष्य के जीवन को सार्वभौमिकता प्राप्त है और इन्हीं से उसका जीवन संचालित और नियंत्रित है। प्रत्येक देश अथवा काल का व्यक्ति अपनी प्रथाओं और परम्पराओं से प्रभावित है। मनुष्य की सामाजिक मान्यता उसकी प्रथाओं द्वारा प्रदत्त होती है। प्रथाओं से ही मनुष्य अपने सामाजिक पर्यावरण से संमजित होता है और प्रथाओं से ही वह विभिन्न समाजों में विभेदीकृत होता है। प्रथा एक सामुदायिक कार्य प्रणाली है जो धीरे-धीरे सामाजिक आवश्यकतानुसार विकसित होती चली आई है। प्रथाओं के सृजन की कोई संहिता या लिखित विधान अथवा कोई संस्थान नही है। यद्यपि ये स्वेच्छापूर्वक समाज और उसके सदस्यों द्वारा अपनाई जाती हैं परन्तु इनका अनुकरण सर्वाधिक बाध्यतामूलक होता है। विशिष्ट प्रकार के वस्त्र धारण करना, बड़ों को प्रणाम करना, विवाह आदि संस्कारों को किसी विशेष पद्धति से सम्पन्न करना आदि प्रथाओं के अनुरूप होता है। आदि से अन्त तक मनुष्य के जीवन में प्रथाओं का इतना प्रादुर्भाव पाया जाता है कि यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इन्सान की जिन्दगी ही एक प्रथा है। अहर्निशि मनुष्य अचेतन रूप से जाने कितनी प्रथाओं का अनुसरण और पालन करता रहता है।

प्रथाओं में सामाजिक भाई चारे की प्रमुखता होती है। प्रथाओं से सामाजिक सम्बन्धों के ताने बाने बुने रहते हैं, तथा इन्हीं से सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है। प्रथाओं को कुछ ऐसी मान्यताएं होती हैं जिसके अनुरुप समाज के सदस्य एकत्रित होकर एक सामाजिक वातावरण में भाग लेते हैं। उत्सव, प्रीति-गोष्ठी, तथा अन्य संस्कारों में विभिन्न व्यक्ति प्रथाओं के अनुसार आचरण किया करते हैं। इस प्रकार प्रथाओं की एक सामाजिक प्रकृति होती है जिनके अनुसार आचरण करने के लिए सामूहिक जीवन एकरुप होकर संगठित होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसीलिए प्रथाओं को सामुदायिक जीवन की व्यवहार-पद्धति कहा जाता है।

परिभाषायें (Definitions)

प्रथाओं के नियमों और विशेषताओं का कहीं कोई लिखित विवरण नहीं होता है। ये स्वेच्छानुरुप तथा अनौपचारिक सामाजिक दबावों के कारण मनुष्य के सामाजिक जीवन को नियंत्रित किए रहती हैं। इनकी प्रकृति कुछ ऐसी होती है कि विविध समाजों में इनके बड़े ही विचित्र स्वरूप देखने को मिलते हैं। इसलिए प्रथाओं को व्यापक रूप से पारिभाषित करना कठिन है। कुछ समाजवेत्ताओं ने प्रथाओं की निम्नलिखित परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।

ऐडवर्ड सैपिर का कथन है कि **"प्रथा शब्द का प्रयोग उन आचरणों के प्रतिमानों की सम्पूर्णता के लिए किया जाता है जो परम्पराओं द्वारा लाए जाते हैं, समूह में स्थिर किये जाते हैं; तथा जो व्यक्ति के निरुद्देश्य व्यक्तिगत कार्यों से भिन्न हैं।"**[1]

बोगार्डस के अनुसार **"प्रथायें और परम्परायें समूह द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी पद्धतियाँ हैं जो सुव्यवस्थित रहती हैं, जिन्हें मान्यता**

---

1. "The word custom is used to apply to the totality of behaviour patterns which are carried by tradition and lodged in the group, as contrasted with the more random personal activities of the individual."

—Edward Sapir : *Encyclopaedia of Modern Life.*

प्राप्त होती है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हंस्तातरित होती रहती हैं।"[1]

मैंकाइवर और पेज ने अपनी संक्षिप्त परिभाषा में कहा है, "सामाजिक मान्यता प्राप्त व्यवहार ही समाज की प्रथायें हैं।"[2]

मिरा कोमारोवस्की का कहना है कि, "प्रथा, व्यवहार की समाज स्वीकृत पद्धति है जो परम्परा द्वारा संचलित होती है तथा इसकी अवहेलना करने पर इसे सामाजिक अवमान्यता द्वारा लागू किया जाता है।"[3]

और रॉस के मतानुसार, "प्रथा का अर्थ कार्य की विधि का हस्तान्तरण है।"[4]

प्रथा की समाजशास्त्रीय व्याख्या
(Sociological Explanation of Custom)

प्रथाओं का स्वरूप और क्षेत्र, सामाजिक नियंत्रण के अन्य अभिकरणों एवं साधनों की अपेक्षाकृत अधिक जटिलतम है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था में जब प्रथाओं के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण किया जाता है तब प्रथाओं का स्वतंत्र अस्तित्व खोज पाना कठिन हो जाता है। प्रथाएँ समूह के स्वभाव को प्रभावित करती हैं। इसके लिए वे अनेक समाजशास्त्रीय तत्वों से इतना घुलमिल कर चलती हैं कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि प्रथाओं अथा अन्य

1. "Custom and traditions are group accepted techniques of control that have become well established that are taken for granted and that are passed along from generation to generation."

—E. S. Bogardus.

2. "Socially accredited ways of acting are the customs of the society."

R. M. MacIver and C. H. Page : *Society*

3. "Custom is a socially prescribed mode of behaviour, carried by tradition and enforced by social disapproval of its violation."

—Mira Komarovasky.

4. "By custom is meant the transmission of a way of doing."

—Ross : *Social Psychology*.

नियंत्रणकारी साधनों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः प्रथाएँ अपनी विशेषताओं के कारण समस्त साधनों से पृथक हैं। नीचे उन समाजशास्त्रीय पदों का अन्तर स्पष्ट किया गया है जो प्रायः प्रथाओं जैसे ही लगते हैं परन्तु वास्तव में प्रथाओं से भिन्न होते हैं।

आदतें (स्वभाव) और प्रथाएँ (Custom and Habit) आदतें उन आचरणों को कहते हैं जो बार-बार प्रयोग में आते रहने के कारण व्यवस्थित हो जाती हैं। बहुत सी आदतें ऐसी होती हैं जो परम्परागत पीढ़ियों से व्यवहार में चले आने के कारण प्रथा जैसी बन जाती हैं, परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उन्हें प्रथा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आदत एक संकुचित शब्द है जो किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यवहार अथवा स्वभाव को इंगित करता है, जब कि प्रथा का अनुसरण अथवा उसके अनुरुप व्यवहार, समस्त समाज द्वारा किया जाता है। फिर भी आदत और प्रथा का गहन सम्बन्ध है। आदत से प्रथा और प्रथा से आदत का जन्म होता है। कोई भी ऐसी आदत जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, प्रथा बन जाती है। विकसित पीढ़ियों में बिना आदतों की सहायता से प्रथाओं का निर्वाह होना कठिन हो जाता है। प्रथाओं के बिना आदतों का अस्तित्व हो सकता है परन्तु आदत के बिना प्रथा का टिकना मुश्किल होता है।

परम्पराएँ और प्रथाएँ (Custom and Tradition) इसी प्रकार प्रथाएँ और परम्पराएँ भी पर्यायवाची नहीं है। परम्पराएँ विचारोन्मूलन होती हैं। प्रथाएँ इन विचारों को सुव्यवस्थित सामाजिक स्वरूप प्रदान करके, सामाजिक संचालन और नियंत्रण का माध्यम बन जाती हैं। अतएव परम्परा का सम्बन्ध वैचारिकी से होता है और प्रथा का सम्बन्ध क्रिया अथवा पद्धति से होता है।

फैशन और प्रथाएँ (Custom and Fashion) कुछ समाजशास्त्रियों ने प्रथाओं और फैशन को भिन्न माना है। हरबर्ट स्पेंसर का मत है कि प्रथाओं के प्रादुर्भाव से समाज में जो भी वर्ग विभेद उत्पन्न हो जाता है वह फैशन के प्रभाव से दूर किया जाता है। फैशन सम्प्रदाय विरोधी होता है। जब भी प्रथाओं की नियंत्रण-क्षमता क्षीण होने लगती है तब फैशन सबल हो उठता है। फैशन, प्रथाओं की अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तनशील होने के कारण, प्रथाओं के क्षेत्र का अतिक्रमण न करके उनका पूरक सिद्ध होता है।

पोशाक, मनोरंजन, संगीत, विवाह, खेलकूद आदि प्रथाओं द्वारा निर्धारित होते हैं, परन्तु फैशन से इनकी परिवर्तनशील शैलियाँ संचालित होती हैं। इस प्रकार प्रथाओं द्वारा निर्देशित मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों की गतिशीलता और विविधता, फैशन से प्रभावित होती है।

कानून और प्रथाएँ (Custom and Law) यद्यपि कानून और प्रथाओं, दोनों के नियमों का उद्देश्य, समाज को नियंत्रित करना तथा उसे सुरक्षित रखना होता है, परन्तु इन दोनों की सरंचना और विशेषताओं में महत्वपूर्ण अन्तर होता है। सर्वप्रथम, प्रथा का प्रादुर्भाव दीर्घकालीन होता है। अभिरुचियाँ और जनरीतियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवहार में आते रहने के कारण, प्रथाओं का रूप ग्रहण करती हैं। परन्तु कानून का जन्म एक निश्चित अवधि में होता है। इसलिए कानून शीघ्रता से परिवर्तित किया जा सकता है जब कि प्रथाओं में परिवर्तन आने में काफी समय लगता है। दूसरे प्रथाओं के पीछे जनशक्ति और जन विश्वास का दबाव होता है जबकि कानून को राज्य शक्ति का समर्थन प्राप्त होता है। कानून का उलघंन करने वाले को राज्य की ओर से कठोरतम दण्ड दिया जा सकता है। परन्तु प्रथाओं की अवहेलना करने वाले का सामाजिक बहिष्कार होता है। प्रथाओं में नैतिक शक्ति और विश्वास निहित होते हैं तथा कानून में राज्य शक्ति और भय निहित होते हैं। तीसरे प्रथाएँ समाज की उत्पत्ति होती हैं तथा इन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है इसलिए इनका सम्बन्ध सामाजिक नियंत्रण के आन्तरिक साधनों से होता है। कानून राज्य द्वारा निर्मित होते हैं तथा इनकी प्रकृति दबावमूलक होती है। इसलिए ये सामाजिक नियंत्रण के वाह्य साधनों के अन्तर्गत आते हैं और चौथे, सामाजिक नियंत्रण के दृष्टि कोण से कानून का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता है जितना प्रथाओं का होता है। प्रथाएँ सामाजिक व्यवहार का एक अंग होती है जिन्हें व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है। परन्तु कानून दबावमूलक होता है। इसीलिए वह प्रथाओं की भांति सामाजिक व्यवहार का निश्चित अंग नहीं बन पाता है। वस्तुत: कानून के भय से लोग भागते रहते हैं।

प्रथाओं और कानून में उपरोक्त विभेद होने के उपरान्त भी ये एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। प्रथाओं को अपना अस्तित्व जमाने में समय लगता है जब कि कानून का जन्म किसी भी क्षण हो सकता है। समाज पर लागू होने के बाद कानून कुछ ऐसी मनोवृत्तियों और प्रक्रियाओं का सूत्रपात कर देता है

जिसके कारण नूतन प्रथाओं का प्रादुर्भाव अनिवार्य हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब तक कानून को प्रथाओं का समर्थन और बल प्राप्त नहीं होता है तब तक जन-मानस पर उसके नियंत्रतात्मक अधिकार शिथिल ही रहते हैं।

सामाजिक नियंत्रण में प्रथाओं की भूमिका
(Role of Customs in Social Control)

प्रथाओं द्वारा सामाजिक नियंत्रण एक शास्त्रीय साधन है। ये आदि-कालीन हैं तथा इनका हस्तांतरण पूर्वजों द्वारा होता है, इसलिए समाज का प्रत्येक सदस्य इनके प्रति श्रद्धावान रहता है तथा इनके अनुसार आचरण करके एक आदर्श सामाजिक जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जिन समाजों में प्रथाओं का चलन अधिक होता है उसमें दबावमूलक सामाजिक नियंत्रण के साधनों और अभिकरणों की आवश्यकता बहुत कम महसूस की जाती है। इसलिए सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में, प्रथाओं का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में प्रथाओं की भूमिका पर निम्नांकित विन्दुओं द्वारा प्रकाश डाला जा सकता है :

(१) **व्यक्तित्व का निर्माण** (Personality Building) मनुष्य का जन्म ही एक प्रथा से आरंभ होता है, प्रथाओं में ही वह पलता है तथा प्रथाओं के अनुसार ही उसका मृत्यु संस्कार होता है। अर्थात मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, पीढ़ी-दर पीढ़ी प्रथाओं से आच्छादित रहता है। उसके बाल्यकालीन जीवन का आचरण, प्रशिक्षण तथा सामाजीकरण एक निर्धारित प्रथा के अनुरुप होता है। परिणामतः प्रथाओं द्वारा, व्यक्तित्व की आधारभूत संरचना में ऐसे नियन्त्रणकारी तत्व समाहित हो जाते हैं जो उसके शेष जीवन को बिना किसी वाह्य नियंत्रण के एक प्रतिमानित ढंग से संचालित करते रहते हैं। वास्तव में किसी भी मनुष्य का व्यक्तित्व उसके समाज की प्रथाओं का द्योतक होता है। प्रथाओं के आधार पर निर्मित व्यक्तित्व समाज के अन्य सदस्यों के अनुरुप होने के कारण, सामाजिक संघर्ष तथा अन्य विघटन-कारी तत्वों के उत्पन्न होने की सम्भावनाओं को कम करता है।

(२) **सामाजिक नियमों का आधार** (Basis of the Social Laws) समाज के नियम प्रथाओं के आधार पर निर्मित होते हैं। इनके पीछे जनविश्वास की शक्ति होती है इसलिए समाज के सदस्य इन नियमों का

पालन भयवश न करके श्रद्धावश करते हैं। कानून के पीछे दण्ड और राज्य-शक्ति होने के कारण वह वाह्य नियंत्रण माना जाता है तथा वह व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द को दबाने में सफल नहीं हो पाता है। प्रथाएँ नैतिकता पर आधारित होती हैं; और नैतिकता का प्रसरण मनुष्यों को सामाजिक मूल्यों से आत्मज्ञान करने को प्रेरित करता है। सामाजिक नियम सामुदायिक संस्थानों द्वारा संचालित होते हैं जिसके फलस्वरूप समाज के विभिन्न सदस्य एकत्रित और संगठित होकर अपने पारस्परिक व्यवहारों को सुदृढ़ बनाते हैं। इसके अतिरिक्त राजकीय कानूनों को भी, प्रथाओं पर आधारित सामाजिक नियमों से अपना संमजन करते रहना पड़ता है।

(३) **सामाजिक नियन्त्रण के साधनों की न्यूनतापूर्ति** (Supplimentation to the means of Social Control) सामाजिक नियंत्रण का कोई भी उपकरण, अभिकरण अथवा माध्यम, प्रथाओं की अवहेलना करके सामाजिक संरचना को नियंत्रित नहीं कर सकता है। समाज के सभी नियंत्रक तत्व, प्रथाओं के अयोन्याश्रित होते हैं। फैशन, कानून, स्वभाव, परम्परा आदि सभी पर प्रथाओं की छाप रहती है। यह बात और है कि दूसरे नियंत्रक तत्व कुछ नूतन क्रियाओं का सूत्रपात कर देते हैं परन्तु उनको प्रथाओं की स्वीकृति तथा बल प्राप्त करना नितान्त आवश्यक होता है। अनेक फैशन, वैधानिक नियमों, राजकीय प्रचारों आदि की असफलता का कारण प्रायः यही हुआ करता है कि उन्हें प्रथाओं का समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो पाता है। इस प्रकार प्रथा, सभी सामाजिक नियंत्रण के साधनों का न्यूनतापूरक माध्यम है।

(४) **सामाजिक स्थायित्व** (Social Stability) प्रथा सामाजिक आदर्श का प्रतीक है। यह सामाजिक संरचना का ऐसा दुर्ग है जो आवांछित सामाजिक परिवर्तनों की चुनौती को स्वीकार करता है। यदि मनुष्य का जीवन उसके सामाजिक आदर्शों के अनुरुप बना रहे तो आए दिन सामाजिक नियंत्रण की समस्याएँ न उठा करें। प्रथाएँ अपनी ऐसी ही स्थायी प्रकृति होने के कारण इस समस्या का निदान करती हैं। वे अपने आदि कालीन जनरीतियों के आवरण में मानव जीवन को कुछ इस प्रकार लपेटे रहती हैं कि परिवर्तन की हवाओं से वह सर्वदा सुरक्षित रहता है। स्थायित्व, प्रथाओं की आधारमूल विशेषता है। प्रथाओं की जड़ें इतनी गहनतम होती है कि आवश्यकता पड़ने

पर भी प्रायः समाज को ऐच्छिक दिशा की ओर विकासोन्मुख करना कठिन हो जाता है। फिर भी, सामाजिक संरचना में स्थायित्व का अपना महत्व होता है और उस सीमा तक प्रथाएँ अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का भली-भांति निर्वाह करती हैं।

Selected Readings.

1. Edward Sapir : Encyclopaedia of Modern Life.
2. E. A. Ross : Social Control
3. MacIver and Page : Society
4. E. S. Bogardus : Sociology.

Questions.

१. प्रथा को परिभाषित कीजिये। सामाजिक नियन्त्रण में इसकी भूमिका स्पष्ट कीजिये।
Define custom. Explain the role of custom in social control.

२. प्रथा क्या है ? स्पष्ट करते हुए बतलाइये कि प्रथा और कानून में क्या अन्तर है।
What is custom ? Explain the difference between custom and law.

३. "प्रथागत नियंत्रण कानूनी नियंत्रण से श्रेष्ठ है।" समालोचना कीजिए।
"Customary control is better than legal control." Comment.

अध्याय १३

भाषा
(LANGUAGE)

भाषा, अभिव्यक्ति का एक प्रतीक-प्रधान माध्यम है। कोई भी मौखिक अथवा सांकेतिक प्रतीक जिसका व्यापक अर्थ लग सके वह भाषा कही जा सकती है। भाषा का इतने बड़े स्तर पर प्रयोग करने की क्षमता केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। दूसरे जीवों की अपेक्षा, संसार पर मनुष्य का इतना आधिपत्य होने का एक मात्र कारण यही है कि वह भाषा का प्रयोग करना जानता है। भाषा के माध्यम से वह मनुष्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। विभिन्न व्यक्तियों के बीच मिल-बैठकर अपनी आवश्यकताओं और समस्याओं को प्रस्तुत करता है तथा उनके निदान खोजता है। इससे नूतन अविष्कार होते हैं, पारस्परिक सहयोग बढ़ता है, अनुभूतियों का आदान-प्रदान होता है, मानव जाति संगठित होती है तथा सभ्यता का विस्तार होता है।

भाषा के स्वरूप
(Forms of Language)

भाषा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें केवल शब्दोंका ही प्रयोग किया जाए। अभिव्यक्ति के लिए भाषा के तीन स्वरुप हो सकते हैं। भाषा का सर्वप्रथम रुप मौखिक है जिसमें मनुष्य अपनी वाणी से शब्दोंकाउच्चारण करताहैजिससे उसकी भावनाओं, विचारों और अनुभूति की अभिव्यक्ति संचारित होती है दूसरा, अंकित स्वरुप है। पत्र, भित्ति, शिलाओं आदि पर आकृतियाँ बनाकर,

रेखाएँ खींचकर तथा शब्द लिखकर अर्थ व्यक्त किए जाते थे। भाषा का यह सबसे अधिक व्यापक स्वरुप माना जाता है क्योंकि इससे मानव की अभिव्यक्तियों का संकलन हो सकता है तथा उन्हें दीर्घकाल तक संजोकर रक्खा जा सकता है। वर्तमान काल में प्रेस और मुद्रण इसके उदाहरण हैं। भाषा का तीसरा स्वरुप सांकेतिक है। यह समाजशास्त्र का कलात्मक पक्ष है। नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि में अनेक सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग सार्वभौमिक रुप से किया जाता है। यह वृहत् सम्प्रेषण का महत्वपूर्ण साधन है। प्राचीन काल में जब भाषा का विकास नहीं हुआ था तब भी संकेतों के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति की जाती थी। सांकेतिक भाषा में मौखिक और अंकित भाषाओं का भी प्रयोग कर लिया जाता है परन्तु ऐसी स्थिति में इनके अर्थ सामान्य न होकर विशिष्ठ हुआ करते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों की निम्नलिखित परिभाषायें महत्वपूर्ण हैं।

चार्ल्स विनिक के अनुसार, **"भाषा ध्वनित संकेतों की एक प्रणाली है जो संचार, योग्य विचार और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग में लाई जाती है तथा जो समुदाय के सदस्यों को अन्तःक्रिया करने तथा सहयोग करने के योग्य बनाती है।"**[1]

एडवर्ड सौपिर का कथन है कि **"बोलने की अनुपम क्षमता और एक सुव्यवस्थित भाषा प्रत्येक मानव समूह की विशेषताएँ हैं।"**[2]

जेकब्स और स्टर्न का मत है कि **"भाषा किसी बोलने वाले समुदाय की मौखिक अभिव्यक्ति का एक मिला-जुला माध्यम है। यह दूसरे बोलने वाले समुदाय के लिए प्रायः अबोध होती है।"**[3]

---

1. "Language is a system of arbitary vocal symbol, used to express communicable thoughts and feelings and enabling the member of a social group or speech community to interact and co-operate."

—Charles Winick.

2. "The gift of speech and a well ordered language are characteristics of every known group of human beings."

—Edward Sapir.

3. "Language is the complex medium of oral expression of a speech community. It is largely un-intelligible to any other speech community'.

—Jacob and Stern.

श्रीमती लैंजर के विचार में, "महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ भाषा मानव-मस्तिष्क की अत्यन्त रहस्यमयी उत्पत्ति है।"[1]

अल्पोर्ट के शब्दों में, "भाषा प्राणियों में लोकसम्मत प्रतीकों के द्वारा संचार की किसी भी प्रणाली को कहा जा सकता है।"[2]

भाषा की उत्पत्ति
(Origin of Language)

भाषा की उत्पत्ति के बारे में समाजशास्त्रियों के अनेक अनुमान हैं। कुछ लोगों ने इसे ईश्वरीय देन माना है तथा कुछ ने इसे मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं का पूर्ति हेतु मानव द्वारा रचित अविष्कार कहा है। निसंदेह, मानव समूह को प्रकृति की ओर से कुछ ऐसी जैवकीय विशेषताएँ प्रदत्त हैं जिनके सहयोग से वह मौखिक उच्चारण में अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक दक्ष है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में प्रतीक निर्माण करने की क्षमता तथा बौद्धिक कुशलता मनुष्य द्वारा भाषा को जन्म देने में समर्थ है।

भाषा, मनुष्य के ही द्वारा निर्मित होती है, मनुष्य के ही द्वारा सीखी जाती है तथा मनुष्य ही इसे प्रयोग करता है। यों तो कुछ पशु-पक्षियों को भी भाषा रटा दी जाती है परन्तु उसका कोई सामाजिक महत्व नहीं होता है। क्योंकि इस तरह रटाना या सिखाना एक स्मृति प्रधान तथ्य है जो शब्दों की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन शब्दों के रट लेने से किसी पशु-पक्षी को चिन्तन अथवा अपने विचार व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त नहीं हो पाती है।

पशु-पक्षी किसी विस्मय, उत्तेजना, भय अथवा उल्लास की परिस्थिति में कुछ सांकेतिक स्वरों का उच्चारण कर देते हैं। इसी से उनकी अनुभूति की

1. "Language is the most momentous and at the sametime the most mysterious product of human mind."

—Mrs. Langer : *Philosophy in a New Key.*

2. "Language may be defined as any system of communication among beings, through conventional symbols."

—Allport.

अभिव्यक्ति हो जाती है। इतनी ही उनकी भाषा होती है। मानव की भी अपने प्रारम्भिक काल में कुछ ऐसी ही भाषा रही होगी। जब उसने प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं को देखा होगा तथा उनसे उत्पन्न स्वरों को सुना होगा तो उनकी अनुभूति से उसके मुंह से भी स्वर निकल पड़े होंगे। जब-जब इन घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई होगी तब-तब मनुष्य के मुख से उच्चरित उन्हीं स्वरों की पुनरावृत्ति हुई होगी। यहीं से स्मृति और चिन्तन का उद्‌गम हुआ होगा। स्वरों से शब्दों का जन्म हुआ होगा और शब्दों से वाक्य गुथने लगे होंगे। इसी प्रकार से प्यास, भूख, दर्द, उल्लास आदि ने मनुष्य को अनुभूतियों के सोपानों से स्वर और शब्द अर्थात् भाषा का ज्ञान कराया होगा। अपनी बौद्धिक क्षमता के आधार पर इन शब्दों को लेकर, मनुष्य पशु-पक्षियों की सभ्यता से बहुत दूर निकल आया है।

सामुदायिक जीवन और उसकी आवश्यकताएँ मानवीय भाषा को निरन्तर मांजती-धोती चली आई है। भाषा के विकास में सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा योगदान है। समाज से पृथक रह कर व्यक्ति भाषा के ज्ञान से वंचित रह जाता है। श्रीमती लैंजर ने दो ऐसी भारतीय बालिकाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिन्हें शैशवकाल में जंगली जानवर उठाकर ले गए थे। मानवीय जीवन से विलग होने के कारण ये दोनों बालिकाएँ कोई भी मानवीय भाषा नहीं बोल पाती थीं। इस उदाहरण से भाषा-सम्बन्धित एक तथ्य और उद्घाटित होता है कि भाषा का निर्माण मनुष्य की मूलप्रवृत्ति नहीं होती है। केवल मनुष्य-योनि में जन्म ले लेने का यह अभिप्राय नहीं होता है कि उसे अनिवार्य: भाषा का ज्ञान हो जाएगा। मनुष्य को भाषा का ज्ञान सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्राप्त होता है। जैसे समाज में उसका पालन पोषण होता है उसी के अनुसार उसे भाषा का ज्ञान-भण्डार प्राप्त होता है।

उक्त परिचर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की उत्पत्ति एक विकासात्मक तथ्य है। यद्यपि इसका जन्म मनुष्य के जन्म के साथ माना जाता है परन्तु इसने अपना स्वरुप विकास की प्रक्रिया में ग्रहण किया है। इस मत से प्रायः सभी समाजशास्त्री सहमत हैं। आदि काल से ही मनुष्य भाषा के नाम पर स्वर एवं संकेत का प्रयोग करता आया है, यह बात और है कि उन दिनों में भाषा का गठन इतना सैद्धान्तिक और व्याकरणवद्ध न रहा हो जितना कि आज है। मनुष्य के विकास ने और उसकी आवश्यकताओं के

विस्तार ने भाषा को इसका आधुनिक स्वरुप प्रदान किया है। भाषा का इतिहास मनुष्य का इतिहास है। जैसे-जैसे मनुष्य ने प्रगति की है वैसे-वैसे भाषा का विकास हुआ है और जब तक मनुष्य की प्रगति का यह प्रक्रम जारी रहेगा तब तक भाषा का विकास होता रहेगा। आए दिन विभिन्न विज्ञानों और कलाओं में अनुसंधान तथा आविष्कार होते रहते हैं जिनके लिए नूतन शब्दों की रचना भी होती रहती है। इस प्रकार भाषा का भण्डार नित्य प्रति विशालतम होता जाता है। भाषा एक प्रकार का प्रवाह एवं बिस्तार है जो निरन्तर फैलता चला आ रहा है और अनन्त तक यह इसी प्रकार विकसित होता रहेगा।

भाषा की विशेषतायें
(Characteristics of Language)

सामाजिक नियंत्रण में भाषा का विशेष स्थान है। अभिव्यक्ति का एक मात्र माध्यम होने के कारण सामाजिक नियंत्रण के प्रायः सभी अभिकरण और साधन भाषा के आश्रित हैं। भाषा की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसका प्रयोग सभी मानवीय समुदाओं में होता है। यह बात और है कि विभिन्न समूहों में भाषा के विभिन्न प्रकार और स्वरुप पाए जायें; परन्तु एक समूह के सभी सदस्यों के बीच किसी न किसी भाषा का चलन अनिवार्य है। इसी भाषा से उनमें विचारों का आदान-प्रदान होता है तथा सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

दूसरे, किसी भाषा में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों का एक निश्चित अर्थ होता है। यह अर्थ इतना व्यापक होता है कि सम्बद्ध समुदाय अथवा क्षेत्र के सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्येक शब्द का समान मतलब ग्राह्य किया जाता है। फलस्वरुप मनुष्य के विचारों का सम्प्रेषण सुगमता से होता रहता है।

तीसरे, भाषा में शब्दों का अतुल भण्डार होता है। प्रत्येक शब्द का अर्थ भाष्य करने के लिए उससे सम्बद्ध अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। इन सबकों संकलित करके शब्दकोष का निर्माण किया जाता है। शब्दों के भण्डार से वाक्यों की रचना होती है। इस वाक्य रचना के लिए व्याकरण के नियम प्रतिपादित किए जाते हैं। वाक्य और व्याकरण की सहायता से आवश्यकतानुसार नए शब्द, नए प्रतीक तथा नए अर्थों का निर्माण होता रहता है।

चौथे, विभिन्न भाषाओं के बीच समानार्थी शब्द होने के कारण, एक भाषा से दूसरी भाषा के बीच अनुवाद की सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। यद्यपि प्रत्येक समुदाय की भाषाएँ अलग-अलग हो सकती हैं परन्तु उनकी आधार मूल आवश्यकताएँ उपयोग की वस्तुएँ तथा मानसिक आयाम बहुत कुछ समान होते हैं। इस समानता के कारण विभिन्न भाषाओं के बीच पर्यायवाची शब्द सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं। परिणामस्वरूप एक भाषा से दूसरी भाषा के बीच अनुबाद की सुबिधाएँ उपलब्ध रहती हैं।

सामाजिक नियंत्रण में भाषा की भूमिका
(Role of Language in social Control)

भाषा, मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक लक्षण है। भाषा से मनुष्य की प्रगति और विकास के मानदण्ड उपलब्ध होते हैं। नाना प्रकार के व्यक्ति भाषा के माध्यम से एक सूत्र में बांधे जा सकते हैं। सामाजिक दूरी को कम करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण उपकरण है। भाषा के आयाम बहुत वृहत् हैं इसी तरह सामाजिक नियंत्रण में यह अपेक्षाकृत अधिक विशाल क्षेत्र को संचालित कर सकती है। सामाजिक नियंत्रण में भाषा की भूमिका एवं प्रकार्य पर निम्नलिखित विन्दुओं द्वारा प्रकाश डाला जा सकता है।

(१) भावाभिव्यक्ति (Expression) सामाजिक नियंत्रण के सभी उपकरणों अथवा साधनों को संचालित करने के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ती है। सामाजिक नियंत्रण में भाषा का महत्व उस विद्युत शक्ति की भांति है जिसके अभाव में कोई भी यंत्र संचालित नहीं हो सकता है। समाज को एक विशेष पद्धति से नियंत्रित करने के लिए अनेकानेक साधन होते हैं परन्तु सवको प्रकाशित और संचारित करने के लिए किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता होती है; और यह एक मात्र माध्यम भाषा है। इसके अभाव में किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। दण्ड और पुरस्कार के लिए कानून में जो भी व्यवस्थाएँ होती हैं उन सबकी अभिव्यक्ति भाषा से की जाती है। एक आदर्श सामाजिक जीवन के प्रारुप की झांकी के दर्शन भाषा के ही सिंहद्वार से होते हैं। सामुदायिक जीवन की अवधारणा, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, तथा नियंत्रण के साधनों का गुनन-मनन एवं कार्यन्वीकरण, भाषा के ही द्वारा संम्भव है।

(२) **आत्मनियंत्रण** (Salf Control) भाषा मानवीय संरचना का बौद्धिक पक्ष है । भाषा का विकास मनुष्य के मानसिक गुणों के विकास का द्योतक होता है । मनुष्य में जितनी ही अधिक भाषा विकसित होती है उतनी ही उसे सामाजिक आदर्शों को स्वेच्छा से ग्राह्य करने की क्षमता प्रदत्त होती है । ऐसे व्यक्तियों में सामाजिक मूल्यों के प्रति आदर होता है तथा वे किसी भी वाह्य शक्ति के बिना अपेक्षित पद्धति के अनुसार नियंत्रित किए जा सकते हैं । भाषा का प्रसरण समाज के सद्स्यों के बीच आत्मनियंत्रण की क्षमता का प्रादुर्भाव करता है । इस प्रकार भाषा के कारण सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्य बिना किसी बाध्यतामूलक साधन के समाज में बड़ी सुगमता से प्राप्त किए जा सकते हैं । भाषा एक ऐसा माध्यम है जिससे व्यक्ति और समाज का आत्म नियंत्रित रहता है ।

(३) **सम्प्रेषण** (Communication) सामाजिक नियंत्रण में सम्प्रेषण प्रणाली का बड़ा महत्व होता है । सम्प्रेषण जितना ही द्रुतगामी और सर्वग्राह्य होगा, नियंत्रण के लक्ष्य उतनी ही सुगमता से प्राप्त किए जा सकेंगे । भाषा इस सम्प्रेषण के उत्तरदायित्व का प्रशंसनीय निर्वाह करती है । लिखित और मौखिक शब्द उद्देश्यपूर्ण संन्देश लेकर जन मानस की अनुभूतियों को स्पर्श करते रहते हैं तथा समाज को एक नियंत्रित पद्धति के अनुसार व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं । एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद हो सकने की विशेषता के कारण, भाषा का सम्प्रेषण-क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है । सामाजिक नियंत्रण की नियमावलियाँ संचालन पद्धतियाँ, तथा प्रचार-धाराएँ अनेक भाषाओं में अनुवादित होकर प्रत्येक व्यक्ति से उसकी अपनी भाषा में मुखातिब होती हैं। इस प्रकार भाषा अपनी सम्प्रेषण-शक्ति से सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है ।

(४) **सामान्यीकरण** (Generalization) मनुष्य के प्रशिक्षण और व्यक्तित्व के निर्माण के लिए सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का ज्ञान भाषा के माध्यम से कराया जाता है । इन सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का सामान्य स्वरुप भाषा से निर्मित किया होता है । भाषाबद्ध हो जाने के पश्चात आदर्श समाज का एक सामान्य स्वरूप जन मानस में प्रवाहित होने लगता है । समाज के सदस्य अध्ययन एवं अनुकरण के द्वारा इन सामान्यीकृत आदर्शों को आत्मसात् करते हैं। इससे मनुष्य के विभिन्न व्यक्तित्वों में एकरुपता आती है तथा

एक निर्धारित जीवन शैली का मार्ग प्रशस्त होता है। सामाजिक नियंत्रण के लिए अनेकानेक पद्धतियों का सामान्यीकरण नितान्त आवश्यक होता है जो केवल भाषा के ही माध्यम से संम्भव है। सामाजिक एकता के लिए यह सामान्यीकरण बहुत महत्वपूर्ण है।

(५) **सामाजीकरण** (Socialization) एक नियंत्रित समाज के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सामाजीकरण की प्रक्रिया एक सुनिश्चित ढंग से होती रहे। भाषा सामाजीकरण की प्रक्रिया का प्रमुख चरण है। जिस प्रकार समाज की परम्पराएँ और प्रथाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती हैं उसी प्रकार भाषा भी अपने में विकासात्मक तत्व लेकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपने सांस्कृतिक सामाजिक पर्यावरण से परिचित होता है, भाषा से ही वह प्रशिक्षण प्राप्त करता है तथा भाषा के ही द्वारा उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सहानुभूति, आत्मीकरण, सहकारिता, निर्देश तथा दण्ड और पुरस्कार जितनी भी सामाजीकरण की प्रक्रियाएँ हैं, वे सभी भाषा के द्वारा परिचालित होती है।

आदिकाल से ही भाषा सामाजिक संगठन और नियंत्रण का अनिवार्य माध्यम रही है। समाज की वास्तविक घटनाओं का निरुपण भाषा के द्वारा होता है। भाषा सामाजिक स्थिति और भौतिक घटनाओं की व्याख्या करके व्यक्ति का समाज से संमजन करती है।

Selected Readings

1. B. L. Whorf : Language, Thought and Reality.
2. Mrs. Langer : Philosophy in a New Key.
3. George K. Zipf : The Psycho-biology of Language.
4. Brown and Lenneberg : A Study in Language and Cognition.

Questions

१. समाज की उत्पत्ति के रूप में भाषा की व्याख्या कीजिए।
Discuss language as a product of society.

२. भाषा और समाज के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।
Discuss the relation between language and society.

३. भाषा की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
Describe the characteristics of language.

४. सामाजीकरण और सामाजिक नियन्त्रण में भाषा की भूमिका बताइये।
Discuss the role of language in socialization and social control.

अध्याय १४

शिक्षा
(EDUCATION)

शिक्षा, सामाजीकरण की एक प्रक्रिया है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथा संस्कृति के मूल्यों का संरक्षण होता है। दुरखीम के अनुसार शिक्षा एक नैतिक दबाव है जो पुरानी पीढ़ी, नयी पीढ़ी पर डालती है तथा जिसके द्वारा एक सांस्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। शिक्षा का अभिप्राय केवल उसी शिक्षा से नहीं है जो व्यक्ति को पुस्तकों से प्राप्त होती है अपितु समाज भी व्यक्ति को निरन्तर प्रशिक्षित करता रहता है। समाज के प्रत्येक सदस्य को सामाजिक परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों आदि का ज्ञान आवश्यक होता है। यह ज्ञान उसे सामुदायिक जीवन से शिक्षा के माध्यम द्वारा प्राप्त होता है। शिक्षा के माध्यम द्वारा व्यक्ति समाज के वास्तविक पर्यावरण का बोध करता है, समाज की समस्याओं का अध्ययन-विश्लेषण करता है तथा उनके स्थायी निदान खोजता है। शिक्षा मनुष्य को त्रिकालदर्शी ज्ञान प्रदत्त करती है। अतीत का अनुभव, वर्तमान की गतिविधियाँ तथा भावी परिस्थितियों की सम्भावनाओं का निरुपण शिक्षा के द्वारा होता है। पाठशाला से लेकर अनुसंधानशालाओं तक शिक्षा की जटिलतम शाखाएँ सम्पूर्ण सामाजिक संरचना पर आच्छादित रहती हैं। शिक्षा समाज और सामाजिक संस्थानों का ही संचालन नियंत्रण नहीं करती है वरन् शिक्षण संस्थाओं की शिक्षा प्रणाली का आदर्श स्वरुप गठित करती है; तथा सामाजिक आवश्यकतानुसार शिक्षा प्रणाली को संशोधित-परिवर्तित करती रहती है।

समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन शिक्षा से होता है। यह एक विकासशील प्रक्रिया है। यह सदैव प्रवाहित रहती है तथा इसकी कोई सीमा रेखा नहीं है। अनुसंधान के क्षेत्र में प्रत्येक स्नातक अध्ययन-वस्तु को उस इष्ट स्थान से लेकर जहाँ उसके पूर्वज पहुंच चुके थे, एक और निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार शिक्षा चरण-चरण निरन्तर ज्ञान के नूतन आयाम ग्रहण करती रहती है।

सामाजिक संचालन एवं नियंत्रण के क्षेत्र में शिक्षा का रचनात्मक योगदान है। शिक्षा मानवीय अन्तःसम्बन्धों को प्रतिमानित तथा समाज का आत्मनवीनीकरण करती है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, शिक्षक-शिक्षार्थी, स्वामी सेवक, राजा-प्रजा, आदि के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उत्तरदायित्व शिक्षा के माध्यम से समाज के युवा तथा वयस्क सदस्यों को सिखाए जाते हैं। शिक्षा से अन्तःमानवीय ही नहीं वरन् अन्तःसामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, अधिकार और विधान प्रतिपादित तथा पारिभाषित होते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा सशक्त प्रचार के साधनों से जन समुदाय की चिन्तन-शैली एवं जीवन-पद्धति को प्रभावित करके उसे वांछित लक्ष्यों की ओर मोड़ सकती है। शिक्षा समाजशास्त्रीय चिन्तन में एक बहुमुखी अध्ययन वस्तु है। यह सामाजिक परिवर्तन का एक कारक भी है, सामाजीकरण की प्रकिया है, तथा सामाजिक नियंत्रण का साधन भी है और अभिकरण भी है।

परिभाषायें (Definitions)

शिक्षा, मनुष्य के सामाजिक जीवन की विशेषता तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति की प्रतिपालक है। समस्त सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का प्रतिष्ठापन तथा अनुकूलन शिक्षा के माध्यम से किया जाता है। समाजशास्त्रियों ने इसे निम्न प्रकार से पारिभाषित किया है :

ब्राउन और रासेक के अनुसार शिक्षा, **"अनुभव का वह सम्पूर्ण परिमाण है जो युवा और वयस्क दोनों की अभिवृत्तियों को प्रभावित तथा उनके व्यवहारों को निर्धारित करती है।"**[1]

1. "The sum total of the experience which molds the attitudes and determines the conduct of both the child and the adult."
—F. J. Brown and J. S. Roucek : *Our Racial and National Minorities.*

ओटावे का कथन है कि "शिक्षा समाज में प्रवाहित एक प्रक्रिया है; इसके लक्ष्य और इसकी पद्धति, उस समाज की प्रकृति पर निर्भर है, जहाँ इसका प्रादुर्भाव है।"[1]

बारकर के मतानुसार, "शिक्षा का अभिप्राय उस सामाजिक प्रक्रिया से है जिसके द्वारा समाज की इकाइयां, सामाजिक चेतना के साथ-साथ मूल प्रवृत्तियाँ बन जाती हैं; तथा सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सीख लेती हैं।"[2]

सांस्कृतिक सम्प्रेषण
(Cultural Transmission)

शिक्षा, संस्कृति और व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा से संस्कृति का स्थापन तथा प्रसारण होता है और सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप व्यक्तित्व का निर्माण होता है। संस्कृति का उद्देश्य यह होता है कि समाज के किसी भी व्यक्ति की मौलिक रचनात्मकता कुण्ठित न होने पाए तथा उसे ऐसा ज्ञान प्रदत्त किया जाए जिससे वह अपनी परम्पराओं से जुड़े रहने के साथ-साथ सदैव परिवर्तनोमुखी बना रहे। आदर्श शिक्षा अपने सम्प्रेषण द्वारा इस सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। शिक्षा के माध्यम से संस्कृति का सम्प्रेषण मुख्यतः दो प्रकार से किया जाता है: अनौपचारिक (Informal) तथा औपचारिक (Formal)। अनौपचारिक शिक्षण में सामाजीकरण के प्राथमिक समूहों का योगदान होता है तथा औपचारिक में द्वितीय समूह सक्रिय रहते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा द्वारा संस्कृति के सम्प्रेषण में एक और प्रकार होता है जो अनौपचारिक और औपचारिक का सहायक अथवा न्यूनता-पूरक कहा जा सकता है। सांस्कृतिक सम्प्रेषण का प्रारूप एक तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है जो कि अगलेपृष्ठ पर दी गई है।

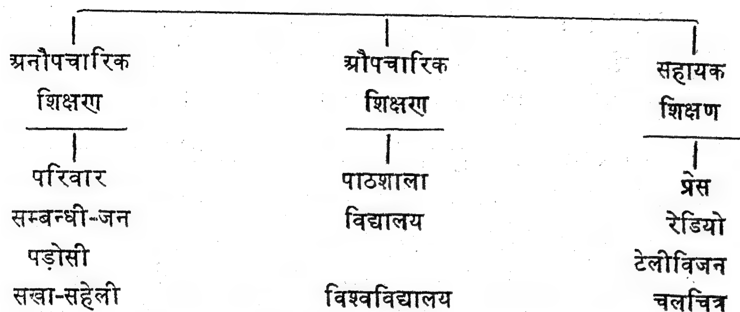
---

1. "Education is an activity that goes on in a sociey and its aims and methods depend on the nature of society in which it takes place."

—Ottaway.

2. "Education is regarded as a social process by which the units of a society become instinct with social consciousness and learn to fulfil all social demands."

—Barker.



उक्त तालिका से सांस्कृतिक सम्प्रेषण की प्रक्रिया में, शिक्षा के महत्व एवं उसके नियंत्रणात्मक तत्वों का आभास मिलता है। सामाजिक नियंत्रण में जिन अभिकरणों और साधनों की आवश्यकता होती है उनका गठन एवं प्रसरण, दोनों शिक्षा के माध्यम से होता है।

सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा का योगदान
(Contribution of Education in Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण में शिक्षा का योगदान निम्नलिखित विन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है :

(१) व्यक्तित्व का निर्माण (Development of Personality) व्यक्तित्व, नेतृत्व एवं कृतित्व का क्रमशः निर्माण, शक्ति, और संचालन शिक्षा के माध्यम से होता है। इसी के सम्बल से व्यक्ति समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति की आधार-भूत धारणाओं और विचारों में आमूल परिवर्तन किए जा सकते हैं। इसी प्रकार शिक्षा से व्यक्ति के प्रकार्यों एवं अन्त:सम्बन्धों को भी प्रभावित किया जा सकता है। शिक्षा के द्वारा जो व्यक्तित्व निर्मित होते हैं उन्हें दो आदर्श प्रारुपों में विभक्त किया जा सकता है। समिष्टवादी (Authoritarian) व्यक्तित्व तथा प्रजातांत्रिक (Democratic) व्यक्तित्व। जिस समाज में समिष्टवादी व्यक्तित्व निर्मित करने होते हैं, वहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल ऐसे मूल्यों के प्रसरण में निहित होता है जिससे समाज, राज्य अथवा नेता को अतार्किक रूप से महान मान ले। इस शिक्षा की पद्धति

प्रचारात्मक होती है। ऐसे व्यक्तित्व में अनुकरण अधिक और रचनात्मकता कम होती है। प्रजातांत्रिक शिक्षण में ऐसे नागरिक उत्पन्न किए जाते हैं जो जनतांत्रिक समाज में अभियोजन स्थापित कर सकें। ऐसे व्यक्तित्व सहन-शीलता, न्याय एवं स्वतंत्रता पर आधारित होते हैं।

(२) **सामाजिक सन्तुलन** (Social Balance) शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का माध्यम और सामाजिक नियन्त्रण का अभिकरण है। शिक्षा से मनुष्य की सुप्त प्रतिभाएँ जागृत होती हैं तथा उसकी क्षमताओं और कौशल को बल मिलता है। इनके आधार पर वह परिवर्तनोंमुखी होता है। यह परिवर्तन समाज के दीर्घकालीन अन्धविश्वासों, जड़-रूढ़ियों, संकुचित विचारों, आदि अनेक अवांछित तत्वों का बहिष्कार करता है, तथा सामुदायिक जीवन में ऐसे मूल्यों की प्रतिस्थापना करता है जो सामाजिक दूरी को कम करके पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहित करते हैं। इसके विपरीत जब यह परिवर्तन ऐसी सीमाओं को स्पर्श करने लगता है जहाँ समाज के स्थायित्व एवं संगठन को खतरा उत्पन्न होने लगे तब शिक्षा समाज के प्राचीन-तम अथवा स्थायी आदर्शों का प्रसारण करके विघटनकारी परिवर्तन पर रोक लगाती है। मैनहाइम का मत है कि समाज की संरचना सदैव परिवर्तन के ही प्रक्रम में नहीं रहती है अपितु उसका बहुत कुछ स्वरुप सन्तुलन पर आधारित रहता है। यह सन्तुलन समाज के वांछित एवं अवांछित परिवर्तनों के बीच शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जाता है।

(३) **समाज का स्तरीकरण** (Stratification of Society) शिक्षा समाज को स्तरों और वर्गों में विभाजित करती है। जब समाज विकासोन्मुखी होता है तब सामुदायिक जीवन अमुक्त समाज से मुक्त समाज की ओर अग्रसर होता है। विभिन्न जातियों एवं वर्गों में विकसित होने की होड़ चालू हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के निर्धारित आदर्शों एवं साधनों का परित्याग करके ऊँचे से ऊँचे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दौड़ने लगता है। परिणामस्वरूप समाज की विभिन्न इकाइयों के बीच संघर्ष उठ खड़ा होता है तथा सम्पूर्ण सामाजिक संरचना अनियंत्रित होने लगती है। असफलताओं से कुण्ठित होकर व्यक्ति अपने को अस्तित्वविहीन अनुभव करने लगता है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा मनुष्य को सही दिशा प्रदान करती है। विद्या अध्ययन से मनुष्य को समुचित ज्ञान एवं प्रशिक्षण प्राप्त होता है। अपनी मानसिक

क्षमताओं एवं प्रतिभाओं के अनुरूप प्रशिक्षित होकर वह समाज में अपना एक विशिष्ठ स्तर प्राप्त कर लेता है। इस प्रशिक्षण से प्राप्त स्तर के आधार पर उसे तथा उसके परिवार को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। इस प्रकार शिक्षा से समाज में स्तरीकरण का प्रादुर्भाव होकर, सामाजिक संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं।

(४) आर्थिक विकास (Economic Development) शिक्षा, समाज के सदस्यों को आध्यात्मिक और तकनीकी ज्ञान प्रदान करती है। आध्यात्मिक ज्ञान से मनुष्य का 'स्वयं' निर्मित होता है और तकनीकी ज्ञान से समाज का भौतिक स्वरूप गठित होता है तथा आर्थिक संगठनों का विकास होता है। आधुनिक युग में वाणिज्य का ज्ञान एक विशिष्ठ तथा तकनीकी प्रशिक्षण माना जाता है। यह प्रशिक्षण अनेकानेक धाराओं में प्रवाहित होकर व्यक्तियों को अनेक प्रकार के व्यवसायिक क्षेत्रों में दक्षता प्रदान करता है। व्यवहारिक क्षेत्र में आने के पश्चात ये व्यक्ति प्रक्रिया करते हैं। पारस्परिक सहयोग एवं प्रतियोगिता के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। कल-कारखानों, व्यापारिक संस्थानों एवं कृषि-केन्द्रों में अनुसंधान होते रहते हैं। इससे उत्पादन में वृद्धि होकर उपभोग और वितरण में प्रगति होती है तथा आर्थिक विकास के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित होता है।

(५) वास्तविकता का बोध (Knowldge of Reality) शिक्षा मनुष्य को समाज की वस्तु स्थिति से अवगत कराती है। किसी भी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करने या समस्या का निदान ढूँढने के लिए उसका वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण किया जाता है। इसके लिए वैज्ञानिक अनुसंधान की आवश्यकता पड़ती है जो सामाजिक तथ्यों पर आधारित होता है। अनुसंधान के निमित्त एकत्रित तथ्यों का जितना ही परिशुद्ध प्रारुप एवं निरुपण होगा, उतना ही स्पष्ट परिस्थितियों का विश्लेषण किया जा सकेगा तथा समस्याओं के सटीक निराकरण खोजे जा सकेंगे। यह सब तभी सम्भव है जब कि अपेक्षित वास्तविकताओं का सही-सही बोध किया जा सके। यह बोध शिक्षा से प्राप्त होता है—शिक्षा, जो वैज्ञानिक, विशिष्ठ तथा विवरणात्मक होती है। तकनीकी और समाजशास्त्रीय क्षेत्र में शिक्षा ने वास्तविकता के बोध-मार्ग प्रशस्त करके, मानवीय विकास एवं प्रगति के लिए विशाल क्षितिज अनावृत कर दिये हैं।

(६) **सहयोग (Co-operation)** सामाजिक नियंत्रण में सहयोग की प्रक्रिया का सक्रिय रहना नितान्त आवश्यक है। समाज में नाना प्रकार की समस्याएँ जन्म लेती रहती हैं। इनका समाधान करना समाज के किन्हीं एक-दो सदस्यों के लिए सम्भव नहीं है। इसके लिए बृहत् सामुदायिक स्तर पर सहयोग का होना अनिवार्य है। शिक्षा, सम्प्रेषण का बृहत् साधन होने के कारण, समूह के सदस्यों को पारस्परिक सहयोग के लिए शिक्षित करती है। शिक्षा का क्षेत्र जैसे-जैसे विशाल होता है वैसे-वैसे सहयोग की प्रक्रिया, सामुदायिक स्तर से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त हो जाती है। शिक्षा के प्रसरण अथवा सहयोग के विस्तार से प्रतिस्पर्धा की गति मन्द पड़ जाती है, सामाजिक दूरी कम हो जाती है तथा सामाजिक नियन्त्रण के लिए एक अनकूल एवं अनुकरणीय पृष्ठभूमि का निर्माण हो जाता है।

Selected Readings

1. J. S. Roucek : Social Control.
2. Karl Manheim : Sociology of Education.
3. Ottaway : Introduction to the Sociology of Education.

Questions

१. व्यक्ति के सामाजीकरण के सन्दर्भ में शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बताइये।

   Discuss the social purpose of education with reference to socialization of individual.

२. सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका बताइये।

   Discuss the role of education as means of social control.

३. शिक्षा के प्रकार बताइये और उसके प्रसार के साधन बताइये।

   What are the types of education and discuss the means which impart them.

अध्याय १५

परिवार
(FAMILY)

परिवार मनुष्य का जन्मस्थल है। परिवार से मनुष्य, मनुष्य से पुनः परिवार और परिवार से सम्पूर्ण समाज की संरचना निर्मित है। व्यक्तित्व-वाद एवं समाजवाद दोनों की अवधारणाएँ परिवार से ही स्फुटित हैं। यह एक जैवकीय सत्य भी है और सामाजिक स्वरुप भी। सन्तानोत्पत्ति से मानव के जीवन का जैवकीय विस्तार, परिवार द्वारा ही होता है और इसी से मनुष्य का सामाजिक स्वरूप ढलता है। परिवार एक सामाजिक संस्था भी है और सामाजीकरण की प्रक्रिया भी। मनुष्य के समस्त सामाजिक व्यवहार और अन्तः सम्बन्ध इसी संस्था द्वारा निर्धारित होते हैं। मनुष्य का सामाजी-करण करने वाले अभिकरणों में परिवार को प्राथमिक समूह माना जाता है। मानव-जन सागर में परिवारों का प्रवाह निरन्तर एवं स्थायी है। मनुष्य की मृत्यु भी परिवार के अस्तित्व को नहीं मिटने देती है। परिवारों का वंशानुक्रमण, सामाजिक मान्यता और अधिकार तथा धार्मिक विश्वास पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते चले जाते हैं। परिवार एक ऐसा संस्थान है जहाँ प्रत्येक सदस्य को, चाहे वह कर्मण्य हो या अकर्मण्य, अपने जीवन के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से वंचित नहीं किया जाता है। इसके विपरीत पारि-वारिक आदर्शों से विचलित मनुष्य को कोई भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होना दूभर हो जाता है।

परिवार एक ऐसी दृढ़ एवं शक्तिशाली संस्था है कि सामाजिक नियंत्रण की कोई भी तकनीक प्रयोग में लाने के पूर्व इसकी परिस्थितियों का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है। किसी भी समाज के परिवार की रुढ़ियों एवं विश्वासों के विपरीत उसपर किसी भी वाह्य संस्कृति के मूल्य प्रतिक्षेपित नहीं किए जा सकते हैं। इन सब के उपरान्त परिवार एक ऐसा सुखद कक्ष है जहाँ वैवाहिक संस्कारों द्वारा मनुष्य की काम वासनाओं की तृप्ति के लिए खला आवाहन है। इस व्यवस्था के अभाव में कामवासनाओं की तृप्ति एक अनैतिकता है, पाप है।

पारिवारिक संस्था के अन्तर्गत, सकारात्मक एवं नकारात्मक, दोनों प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था होती है। सकारात्मक नियंत्रण में प्रेम, पुरस्कार एवं प्रोत्साहन से वांछित लक्ष्यों की पूर्ति की जाती है। किसी भी योजना, नियमन, अथवा प्रणाली को सकारात्मक रूप से कार्यान्वित करने में परिवार वड़े सफल सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार दण्ड व्यवस्था द्वारा नकारात्मक नियंत्रण भी उतनी ही सफलता से किए जाते हैं। सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रणालियों से नियन्त्रण करने की क्षमता परिवार में अद्वितीय पायी जाती है।

परिवार का स्वरूप इतना सार्वभौमिक एवं विभिन्न है कि इसका प्रादुर्भाव सर्वत्र है परन्तु इस प्रकार भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि परिवार किसी विशेष स्थान पर या ईंट मिट्टी के बने मकानों में ही पाए जाएँ। परिवार फुटपाथों पर भी रहते हैं और खानाबदोश कबीलों में भी नगर-नगर घूमते रहते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

परिवार एक व्यापक संस्था है। देश-देश की संस्कृतियों के अनुसार इसके अर्थ और स्वरूप में काफी परिवर्तन पाया जाता है। इसलिए परिवार की कोई सार्वभौमिक परिभाषा कर पाना कठिन है। समाजशास्त्रियों ने इसे अनेक प्रकार से परिभाषाबद्ध किया है। इनमें से कुछ विद्वानों के मत अधोलिखित हैं :

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "परिवार लिंग सम्बन्ध से परिभाषित

अत्यन्त लघु परन्तु इतना स्थायी समूह है जो बच्चों की उत्पत्ति एवं पालन-पोषण करने में समर्थ होता है।"[1]

इलियट और मेरिल के मतानुसार, "परिवार एक जैविकीय-सामाजिक इकाई के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है जो पति-पत्नी एवं उनके बच्चों द्वारा निर्मित होता है। परिवार को एक सामाजिक संस्था भी कहा जा सकता है जो सामाजिक मान्यताप्राप्त संगठन के द्वारा मानव की सुनिश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।"[2]

ऑगबर्न और निमकॉफ का विचार है कि "परिवार न्यूनाधिक रूप में स्त्री, पुरुष और बच्चों अथवा बच्चों सहित केवल पुरुष या स्त्री से निर्मित एक स्थायी समुदाय होता है।"[3]

जुकरमैन का कथन है कि "एक परिवार समूह, एक स्वामी, उसकी स्त्री या स्त्रियाँ और उनके बच्चों को मिलाकर निर्मित होता है, जिसमें कभी-कभी एक या एक से अधिक अविवाहित पुरुष भी सम्मिलित रहते हैं।"[4]

---

1. "The family is a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children."
—R. M. MacIver and C. H. Page : *Society.*

2. "The family may be defined as the biological social unit composed of husband, wife and their childern. The family may also be considered as a social institution, a socially approved organization for meeting definite human needs."
—Elliott and Merrill.

3. "A family is more or less a durable association of husband and wife with or without childern or of a man and woman alone with childern."
—Ogburn and Nimkolf : *A Handbook of Sociology.*

4. "A family group consists of a male overlord, his female or females together with their young, and may sometimes include one or more bacholor or unmated males."
—S. Zuckerman : *The Social Life of Monkeys and Apes.*

बर्गेस और लाक की परिभाषा के अनुसार "परिवार व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो विवाह, रक्त अथवा दत्तक सम्बन्ध से बँधकर एक गृहस्थी की स्थापना करता है। इसके विभिन्न सदस्य पारस्परिक अन्तःक्रिया और अन्तःसंचार से पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहन की सामाजिक भूमिकाओं द्वारा एक सामान्य संस्कृति का सृजन करते हैं।"[1]

परिवार की विशेषतायें
(Characteristics of the Family)

परिवार अपनी सरंचनात्मक विशेषताओं के कारण सामाजिक नियन्त्रण का सशक्त साधन है। परिवार एक सार्वभौमिक परन्तु असमान संस्था है। विश्व के सभी समाजों में इसका प्रादुर्भाव है फिर भी प्रत्येक समाज में इसकी मान्यताएँ, धारणाएँ तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं। यद्यपि परिवार का अस्तित्व स्थायी है परन्तु इसके लक्षण अथवा विशेषताएँ परिवर्तनशील हैं। एक व्यापक दृष्टिकोण से परिवार की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

(१) **यौन सम्बन्धों का नियमन** (Regulation of Mating Relationship) विवाह एवं वर वधु के चयन द्वारा परिवार यौन सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखता है। यौन सम्बन्ध, परिवार के उद्गम एवं विस्तार का प्रमुख केन्द्र है। पति-पत्नी के सहवास के फलस्वरूप परिवार में नूतन सदस्यों का आगमन होता है। इससे परिवार का विकास होता है और अधिक आकार बढ़ने पर एक विशाल परिवार अनेक छोटे-छोटे परिवारों में विभक्त होता चलता है। और फिर ये परिवार समाजों में संगठित हुआ करते हैं।

---

1. "Family is a group of persons united by the ties of marriage, blood of adoption constituting a single household, interacting and inter-communicating with each other in the respective social roles of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister and creating a common culture."

—Burgess and Locke : *Family*.

यौन सम्बन्ध के संदर्भ में भी नाना प्रकार की धारणाएँ पायी जाती हैं। भारतीय हिन्दू समाज में पतिव्रत धर्म स्त्री जीवन का आदर्श माना जाता है जो एक विशिष्ट सांस्कृतिक आधार पर सामाजिक नियन्त्रण करता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी समाज पाये जाते हैं जिनमें पर पुरुष अथवा स्त्री गमन की स्वतंत्रताएँ प्राप्त हैं।

(२) दाम्पत्य सम्बन्धों का नियम (Regulation of Matrimonial Relationship) प्रत्येक समाज में व्यक्ति का विवाह कब, किससे और किन नियमों के अनुसार होगा, इसका निर्धारण परिवार करता है। समाज में वैवाहिक संस्कार परिवारिक स्तर पर सम्पन्न होते हैं। किसी भी समाज के वैवाहिक आदर्श वहाँ की परिवारिक-सामाजिक मान्यताओं पर आधारित होते हैं। यौन सम्बन्ध की अनुमति परिवारिक प्रथाओं के अनुरुप वैवाहिक व्यवस्था से ही प्रदत्त होती है। विभिन्न परिवारों में दाम्पत्य सम्बन्धों के अनेक स्वरूप पाए जाते हैं। कुछ समाज ऐसे हैं जहाँ बहुपति विवाह के अन्तर्गत एक स्त्री के अनेक पति हो सकते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ बहुपत्नी विवाह में एक पुरुष को अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। दाम्पत्य सम्बन्ध का प्रमुख प्रचलित स्वरूप एक विवाह है जिसके अन्तर्गत एक पति के एक पत्नी होती है। इसी प्रकार अन्तः विवाह और बहिर्विवाह भी पारिवारिक मान्यताओं द्वारा निर्धारित होते हैं।

(३) नामकरण और उत्तराधिकार का निर्धारण (Determination of Nomenclature and Succession) परिवार में उत्तराधिकार सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं जिनके अनुरूप सम्पत्ति एवं अधिकारों का हस्तांतरण होता है तथा परिवार के सदस्यों के नाम एक ऐसी शैली में रखे जाते हैं जो उसके कुल, वंशज अथवा निवास स्थान के परिचायक होते हैं। कुछ परिवारों में उत्तराधिकार और नामकरण शैली पिता पक्ष से और कुछ में मातापक्ष से हस्तांतरित होती है। इन्हें क्रमशः पितृवंशी उत्तराधिकार (Patrilineal) और मातृवंशी उत्तराधिकार (Matrilineal) कहते हैं। परिवार की इन दोनों विशेषताओं का काफी प्रादुर्भाव है।

(४) परिवार का स्थानीयकरण (Localization of Family) परिवार की एक अन्य विशेषता यह होती है कि इसका एक निवास स्थान

होता है जो उस परिवार का घर कहा जाता है। यह स्थान परिवार के सदस्यों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का स्थल होता है और परिवार के प्रत्येक सदस्य को इससे भावानात्मक लगाव होता है। अपनी विशिष्ठ मान्यताओं के अनुरूप किसी परिवार का निवास पितृस्थानिक (Patrilocal) अथवा मातृस्थानिक (Matrilocal) हो सकता है। बहुत से परिवार ऐसे होते हैं जिनका सिद्धान्तः कोई स्थायी निवास स्थान नहीं होता है। वे सर्वदा अपने सरो-सामान के साथ नगर-नगर विचरते रहते हैं। बहुत सी कबीली जातियों की यही जीवनशैली है। इसी प्रकार परिवार की सदस्य-संख्या का कोई निश्चित वृत नहीं है। कहीं अनेक सम्बन्धी को शामिल करके परिवार बनता है तो कहीं केवल पति और पत्नी का ही नाम परिवार होता है।

(५) **आर्थिक क्रियाओं का चयन और नियंत्रण** (Regulation and Control of Economic activities) परिवार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अपने सदस्यों के लिए आर्थिक नियमों की व्यवस्था करता है। अपनी सामाजिक स्शिति तथा आर्थिक क्षमताओं के आधार पर परिवार की जीवन-शैली अथवा रहन-सहन के स्तर का चुनाव किया जाता है। तदोपरान्त अनेक नियन्त्रणों से इस स्तर का निर्वाह किया जाता है। सदस्यों के आर्थिक उत्तरदायित्व, अधिकार, उपयोग तथा बचत पारिवारिक संस्थाओं द्वारा ही निर्धारित होते हैं। इस प्रकार परिवार मानव जीवन की समस्त आर्थिक क्रियाओं का चयन और नियंत्रण करता है।

(६) **संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति** (Satisfication of Emotional Needs) मनुष्य के उद्वेगों और संवेगों की पूर्ति परिवार में ही संम्भव हो पाती है। माता-पिता का वात्सल्य भाई-बहन का स्नेह और पति-पत्नी का प्रेम, मनुष्य को अपने परिवार में मिलता है और इसके फलस्वरूप वह भावानात्मक रूप से आजीवन अपने परिवार से बंधा रहता है। यह संवेगात्मक लगाव मनुष्य को परिवार के लिए अपने कर्त्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक रखता है। परिवार के कुछ मानित मूल्यों नियमों तथा विश्वासों का आदर सदैव परिवार के प्रत्येक सदस्य के हृदय में रहता है। इससे मानव जीवन संवेगात्मक रूप से नियंत्रित रहता है।

(७) **सामाजिक नियंत्रण में परिवार का सार्वभौमिक लक्षण** (Universal Characterestic of Family in Social Control) पारिवारिक संगठन की एक अन्य विशेषता यह है कि इसका प्रादुर्भाव यत्र–

तत्र सर्वत्र पाया जाता है। परिवार का स्वरुप अपनी न्यूनाधिक विशेषताओं के साथ सभी प्रकार की जातियों और प्रदेशों में व्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य का लालन-पालन, प्राथमिक सामाजीकरण और विकास पारिवारिक संस्था के ही माध्यम से होता है। समस्त समाजों में परिवार को सामाजिक नियंत्रण की अद्वितीय संस्था माना जाता है। परिवार की संरचना इतनी सर्वव्यापी और अनिवार्य है कि इसका प्रादुर्भाव पशु-पक्षियों के भी समाज में पाया जाता है।

परिवार की विशेषताओं के सम्बन्ध में उपरोक्त परिचर्या से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियंत्रण में परिवार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में इसकी कुछ और साधारण विशेषताओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। परिवार का सृजन संवेगात्मक अथवा भावानात्मक प्रेरणाओं पर आधारित होता है। यौन सम्बन्ध, वात्सल्य, आर्थिक सामाजिक सुरक्षा, पारस्परिक सम्मान तथा ईर्षा आदि अनेक तत्वों द्वारा परिवार के सदस्य एक दूसरे से शृङ्खलाबद्ध रहते हैं। सामाजिक निर्माण में परिवार रचनात्मक कार्य करता है। इसके माध्यम से संस्कृति और सामाजिक आदर्शों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण होता रहता है। एक सामान्य सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा पूर्वजों के मानित संस्कार किशोर सदस्य ग्रहण करते रहते हैं। इससे परिवार के एक निर्धारित स्वरुप में स्थिरता बनी रहती है तथा समाज के रीति-रिवाज, आदर्श और मूल्य सुरक्षित रहते हैं। इसी से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसमें उत्तरदायित्व की भावना का संचार होता है।

परिवार की उत्पत्ति और सामाजिक नियन्त्रण-एक सैद्धांतिक विवेचन

(Origin of the Family and Social Control-A Theoritical Explanation)

कोई भी बच्चा जब संसार में जन्म लेकर अपनी आंख खोलता है तो अपने को एक परिवार के बीच पाता है। इसका अर्थ यह कि परिवार का उद्गम मावन जीवन के आदिकाल से है। बिना परिवार का गठन हुए एक सामाजिक मनुष्य के जन्म का कोई आधार ही नहीं होता है। परिवार की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण अगले पृष्ठ पर है :

(१) **पितृसत्तात्मक सिद्धान्त** (Patriaracal Theory) ग्रीक, रोम, यूहदी आदि के ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार एक रुधिर तथा दत्तक संस्कारों द्वारा संगठित सदस्यों का एक पुंज था जिसका कर्ता-धर्ता अथवा मुखिया पिता होता था। वही परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होता था तथा उसके आदेश सभी सदस्यों को मान्य होते थे। दूसरे शब्दों में पिता के ही हाथों में समस्त परिवार की नियंत्रक सत्ता रहती थी। कालान्तर में अन्य सदस्यों की जीविकोपार्जन क्षमता बढ़ने के कारण, पारिवारिक संगठन विभक्त होता चला गया और इस प्रकार अनेक परिवारों का प्रादुर्भाव होता गया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में प्लेटो, अरस्तु और मेन के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(२) **मातृसत्तात्मक सिद्धान्त** (Matriarchal Theory) इस सिद्धान्त के प्रवर्तक वेकोफेन (Bachofen) और राबर्ट ब्रिफाल्ट (Robert Briffault) हैं। इसमें मनुष्य के उस आदि काल जीवन को आधार माना गया है जिसमें वह झुण्डों में रहकर खाना बदोशी जीवन बसर करता था। स्त्रियाँ इन परिवारों की प्रमुख मानी जाती थीं। परिवार के आन्तरिक एवं वाह्य सम्बन्धों और प्रक्रियाओं पर इन्हीं का नियन्त्रण रहता था। एक स्त्री के साथ अनेक पुरुषों का सहवास होता था इसलिए बच्चे को वास्तविक पिता का ज्ञान नहीं हो पाता था। फलस्वरूप जननी को ही जनक के अधिकार प्राप्त थे। उस काल में बच्चों का नामकरण भी माता के आधार पर होता था तथा सम्पत्ति की अधिकारिणी स्त्रियाँ ही हुआ करती थीं। इस प्रकार के समाज आज भी कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं। कृषि के विकास एवं पुरुष के पराक्रम ने मातृवंशी परिवारिक विस्तार का महत्व कम कर दिया।

(३) **आरम्भिक लिंग-साम्यवाद का सिद्धान्त** (Theory of Primary Sex-Communism) यह एक काम स्वच्छन्दता का सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत मानव जीवन के उस काल की कल्पना की गयी है जिसमें किसी भी पुरुष को किसी भी स्त्री से अपनी काम-वासना पूर्ति करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। इनमें किसी भी प्रकार के भाई-वहन पिता-पुत्री आदि के औचित्य का प्रश्न नहीं था। इस प्रकार परिवारों में नियंत्रक उपकरणों का अपेक्षाकृत अभाव था। जो भी उपकरण उस समय प्रचलित थे, वे केन्द्रित नहीं थे। नियंत्रण क्षमता मुख्यतः शक्ति पर आधारित थी। इसीलिए

तत्कालीन विभिन्न समुदायों में अनेक प्रकार की नियंत्रण-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने आदिम जाति के अनेकानेक ऐतिहासिक तथ्यों पर अपने मतों की पुष्टि की है।

(४) **विकासवादी सिद्धान्त** (Evolution Theory) इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मौर्गेन (Morgan) हैं। इनके अनुसार परिवार का आधुनिक स्वरूप पाँच विशिष्ठ अवस्थाओं से गुजर कर विकसित हुआ है : पहली, जब आदि काल में रक्त के आधार पर भाई-बहनों का पारस्परिक विवाह होता था। दूसरी, जब कई भाइयों का कई बहनों के साथ संयुक्त विवाह होता था। तीसरी, जब पति-पत्नियों को बाहरी व्यक्तियों के साथ सहवास करने की सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। चौथी, जब केवल पुरुष को अनेक पत्नियाँ रखने का अधिकार प्राप्त था। और पांचवीं, जिसमें आधुनिक परिवार आता है जहाँ एक पति के लिए एक ही पत्नी होती है। इन्हीं सभी अवस्थाओं में अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर नियंत्रण के साधन प्रचलित थे।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त परिवार के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि परिवार के मौलिक स्वरूप को प्रतिपादित करनेवाला कोई भी एक सिद्धान्त नहीं है। देश-काल और मानवीय मूलप्रवृतियों के अनुरूप विभिन्न संस्कृतियों में परिवार का स्वरूप अनेक प्रकार से विकसित हुआ है। परन्तु इन सिद्धान्तों के विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी काल अथवा स्वरूप में परिवार एक नियंत्रक संस्था के रूप में मनुष्य का सामाजिक जीवन सदैव संचालित करता रहा है।

परिवार के नियन्त्रक प्रकार्य
(Controlling Functions of Family)

व्यक्तियों से परिवार और परिवारों से समाज तथा समस्त सामाजिक आदर्शों, मूल्यों आदि की संरचना होती है। मानव जाति का अस्तित्व एवं उसका विस्तार परिवार से ही सम्बन्धित है। सामाजिक अन्त:क्रियाओं एवं परिवर्तन में समाज की पारिवारिक परिस्थितियों और प्रकार्यों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। अगले पृष्ठों पे में परिवार के कुछ उल्लेखनीय प्रकार्यों पर प्रकाश डाला गया है :

(१) **कामवासनाओं की संस्थागत तृप्ति** (Institutionalized Satisfaction of Sex Desires) सामान्य सामाजिक परिस्थितियों में किसी भी स्त्री-पुरुष का मिलन अनैतिक माना जाता है। कुछ विशिष्ट समाज तो ऐसे हैं जिनमें पर स्त्री का अवलोकन भी पाप समझा जाता है। परन्तु परिवार के द्वारा, विवाह के माध्यम से स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को ऐसा संस्थागत कर दिया जाता है कि इनकी काम-तृप्ति को एक स्थायी एवं व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। यदि परिवार न होता तो समाज में विघटन और काम-अपराध उत्पन्न हो जाता। इस प्रकार परिवार का सर्वोपरि उल्लेखनीय कार्य यह है कि काम वासनाओं की तृप्ति के लिए यह एक आदर्श एवं स्थायी संस्था का निर्माण करता है।

(२) **किशोर-पीढ़ी का निर्माण** (Creation of Young Generation) स्त्री-पुरुष का सम्भोग केवल काम-वासनाओं की ही तृप्ति के लिए नहीं होता है। अपितु इसमें भावी पीढ़ी के बिरवे भी अंकुरित होते हैं। इससे परिवार के विकास में निरन्तरता बनी रहती है। पारिवारिक जीवन में सन्तानोत्पति का प्रकार्य इतना महत्वपूर्ण है कि अनेक समाजों में इसे एक धार्मिक उत्तरदायित्व घोषित कर दिया गया है। एक हिन्दू परिवार का सदस्य तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता है जब तक उसके पुत्र उसका दाह संस्कार नहीं करते हैं। परिवार अपने इस प्रकार्य से शिशु वर्ग का निरन्तर सृजन करके परिवार एवं समाज के विस्तार की आधार भूत आवश्यकता की पूर्ति करता है।

(३) **सामाजीकरण** (Socialization) परिवार सामाजिक जीवन की प्राथमिक शाला है जहाँ नौनिहालों के व्यक्तित्व की नींव का निर्माण होता है। परिवार एक ऐसा शैशवकालीन प्राथमिक समूह है जिसकी छाप व्यक्तित्व पर अमिट रहती है तथा जीवनपर्यन्त एक प्रशिक्षित एवं विशिष्ट ढंग से जीवन यापन करने के लिए प्रेरित करती रहती है। किसी भी परिवार का किशोर सदस्य उस परिवार के प्रकार्यों एवं संस्कृति की तस्वीर होता है। सामाजीकरण प्रक्रिया में बालक को मानित व्यवहारों, अन्तःक्रियाओं, आदर्शों, उत्तरदायित्यों आदि का अभ्यास कराया जाता हैं। इस प्रकार सामाजीकरण द्वारा परिवार अपनी एक निर्धारित संस्कृति एवं विशिष्ठ जीवन शैली अगली पीढ़ी को हस्तांरित करता रहता है।

(४) **पारिवारिक सुरक्षा** (Domestic Security) परिवार अनेक भावानात्मक और जैवकीय आधारों पर इस भाँति गठित होता है कि उसके प्रत्येक सदस्य एवं उसकी भावी पीढ़ी हर प्रकार से सुरक्षित रहती है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का सम्मान पूरे परिवार का सम्मान होता है, और इसकी सुरक्षा के लिए परिवार के सभी सदस्य जागरूक रहते हैं। किसी भी व्यक्ति की कार्य क्षमता नष्ट हो जाने पर परिवार के शेष सदस्य उसके भरण-पोषण की व्यवस्था करते हैं। वैधव्य आदि जैसे दुर्भाग्य की अवस्था में भी परिवार उसकी सुरक्षा का भार वहन करता है। वयस्क सदस्य बाल-गोपालों का लालन-पालन करते हैं जो स्वयं वयस्क होकर वृद्ध पीढ़ी की देख-रेख करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब तक परिवार का अस्तित्व है तब तक उसका प्रत्येक सदस्य हर प्रकार से सुरक्षित है।

(५) **संस्कृति का हस्तांतरण** (Transformation of Culture परिवार ही वह संस्था है जहाँ से संस्कृति निर्मित होकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। परिवार के बच्चे पूर्वजों के आदर्श अपने अविभावकों से ग्रहण करते हैं तथा वयस्क होकर अपनी सन्तान को हस्तांतरित करते हैं। परिवार जब विस्तृत होता है तो अपने परिवारों में विभक्त होकर एक समाज का स्वरूप ले लेता है। फिर इन परिवारों की संस्कृति पूरे समाज की संस्कृति कहलाती है। इस प्रकार परिवारों की संस्कृति एक मानित आदर्श बन कर अनादि काल तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है।

(६) **आर्थिक संगठन** (Economic Organization) श्रम-विभाजन का जन्म पारिवारिक संगठन में ही हुआ है। सभी परिवारों में आयु, शिक्षा, शारीरिक क्षमता एवं लिंग-भेद के अनुसार सदस्यों के कार्य बंटे रहते हैं। स्त्रियाँ घर का काम करती हैं, पुरुष बाहर का कार्य सँभालते हैं, बच्चे छोटे-मोटे कामों में हाथ बँटाते हैं तथा शिक्षाग्रहण करते हैं और बृद्ध अपने अनुभवों के आधार पर परामर्श प्रदान करते हैं। परिवार की सम्पूर्ण आय एक स्थान पर एकत्रित होती है तथा सभी सदस्यों की आवश्यकतानुसार उसका उपयुक्त वितरण होता है। इसी प्रकार परिवार की सम्पत्ति भी संगठित होकर आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान करती है। सारी आय एवं सम्पत्ति का एक स्वामी होता है जिसके प्रशासन में सभी सदस्यों के आर्थिक हितों

की रक्षा का भार होता है। परिवार आर्थिक क्रियाओं का एक विश्वस्त केन्द्र है।

(७) धार्मिक विश्वासों का प्रतिपादन (Establishment of Religious Believes) धार्मिक आस्थाओं से मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन होता है क्योंकि इसमें मनुष्य और पारलौकिक सत्ता का सम्बन्ध सन्निहित होता है। मनुष्य के आचरण एवं उत्तरदायित्व धार्मिक विश्वासों से ही नियंत्रित होते हैं। परिवार इन विश्वासों को आत्मसात करके अपने सदस्यों पर प्रतिक्षेपित करते हैं। जीवन की यापन शैली और संस्कारों को धार्मिक मूल्यों पर आधारित करके मानव जीवन को नियंत्रित करना तथा किसी भी असफलता के परिणामस्वरूप मनुष्य को वैराग्य से बचाये रखना, परिवारों का ही कार्य है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से ये परिवार मनुष्य को आन्तरिक विश्वास प्रदान करते हैं।

(८) सामाजिक मान्यता (Social Recognition) किसी भी मनुष्य की सामाजिक मान्यता उसकी पारिवारिक स्थिति पर निर्भर होती है। जिन समाजों में जातिवाद का अधिक प्रचलन है, वहाँ पारिवारिक स्थिति का महत्व और भी व्यापक हो जाता है। यदि किसी परिवार की स्थिति कुछ कमजोर है अथवा वह किसी नीची जाति से सम्बन्धित है तो किसी ऊँचे समाज के लिए उसका मूल्यांकन हो पाना दूभर हो जाता है। अमुक्त समाज का कोई परिवार चाहे कितनी ही सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का क्यों न हो, मन चाहा सामाजिक स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत मुक्त समाजों में परिवार को अपने विकास की सभी सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं। यहाँ परिवार अपनी एकता और परिश्रम से अपने सदस्यों के लिए समाज में वांछित स्थान पाने के सफल प्रयत्न करता है। परिवार अपनी वंशज, जाति अथवा वर्ग-स्थिति के आधार पर अपनी और अपने सदस्यों के लिए विशिष्ट सामाजिक मान्यता प्राप्त करता है।

सामाजिक नियंत्रण में परिवार का महत्व
(Role of Family in Social Control)

परिवार के सम्बन्ध में अब तक की परिचर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संरचना में इसका सर्वाधिक महत्व है। कहा जा सकता है कि

परिवार सामाजिक जीवन की रीढ़ है। इसी प्रकार सामाजिक नियंत्रण में भी परिवार एक आधारभूत एवं प्रभावशाली संस्था मानी जाती है। सभी सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का बीजारोपण परिवार में ही होता है और यहीं से उन्हें स्थायित्व एवं मान्यता प्राप्त होती है। परिवार का कार्यक्षेत्र बहुर्मुखी है तथा इसका स्वरूप सार्वभौमिक है। किसी भी देश अथवा काल में मानव के सामाजिक स्वरूप को गढ़ने का श्रेय परिवारों को ही प्राप्त है। मैकाइवर और पेज के अनुसार सभी प्राथमिक समूहों में, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। मानव के बाल्य-कालीन जीवन में ही सामाजिकता एवं संस्कृति के सभी अपेक्षित गुण इतनी गहराई से तराश दिये जाते हैं कि वे उसके सम्पूर्ण जीवन भर तो क्या, पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहते हैं। मानव समाज में परिवार अपने अनेक स्वरूपों से इस कार्य को सम्पन्न करता है।

सामाजिक परिवर्तन के साथ समंजन करना परिवारों की अद्वितीय योग्यता है। सामाजिक अवधारणाओं में जैसे ही कोई परिवर्तन लक्षित होता है वैसे ही परिवार उन्हें आदर्शों की कसौटी पर कस कर ग्रहण एवं प्रसारण करने के लिए कार्यशील हो जाते हैं। इसके विपरीत सामाजिक जीवन में कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जो पारिवारिक मान्यताओं के विरूद्ध समझे जाते हैं। ऐसे परिवर्तनों को समाज में अपना स्थान पा सकना कठिन हो जाता है और फलस्वरूप वे अल्पकाल के लिए सामाजिक सतह पर तैर कर विलोप हो जाते हैं। समाज का स्वरूप परिवर्तित एवं संशोधित करने के लिए राजकीय स्तर पर, परिवार नियोजन, बचत अभियान आदि अनेक योजनाएँ संयोजित की जाती हैं, परन्तु इन सबके सफल परिणाम हासिल करना पारिवारिक संरचनाओं पर ही निर्भर करता है। यदि पारिवारिक रुढ़ियाँ इन परिवर्तनों की स्वीकृति नहीं देती हैं तो परिवर्तन के सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। इसलिए सफल सामाजिक नियंत्रण तभी सम्भव हो सकता है जब वह सामाजोन्मुखी न होकर परिवारोन्मुखी होता है।

परिवार का स्वरुप और आकार कैसा ही क्यों न हो, जाहे वह जाति व्यवस्था पर आधारित हो अथवा वर्ग-व्यवस्था पर, चाहे अमुक्त समाज में हो अथवा मुक्त समाज में, परिवार की नियंत्रण क्षमता प्रत्येक दशा में सर्वोपरि रहती है। जहाँ परिवार के आकार बड़े होते हैं वहाँ शासन प्रणाली और

नियंत्रण एक सत्तात्मक रुप से केन्द्रित रहते हैं। परिवार के सदस्यों की पार्थिव, सांस्कृतिक और स्नेहात्मक सन्तुष्टियों की व्यवस्था एक स्थान से होती है। सदस्यों के बीच पारस्परिक संघर्ष, ईर्षा, अनादर आदि विघटनकारी तत्वों का बहिष्कार भी इसी सत्ता द्वारा होता है। पारिवारिक जीवन में समंजित मनुष्य को सामाजिक जीवन में समंजन करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। संयुक्त एवं बड़े आकार के परिवारों में तलाक, व्यक्तिवाद, पैतृक सत्ता का ह्रास, स्त्रियों की स्वतंत्रता जैसी बातें बहुत कम देखने को मिलती हैं। इसके विपरीत जब किसी वाह्य संस्कृति के दबाव के कारण अथवा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप परिवार में विघटनकारी तत्व पनपने लगते हैं और परिवार छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त हो जाता है तब भी परिवार अपने नूतन प्रतिमानों से मनुष्य का पारिवारिक जीवन नियंत्रित करता है। छोटा-सा परिवार, वैयक्तिक स्वतंत्रता, मुक्त समाज, सामाजिक गतिशीलता, वांछित वैवाहिक सम्बन्ध, व्यापारिक मनोरंजन आदि अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनमें परिवार की भूमिकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

मानव समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण में परिवार की अनगिनत भूमिकाएँ हैं। समाज की संरचना में सर्वत्र परिवारों के ही ताने-बाने देखने को मिलते हैं। व्यक्ति के मानसिक उद्वेग, व्यक्तित्व का विकास, शिक्षा, सुरक्षा, सामाजिक समंजन एवं उत्तरदायित्व, आदि कार्यों में परिवारों की बहुर्मुखी भूमिकाएँ हैं।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. A. W. Green : Sociology.
3. E. S. Bogardus : Sociology.
4. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
5. Paul Schrekar : Family : Its Functions and Destiny.
6. Linton : The Natural History of the Family.
7. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
8. Merril and Eldredge : Culture and Society.
9. रामपाल सिंह गौड़ : समाजशास्त्र परिचय।

Questions

१. परिवार से आप क्या समझते हैं ? उसकी प्रमुख विशेषताओं को बताइये ।

What do you understand by family ? Discuss its main characteristics.

२. परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से विवेचना कीजिये ।

Describe the origin theories of the family with special reference to social control.

३. परिवार के नियंत्रक प्रकार्यों का वर्णन कीजिए ।

Describe the contrlling functions of the family.

४. सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण के रूप में परिवार के महत्व की व्याख्या कीजिए ।

Discuss the importance of family as an agency of social control.

५. परिवार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।

Write a short essay on family.

६. 'परिवार सामाजिक नियन्त्रण का एक बलशाली अभिकरण है' । समालोचना कीजिये ।

'Family is a powerful agency of social control'. Comment.

अध्याय १६

धर्म
(RELIGION)

धर्म सामाजिक नियंत्रण का एक सामुदायिक संगठन है। यह समाज की अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और शिक्षात्मक प्रक्रियाओं को संचालित एवं नियंत्रित करता है। धर्म का प्रभाव मनुष्य के विश्वासों और क्रियाओं दोनों पर पड़ता है। वह पारलौकिक शक्तियों से एकात्म होने के लिए तथा उनका सान्निध्य और कृपा प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से उपासना करता है। वैराग्य लेकर, अविवाहित रहकर, तीर्थ यात्रा करके नाना प्रकार से वह अपने इष्टदेव को प्रसन्न रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। अपनी इन आस्थाओं को भौतिक स्वरूप देने तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञताओं को प्रकट करने के लिए अपने इष्टदेवों की प्रतिमाएँ बनाता है तथा विभिन्न अलंकारों, नैवेद्यों और प्रतीकात्मक सामग्रियों से उन्हें पूजता है। इससे उसके विश्वासों को दृढ़ता प्रदत्त होती है। धर्म की आचार-संहिताओं द्वारा जीवनयापन के आदर्श नियम निर्धारित रहते हैं। इनकी अवज्ञा सर्वशक्तिमान की अवज्ञा मानी जाती है। धर्म की आचार-संहिताओं की नियमावली समाज के कल्याणकारी उद्देश्यों पर आधारित होती है। इनमें जीवन के सदाचार, नैतिकता, सत्य, परोपकार, सेवा, अहिंसा आदि पर बल दिया जाता है। मनुष्य इन्हीं का अनुसरण करता है। इस प्रकार मनुष्य के सामाजिक आचरण, क्रियाएँ, पारस्परिक व्यवहार और अन्तः सम्बन्ध पूर्णतः नियंत्रित रहते हैं।

यद्यपि धर्म का प्रादुर्भाव सभी समाजों में पाया जाता है परन्तु विभिन्न समुदायों में इसके विभिन्न स्वरूप और प्रकार्य देखने को मिलते हैं। धर्म के प्रकार्य जो एक सम्प्रदाय में नकारात्मक होते हैं दूसरे में सकारात्मक भी हो सकते हैं। हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों में ऐसे विरोधाभास बहुतायत से पाये जाते हैं तथापि धर्म की समग्रता इतनी प्रभावशाली है कि यह सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण माना जाता है।

परिभाषायें (Definitions)

मनुष्य के धार्मिक विश्वास इतने प्रखर होते हैं कि मानव की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाएँ इनसे प्रभावित रहती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न समाजों में धर्म के प्रति विश्वासों में भी परिवर्तन पाए जाते हैं। इसलिए धर्म के व्यापक स्वरूप की सार्वभौमिक परिभाषाएँ नहीं मिलती हैं। फिर भी नीचे कुछ विद्वानों के मत प्रकट किए गए हैं।

नीत्से के विचार में **"धर्म ज्ञान है—यह मनुष्य के अन्दर स्वयं के हेतु अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, कठिनतम समस्याओं का समाधान करता है तथा हम लोगों के साथ पूर्ण समन्वय करता है और हमारे मस्तिष्कों को पूर्ण पवित्र बनाता है।"**[1]

इमाइल दुरखीम का मत है कि **"धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।"**[2]

आगस्ट कॉम्ट के कथनानुसार, **"धर्म पूर्ण एकता की स्थिति को व्यक्त करता है, जो व्यक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य**

1. "Religion is knowledge—it gives a man a clear insight into himself, answers the highest questions and imparts to us a complete harmony with ourselves and thorough sevetification to our mind."

—Nitche.

2. Religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things—which unite into one single moral community called a church, all those who adore to them."

—Emile Durkheim : *Elementary Forms of Religious Life.*

का विशिष्ट लक्षण है। जब उसकी प्रकृति के सभी नैतिक एवं भौतिक निर्माणात्मक तत्व स्वभावतः एक सामान्य लक्ष्य की ओर मिलाए जाते हैं।"[1]

मैलिनोवस्की ने कहा है कि "धर्म के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार के वे सभी प्रतिमान आते हैं जिससे वह अपने दैनिक जीवन की अनिश्चितता को दूर करता है और उस संकट की क्षतिपूर्ति के लिए अनअपेक्षित भय को दूर करता है। पहले धर्म मनुष्य की आशाओं एवं आकांक्षाओं से सम्बन्धित न होकर उसके भय से सम्बन्धित था"[2]

गिलिन और गिलिन के मतानुसार "धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत अलौकिक से सम्बन्धित सामाजिक समूह में प्रचलित भावानात्मक विश्वास, प्रत्यक्ष आचरण भौतिक वस्तुऐं तथा विश्वासों से सम्बन्धित प्रतीक आते हैं।"[3]

डाक्टर राधाकृष्णन का मत है कि 'धर्म की अवधारणा के अन्तर्गत हिन्दू, उन स्वरूपों और प्रक्रियाओं को लाते हैं, जो मानव जीवन का निर्माण करती हैं, और उसको धारण करती हैं।"[4]

1. "Religion in itself expresses the state of perfect unity which is the distinctive mark of man's existence both as an individual and in society, when all the constituent parts of his nature, moral and physical are made habitually to conversed toward one common."
—Auguste Comte.
2. Religion includes all those patterns of behaviour whereby men strives to reduce the uncertainties of daily living and to compensate the crises which result from the unexpected and impredictable. Religion first was not related to the hopes and aspirations of man, it was related to fear."
—Malinowski.
3. "The sociological field may be regarded as including those emotionalized beliefs prevalent in a social group concerning the supernatural, plus the overt behaviour, material objects and symbols associated with such beliefs."
—Gillin and Gillin : *Cultural Sociology*.
4. "Under the concept of Dharma, the Hindu brings the forms and activities which shake and sustain human life."
Dr. Radha Krishnan : *Religion and Society*.

हॉबल के शब्दों में, "धर्म अलौकिक शक्ति के ऊपर विश्वास में आधारित है, जो 'आत्मवाद' और 'माना' को सम्मिलित करता है।"[1]

धर्म की उत्पत्ति और सामाजिक नियंत्रण-एक सैद्धान्तिक विवेचन

(Origin of Religion and Social Control-A Theoretical Explanation)

धर्म का आधार विश्वास है। इसलिए इसकी उत्पत्ति का कोई वैज्ञानिक अथवा तार्किक आधार खोज पाना कठिन है। मनुष्य नाना प्रकार से पारलौकिक शक्ति से अपना तादाम्य स्थापित करता आया है और इसी से अपना सामाजिक जीवन नियंत्रित करता रहा है। इस नियंत्रण के हेतु धर्म की उत्पत्ति के विषय में समाजशास्त्रियों के अनेक मत हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है :

(१) स्पेंसर का आत्मवादी सिद्धान्त (Spencer's Theory of Animism) आदि कालीन समाज में मनुष्य अपने पूर्वजों में गहरी श्रद्धा रखता था, क्योंकि पूर्वज उसका समस्त सामाजिक जीवन नियंत्रित रखते थे। पूर्वजों के प्रति यह श्रद्धा इतनी बढ़ी कि उनकी पूजा करने लगा। मनुष्य का ऐसा विश्वास था कि मरणोपरान्त भी उसके पूर्वजों की आत्मा कहीं न कहीं विद्यमान है जो अप्रत्यक्ष रूप से उसके जीवन की देख-रेख कर रही है। इसी पूजा और श्रद्धा की भावना ने धर्म का जन्म ले लिया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हरबर्ट स्पेन्सर एवं टायलर हैं।

(२) सत्तावाद अथवा मानावाद का सिद्धान्त (Theory of Animatism or Manaism) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मैरट ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आदिकालीन मनुष्य जड़ एवं चेतन दोनों को जीवित सत्तायुक्त मानता था। इसलिए वह जड़ और चेतन दोनों से अपना तादाम्य स्थापित करके नाना प्रकार से उसकी पूजा करता था। इसी ने आगे चल कर धर्म का स्वरूप ले लिया। इसी विचारधारा के अन्तर्गत मैक्समूलर ने

---

1. "Religion rests upon belief in supernatural which embraces 'animism' aud 'mana'."

—E. A. Hoebel : *Man in Primitive World.*

अपना प्रकृतिवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के ऊपर प्राकृतिक प्रभावों के कारण हुई है। वर्षा, सूखा, भूकम्प, फल-फूल आदि में मनुष्य को प्राकृतिक अथवा दैवी वरदानों और प्रकोपों का आभास हुआ। फलस्वरूप वह इनके प्रति श्रद्धावान् होकर इन्हें पूजने लगा। कोर्डरिंगटन ने भी दैवीय शक्ति को अवैयक्तिक माना है। उसके अनुसार एक अलौकिक सर्वव्यापी शक्ति है जो मनुष्यों के समस्त व्यवहारों को नियंत्रित किये रहती है। इस सैद्धान्तिक विवेचन को मानावाद कहते हैं।

(३) दुरखीम का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Durkheim's Sociological Theory) दुरखीम ने अपनी पुस्तक (The Elementary Forms of Religious Life) में धर्म की उत्पत्ति के कारणों की सैद्धान्तिक विवेचना की है। उसके निष्कर्षानुसार नैतिक रूप से धर्म, सामूहिक चेतना का प्रतीक है और समाज ही वास्तविक देवता है। दुरखीम के दृष्टिकोण में टायलर और मैक्समूलर के आत्मवाद और प्रकृतिवाद के सिद्धान्त बहुत ही संकुचित हैं। दुरखीम के अनुसार धर्म के सामाजिक कार्य दो भागों में बँटे हैं—सामान्य (Profane) और पवित्र (Sacred) सामान्य विश्वास के कारण जादू-टोने का विकास हुआ है और पवित्र विश्वास के कारण धर्म का विकास हुआ है। धर्म का मूल कारण स्वयं समाज है तथा धार्मिक अवधारणाएँ समाज की विशेषताओं की प्रतीक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। धर्म का प्रमुख कार्य सामाजिक एकता को उत्पन्न करना एवं उसे नियंत्रित रखना है।

(४) फ्रेजर का संक्रान्ति-सिद्धान्त (Frazer's Theory of Transition) फ्रेजर का मत है कि धर्म के विश्वासों के पूर्व जादू-टोने का प्रादुर्भाव हो चुका था। जादू-टोनों से ही व्यक्ति अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों का नियंत्रण करता था। परन्तु प्राकृतिक शक्तियों के आगे उसके जादू-टोने विफल हो जाते थे। इस विफलता के फलस्वरूप मनुष्य को अज्ञात एवं अलौकिक शक्तियों के प्रति आस्थावान होना पड़ा। अर्थात् यहीं से धर्म की उत्पत्ति हुई।

इसी भाँति अनेक विद्वानों ने सामाजिक नियंत्रण के सन्दर्भ में धर्म की उत्पत्ति के अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। कुछ चिन्तकों का विचार है कि मनुष्य में भय की आशंका ने धर्म को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त

कुछ का मत है कि धर्म की उत्पत्ति का कारण वैराग्य है। सामाजिक जीवन में समंजन न हो सकने के कारण, असफल मनुष्य अपना आत्म विश्वास खो बैठता है और वह वैरागी हो जाता है। हाउर (Hauer) का कथन है कि समाज में कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो बड़ी रहस्यप्रद लगती हैं। मनुष्य इन्हें अलौकिक शक्तियों का पराक्रम समझ कर धर्मवादी हो जाता है।

धर्म की उत्पत्ति के जो भी स्रोत हों परन्तु इतना अवश्य है कि धर्म का प्रादुर्भाव सदैव सामाजिक नियंत्रण से सम्बन्धित रहा है।

धर्म के नियन्त्रक प्रकार्य
(Controlling Functions of Religion)

सामाजिक नियंत्रण के सन्दर्भ में धर्म के अनेक प्रकार्य हैं। धर्म, नियन्त्रण का एक ऐच्छिक साधन है। इसके समुचित प्रसारण से मानव स्वतः अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरुक हो जाता है। अशिक्षित समाज में जहाँ कि सारी बातें तर्क के आधार पर नहीं समझाई जा सकती हैं वहाँ धर्म अपने प्रभावशाली परिणाम दिखाता है। धर्म के महत्वपूर्ण प्रकार्यों को निम्नप्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) **नैतिकता का नियमन** (Ragulation of Morality) नैतिकता का स्तर बनाए रखना धर्म का सर्वोपरि कार्य है। घृणा, द्वेष बेइमानी असत्य, अपराध आदि जैसे असामाजिक तत्वों का बहिष्कार धर्म के ही माध्यम से सम्भव हो पाता है। एक बार धर्म में आस्था जाग जाने के बाद मनुष्य अपने जीवन के आदर्शों का निर्वाह करने के लिए स्वेच्छा से तत्पर हो जाता है। इससे मनुष्यों के अन्तः सम्बन्ध नैतिकता के आधार पर संचालित होते हैं तथा मनुष्यों में पारस्परिक प्रेम और श्रद्धा का विस्तार होता है।

(२) **कल्याणकारी प्रकार्य** (Welfare Functions) धार्मिक विश्वासों से प्रेरित होकर समाज में कल्याणकारी कार्यों का सृजन होता है। धार्मिक नियमों के अनुसार मनुष्य की सेवा ईश्वर की सेवा होती है। समाज के सभी व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार, दान, दया, परोपकार, शरण आदि के द्वारा मानव कल्याण में अपना-अपना योगदान करते हैं। धार्मिक प्रेरणाओं के फलस्वरुप धार्मिक संगठनों का निर्माण होता है जो औषधालय, अनाथालय,

धर्मशालाएँ, देवालय, शिक्षासंस्थान आदि कल्याणकारी प्रतिष्ठानों की स्थापना करके जनमानस की सेवा करते हैं। इससे एक कल्याणकारी समाज का अस्तित्व स्थापित होता है।

(३) **कलात्मक अभिरुचियों का विकास** (Development of Artistic Taste) धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक शक्ति से होता है। कला इस पारलौकिक शक्ति से मनुष्य का आध्यात्मिक सम्पर्क स्थापित करती है। मूर्तिकला, नृत्यकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला, वास्तुकला आदि सभी कलाएँ ईश्वरीय होती हैं। इन कलाओं के सृजन से सामूहिक चेतना का एकीकरण होता है। कलाकार अपनी अभिव्यक्ति में समस्त दर्शकों अथवा श्रोताओं की अभिव्यञ्जना समाहित कर लेता है। मन्दिरों, मूर्तियों, नाट्य-शालाओं आदि का निर्माण धार्मिक भावनाओं से ही प्रेरित होकर किया जाता है। कलात्मक अभिरुचियों के विकास से समाज के सदस्य एकात्म होकर नियंत्रित रहते हैं।

(४) **संगठनात्मक समितियों की स्थापना** (Establishment of Organizational Bodies) धर्म की कल्याणकारी धारणाएँ सामाजिक हितों के निमित्त हुआ करती हैं। इसके लिए धर्म अपने प्रकार्यों के हेतु संगठनों, पन्थों, समुदायों, मठों आदि में गठित हो जाता है। समाज में विभेदीकरण होने के कारण धर्म के भी अनेक संगठन विकसित हो जाते हैं। परन्तु सबके उद्देश्य जन कल्याणकारी होते हैं। मनुष्य अपने को इन संगठनों का सदस्य समझता है तथा सम्बन्धित संगठन के सभी नियमों का सदैव आचरण करता है। समान संगठन अथवा धर्म के अनुयायियों के बीच अपनत्व एवं बन्धुत्व की भावना प्रेरित रहती है। इस प्रकार प्रत्येक जन समुदाय किसी न किसी धर्म का अनुयायी होकर उसकी सामाजिक सीमाओं और बन्धनों में नियंत्रित रहता है।

(५) **भय द्वारा नियंत्रतात्मक तत्वों का प्रचलन** (Formation of Controlling Factors Through Fear) धर्म के प्रादुर्भाव में मनुष्य सदैव अलौकिक शक्तियों से भयभीत रहता है। यह भय मनुष्य को समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है। भय, धर्म की एक ऐसी विशेषता है जिससे व्यक्ति में स्वतः नियंत्रणमूलक तत्व जागृत हो जाते हैं। कोई भी अनैतिक कार्य अथवा अपराध करते समय उसकी अन्तरात्मा उसके परिणामों और ईश्वरीय

कोप की ओर इंगित करती है। फलस्वरूप वह भयभीत होकर उसका परित्याग कर देता है। धर्म का विस्तार होने से सामाजिक नियंत्रण के लिए कानून, दण्ड आदि की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम हो जाती है।

(६) **सामाजिक सरंचना की स्थिरता** (Stability of Social Structure) धर्म की नींव रूढ़ियों और विश्वासों पर निर्मित होती है जो बहुत दृढ़ एवं अपरिवर्तनशील होते हैं। जिस समाज में धार्मिक विश्वास जितने ही गहन होंगे वह उतना ही स्थायी और नियंत्रित होगा। समाज में स्थायित्व होने से तीव्रतम सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाएँ नहीं रहती हैं फलस्वरूप वहाँ नियंत्रण के नवीन साधनों की खोज का प्रश्न ही नहीं उठता है। धार्मिक विश्वासों पर आधारित समाज स्थायी होता है और स्थायी समाज स्वतः नियंत्रित रहता है।

(७) **आत्मरक्षा को व्यवस्था** (Arrangement for Self-Security) मनुष्य के जीवन की बहुत कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिन पर उसका वश नहीं होता है। मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। इनसे ऊबकर जब वह अपने में एक उखड़ापन, नैराश्य और असुरक्षा महसूस करने लगता है तब धार्मिक विश्वास उसकी आत्मरक्षा में सहायक होते हैं। ये विश्वास उसके मानसिक कष्टों का ही उपचार नहीं करते हैं, वरन् उसे अपने आर्थिक और शारीरिक कष्टों से भी त्राण पाने में सहायक होते हैं। पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत-उपवास, धर्मोपदेश आदि से वह अपनी परिस्थितियों को नियंत्रित करने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

सामाजिक नियंत्रण में धर्म का महत्व
(Importance of Religion in Social Control)

धर्म एक संरक्षणात्मक शक्ति है। यह अनेक प्रकार से सामाजिक संरचना को गठित किए रहती है। धर्म की अवधारणाएँ प्राचीनतम होती हैं तथा इसके नियम एवं आचरण अगली पीढ़ियों को हस्तांतरित होते रहते हैं। फलस्वरूप यह परम्पराओं को सार्थक एवं स्थायी बनाये रखता है। समाज के परम्परागत मूल्य ईश्वरीय माने जाते हैं जो धर्म ग्रन्थों में लिखे होते हैं। कोई भी व्यक्ति इनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। धार्मिक परम्पराओं के विश्वास

जीवन के उच्चतम आदर्शों को स्थायी बनाये रखते हैं। इससे समस्त सामाजिक जीवन एक प्रतिमानिक शैली में नियंत्रित रहता है।

सामाजिक नियंत्रण में धर्म का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इसमें भय की भावना निहित रहती है। यह भावना समाज का ही नियंत्रण नहीं वरन् मनुष्य के आत्म का भी नियंत्रण करती है। कोई भी मनुष्य अनैतिक अथवा असामाजिक कार्य करते समय उनके धार्मिक दुष्परिणामों से सदैव भयभीत रहता है। जन्न-जन्मांतर वस्तुतः कानून का उलंघन करने में व्यक्ति उतना भयभीत नहीं होता है जितना किसी धर्म की मर्यादा को तोड़ने में हुआ करता है। फलस्वरूप समाज के धार्मिक नियमों का पालन करके सदैव नियंत्रित रहता है।

धर्म का विकास, सामुदायिक जीवन का विस्तार करता है। धार्मिक अनुष्ठान, मेले, त्योहार, पूजन, धर्मोपदेश, यज्ञ आदि अवसरों पर व्यक्तियों के समूह एकत्रित होते हैं। इनमें सम्मिलित सभी व्यक्तियों की श्रद्धाओं और आस्थाओं में समानता होने के कारण उनमें पारस्परिक सद्भावना अंकुरित होती है। इससे सामाजिक एकता को बल मिलता है तथा सहयोग की भावना बढ़ती है। सामाजिक एकता का अभिप्राय राष्ट्रीय एकता का निर्माण करना होता है। इस प्रकार धर्म केवल सामाजिकता का ही नहीं वरन् राष्ट्रीयता का भी निर्माण करता है।

धर्म शान्ति का संस्थापक है। इसकी आचार-संहिता के अनुसार घृणा, द्वेष, अत्याचार, शोषण, क्लेश, युद्ध आदि अधार्मिक तत्व माने जाते हैं। इसके विपरीत परोपकार, पारस्परिक स्नेह, सहनशीलता, दया, आदि, धर्म के ऐसे अनिवार्य नियम हैं जो सामाजिक शान्ति बनाये रखने में सहायक होते हैं तथा समाज में विघटनकारी तत्वों को नहीं पनपने देते हैं। एक शान्तिमय नियंत्रित जीवन का निर्वाह धर्म का सर्वोच्च लक्ष्य होता है।

सामाजिक जीवन असन्तुलित होने पर धार्मिक क्रान्तियाँ ही उसका संरक्षण करती हैं। सामाजिक संगठन का जो कार्य शासन और संविधान से नहीं हो पाता है, उसे धर्म के आस्तिक और अनुयायी अपनी अहिंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा सम्पन्न करते हैं। महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, मुहम्मद, आदि ने धर्म, सत्य एवं अहिंसा की क्रान्ति से समाज के बिगड़ते स्वरूप को अनेकानेक बार नियंत्रित किया है।

धर्म अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील होता है इसलिए स्थिर समाज में अपने प्रतिमानों से सामाजिक नियंत्रण, संगठन और समंजन के कार्यों को बड़ी कुशलता से पूरा करता है।

Selected Readings.

1. Emile Durkheim : The Elementary Forms of Religious Life.
2. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
3. Dr. Radha Krishnan : Religion and Society.
4. G. M. Vernon : Sociology of Religion.
5. H. M. Johnson : Sociology.

Questions.

१. धर्म क्या है ? धर्म के नियन्त्रक प्रकार्यों की विवेचना कीजिए।
What is religion ? Discuss the controlling functions of religion.

२. सामाजिक नियंत्रण में धर्म का महत्व बताइये।
Discuss the importance of religion in social control.

३. 'धर्म सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य आधार है।' विवेचना कीजिए।
'Religion is the main basis of social control.' Discuss.

४. धर्म की परिभाषा दीजिए और इसका समाजशास्त्रीय महत्व बताइये।
Define religion and discuss its sociological importance.

५. धर्म के उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
Describe the different theories of origin of religion.

६. धर्म के सामाजिक कार्यों का विवेचन कीजिये तथा यह बताइये कि धर्म किस प्रकार सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण का कार्य करता है ?
Discuss the social functions of religion and explain how it works as an agency of social control ?

अध्याय १७

राज्य
(STATE)

राज्य सामाजिक नियंत्रण का एक बाध्यतामूलक अभिकरण तथा जन सामान्य के मौलिक हितों का संरक्षक है। मानवीय जीवन की सभी प्रक्रियाओं और व्यवहारों में राज्य का हस्तक्षेप तथा सहयोग है। मानव जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं हैं जहाँ व्यक्ति अपने आप को राज्य की शासन-प्रणाली से मुक्त पाता हो। बर्क के शब्दों में **"राज्य अस्थायी तथा नाशवान प्रकृति वाले अपरिष्कृत पशु-जीवन की वस्तुओं में साझेदार नहीं है, वरन वह समस्त विज्ञान में, सम्पूर्ण कला में, प्रत्येक गुण में और समस्त पूर्णता में एक साझेदार है"**[1] किसी भी जन-प्रदेश में राज्य की स्थापना वहाँ की परम्परा, व्यवहार रीति-रिवाज तथा धार्मिक मान्यताओं के अनकूल होती है; तथा इनके द्वारा निर्धारित आदर्श मानवीय लक्ष्यों की पूर्ति करना राज्य का प्रमुख उद्देश्य होता है। राज्य के पास न्याय एवं दण्ड के शक्तिशाली साधन होते हैं जिनके माध्यम से यह समाज को नियंत्रित करता है। राज्य का अस्तित्व विधान और सरकार की अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्थायी होता है; क्योंकि सरकारें आतीं हैं और चली जाती हैं परन्तु

1. "The state is not a partnership in things subservient to the gross animal existence of a temporary and perishable nature, but a partnership in all science, a partnership in all art, partnership in every virtue and in all perfection".

—Burke.

सामाजिक मूल्यों पर संगठित राज्य का स्वरूप बहुत कुछ अपरिवर्तित रहता है। राज्य के इस स्थायी स्वरूप के उपरान्त भी इसकी कार्य-प्रणाली इतनी लचीली एवं तीव्र है कि आवश्यकता पड़ने पर अपने विधानों के द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति को अल्पतम समय में किसी भी वांछित दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है।

प्रत्येक नागरिक के लिए राज्य की सदस्यता अनिवार्य तथा उसकी आचार-संहिता बाध्य रूप से स्वीकार्य होती है। राज्य एक अनन्त तथा स्थायी संस्था है जिसका सम्बन्ध जनता के किन्हीं विशेष हितों से न होकर जन-मानस के समस्त सामान्य हितों से होता है। मैकाइवर के विचार में, "राज्य एक व्यवस्था स्थापित करने वाला संगठन है। इसका अभिप्राय केवल व्यवस्था के ही हेतु व्यवस्था की स्थापना नहीं है परन्तु जीवन की उन समस्त सम्भाव्यताओं को लक्ष्य मानना है जिनके लिए सुव्यवस्था का आधार अ.वश्यक है।[1]

वाह्य संस्कृति के प्रभाव, विज्ञान और तकनीक की प्रगति और जीवन के प्रति परिवर्तित मानवीय दृष्टिकोण ने, एक ओर तो परम्परागत जीवन शैली पर आघात किया है और दूसरी ओर उन जड़ रूढ़ियों का बहिष्कार भी किया है जिनमें जकड़े होने के कारण मानव का विकास असम्भव है। इस बहुमुखी परिवर्तन के कारण सामाजिक विकास के साथ-साथ सामाजिक संघर्ष एवं अनैतिकता के लिए भी पर्याप्त पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। ये सब वृहत् समाज की समस्याएँ हैं जिनके निदान और नियंत्रण के लिए वृहत् संस्था की आवश्यकता होती है। ऐसी संस्था केवल राज्य ही है जो अपने सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र की समस्त प्रक्रियाओं पर अपना सार्वभौमिक नियंत्रण एवं संचालन कर सकने में समर्थ है। इतना ही नहीं वरन् राज्य अपने क्षेत्र से बाहर के प्रभावकारी तत्वों का भी आत्मीकरण अथवा बहिष्कार अपनी अन्त-र्प्रदेशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के अनुसार करता है। आवश्यकता पड़ने

1. "The state is essentially an order creating organization. It exists to establish order, not, of course, merely for the sake of order but for the sake of all the potentialities of life which require that basis of order."

—R. M. MacIver : *The Modern State.*

पर राज्य अपने उद्देश्यों को पूर्ति के हेतु शक्ति एवं समन्वय का सम्बल लेता है। यह अपने समस्त जन-मानस के जीवन का अभिभावक तथा प्रहरी है।

राजनैतिक, प्राकृतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, कलात्मक आदि सभी क्षेत्रों के संचालन एवं संरक्षण का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक जीवन तक की सभी विशिष्ठ तथा सामान्य शाखाओं और उपशाखाओ का गहनतम जाल राज्य की संस्था में पनपता रहता है।

सामाजिक नियंत्रण करने के लिए राज्य के पास अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा बाध्यतामूलक और स्वेच्छामूलक साधन होते हैं। सहयोग, प्रोत्साहन विधान, दण्ड, पुरस्कार, आदि अनेक साधनों से राज्य, समाज का एक आदर्श स्वरूप निर्मित करके उसे सुनियोजित शैली से संचालित एवं नियंत्रित करता है।

परिभाषायें (Definitions)

कुछ पुराने राजनैतिक विद्वानों ने राज्य की अवधारणा को वैधानिक ढंग से पारिभाषित करके अनेक भ्रम उत्पन्न कर दिए हैं। इसका कारण यह है कि राज्य दीर्घकाल तक केवल राजनीति विज्ञान का ही विषय रहा है। पिछले कुछ दशकों में समाजवेत्ताओं ने राज्य को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया है। नीचे राज्य की कुछ राजनैतिक और समाजशास्त्रीय परिभाषायें उद्धृत की गयी हैं।

अरस्तू के मतानुसार "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है, जिसका उद्देश्य पूर्ण तथा आत्म निर्भर जीवन की प्राप्ति हो।"[1]

बर्गेस का मत है कि "राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ठ भाग है।"[2]

1. "The state is union of families and villages having for its end a perfect and self-sufficing life."

Aristotle.

2. "The state is a particular portion of mankind viewed as an organized unit."

Burgess.

हालैण्ड का कथन है कि राज्य ऐसे मनुष्यों का एक बहुसंख्यक समुदाय है जो साधारणतया एक निश्चित प्रदेश में निवास करते हों तथा जिसमें किसी एक श्रेणी अथवा बहुसंख्यकों की इच्छा उनकी शक्ति के कारण उसके विरोधियों पर प्राधान्य रहती है।"[1]

ब्लंश्ली ने पारिभाषित किया है कि "मानव जाति की राजनैतिक दृष्टि से संगठित हुए एक विशिष्ट भाग का नाम ही राज्य है।"[2]

वुडरो विल्सन के कथनानुसार, "एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए संगठित जनता को राज्य कहते हैं।"[3]

पुणताम्बेकर के विचार में, "राज्य में प्रमुख धारणा जाति, धर्म भाषा अथवा संस्कृति की नहीं, वरन एक समान प्रदेश तथा एक [illegible]चित सत्ता की होती है जो अपने सदस्यों पर आदेश चलाती तथा उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन कराती हो; और ये सदस्य आत्मरक्षा अर्थात शान्ति, सुव्यवस्था तथा अच्छे शासन के लिए एक सूत्र में बंधे होते हैं।"[4]

---

1. "The state is a numerous assemblage of human beings generally occupying a certain territory, among whom the will of the mojority or of an ascertainable class of persons is, by the strength of such a majority or class, made to prevail against any of their number who appose it".
—Holland.

2. "The state is a politically organized people of a definite territory".
—Bluntschli.

3. "The state is people oraganized for law within a definite territory."
—Woodrow Wilson.

4. "The dominant idea in a state is not of race, religion, language, or culture, but of a common territory and a definite sovereign power exercising authority and exacting obedience from its members who are bound together for self protection, that is, for peace, order and good government".
—Puntambekar.

गार्नर के अनुसार, "राज्य व्यक्तियों का एक समुदाय है, जिसका एक निश्चित भूभाग पर स्थायी अधिकार है, जो वाह्य नियंत्रण से पूर्ण या आंशिक रूप से युक्त है, जिसकी एक संगठित सरकार है और जिसके प्रति व्यक्तियों में आज्ञापालन की भावना होती है।"[1]

रासेक की परिभाषा के अनुसार, "सम्पूर्ण समाज से सम्बद्ध राज्य, राजनैतिक उद्देश्यों के हेतु संगठित, किसी समाज में मनुष्यों का एक साहचर्य है।"[2]

राज्य की विशेषताएँ
(Characteristics of State)

राज्य के स्वरूप को संगठित होने के लिए कुछ तत्वों का होना अनिवार्य है। राज्य, मानवीय समुदाय के कुछ समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा उसे वाह्य नियंत्रण से मुक्त रखने के लिए संरचित होता है। राज्य के सदस्यों के लिए एक स्थायी आवास की सुरक्षित व्यवस्था होती है तथा एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो उस क्षेत्र की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति करे एवं उसका पालन कर सके। इन उद्देश्यों के आधार पर राज्य की निम्नलिखित विशेषताओं अथवा उसके तत्वों को प्रकाशित किया जा सकता है :

(१) **जनसंख्या** : जनसंख्या, राज्य की सर्वप्रमुख विशेषता है। एक विशेष क्षेत्र में, जिसे राज्य कहते हैं, नाना प्रकार की जातियाँ और प्रजातियां हो सकती हैं तथा अपनी सामाजिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों के अनुसार

1. "State is a community of persons, more or less numerous permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organized government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."

—J. W. Garner.

2. "Considered in relation to society as a whole, the state is an association of the people of the given society organized for political purpose."

—Joseph S. Roucek : *Social Control.*

विभिन्न व्यवसायों में लगी रहती हैं। राज्य में रहने वाले मनुष्यों की संख्या के बारे में अनेक मतभेद हैं। यह बहुत कुछ राज्य में उपलब्ध खाद्य सामग्री, उत्पादन के साधन तथा यातायात की सुविधाओं पर निर्भर होता है।

(२) **प्रदेश :** प्रदेश, राज्य की विशेषता का एक भौतिक स्वरूप है, इसका एक निश्चित भू-क्षेत्र होता है, जिसकी सीमाएँ और विस्तार पूर्व-निर्धारित होते हैं। किसी भी कथित प्रदेश का भू-भाग मानचित्रों में अंकित होता है जो अन्य प्रदेशों अथवा राष्ट्रों को मान्य होता है। वे मनुष्य जो किसी निर्धारित भू-भाग पर स्थायी रूप से नहीं रहते हैं तथा खानाबदोश कहलाते हैं, उन्हें प्रदेश अथवा राज्य नहीं कहा जा सकता है। एक निश्चित क्षेत्र का स्थायी जन-सामान्य जीवन ही प्रदेश कहलाता है। प्रायः सभी प्रदेश अपनी विशिष्ट जलवायु, उपज, पशु-पक्षी, बोल-चाल और रीति-रिवाज के लिए विख्यात होते हैं तथा अन्य प्रदेशों से भिन्न होते हैं। जनसंख्या की भाँति प्रदेश के क्षेत्रफल का कोई निर्धारित आयाम नहीं होता है।

(३) **शासन :** राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए शासन का होना अनिवार्य है। बिना शासन के राज्य की अवधारणा का कोई अस्तित्व नहीं है। शासन से राज्य की इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है तथा अपेक्षित नीतियों का संचालन होता है। एक राज्य में अनेक प्रकार के व्यवसाय, जातियों और धर्मों के व्यक्ति रहते हैं। इनके बीच अनेक प्रश्नों को लेकर संघर्ष होना स्वाभाविक है। शासन अपने नियंत्रतात्मक तत्वों के द्वारा समाज को संघर्ष से मुक्त रखता है। इस प्रकार शासन, राज्य की संचालन शक्ति का द्योतक कहा जा सकता है।

(४) **प्रभुसत्ता :** राज्य की एक और विशेषता यह है कि समाज के सभी व्यवहारों और अन्त:क्रियाओं पर राज्य का प्रभुत्व रहता है। यह प्रभुत्व किसी भी वाह्य नियंत्रण से मुक्त रहता है तथा राज्य के आन्तरिक जीवन पर बाध्यतामूलक प्रभाव डालता है। राज्य के सभी नियम प्रभुसत्ता द्वारा कानून बन जाते हैं जिनका पालन करना जनता का कर्त्तव्य हो जाता है; तथा तथा इनका उलंघन प्रभुसत्ता द्वारा दण्डनीय होता है। प्रभुसत्ता के बल पर ही राज्य की शासन प्रणाली संचालित की जाती है। इस प्रकार शासन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य में प्रभुसत्ता का होना नितान्त आवश्यक है।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर समाज का जो स्वरूप चित्रित होता है वह कालान्तर परिवर्तनीय है। जिस काल और स्थान पर राज्य की

जैसी समस्याएँ और आवश्यकताएँ होती हैं उन्हीं के अनुसार राज्य की प्रभुसत्ता और शासनप्रणाली निर्मित होती रहती है ।

सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता और राज्य की उत्पत्ति
(The Necessity of Social Control and Origin of State)

मानवीय जीवन के विस्तार, विविधताओं तथा विषमताओं ने राजनैतिक चेतना को जन्म दिया है जिसके फलस्वरूप राज्य की स्थापना का प्रादुर्भाव हुआ है । राज्य की उत्पत्ति का कोई निश्चित काल नहीं है । बहुत से जन समुदाय ऐसे हैं जिनमें राज्य की स्थापना हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है इसके विपरीत बहुत से ऐसे हैं जिनमें आज भी राज्य के कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देते हैं; ऐसे समुदाय उन जन-जातियों के होते हैं जो खानाबदोशी जीवन बसर करते हैं ।

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के विषय पर कोई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं फिर भी जहाँ राज्य की अवधारणा ने सर्वप्रथम जन्म लिया है, उस संदर्भ में विद्वानों के अनेक अनुमान हैं । इनमें से कुछ की चर्चा नीचे की गयी है :

(१) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त : (Theory of Divine Origin of State) : यह राज्य की अवधारणा का प्राचीनतम सिद्धान्त है । इसके प्रतिपादकों ने राज्य को एक दैवी अथवा ईश्वरीय व्यवस्था माना है । इनके अनुसार ईश्वर कुछ सांसारिक व्यक्तियों में अपनी दैवकीय शक्ति का संचार करके उन्हें राज्य की सत्ता का प्रतिनिधि तथा अधिकारी नियुक्त किया करते थे । इन प्रतिनिधियों की आज्ञा ईश्वर की आज्ञा समझी जाती थी और इसकी अवज्ञा ईश्वर के आदेशों का उलंघन माना जाता था । इसी प्रकार शासक द्वारा दिए गए पुरस्कार और दण्ड क्रमशः ईश्वर की कृपा और क्रोध के प्रतीक होते थे । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति तथा नैतिकता के उत्तरदायित्वों के निर्वाह का आधार धार्मिक कर्तव्य हुआ करता था ।

(२) शक्ति का सिद्धान्त (Theory of Force) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण शक्ति अथवा युद्ध द्वारा प्राप्त किया गया

भू-भाग है। प्राचीन काल में एक शक्ति-शाली व्यक्ति अथवा समुदाय दूसरे पर हमला करके उसे अपनी सत्ता के अधीन कर लेता था। अधीनस्थ हो जाने पर उस क्षेत्र की जनता को हमेशा विजयी व्यक्ति की आज्ञानुसार जीवन यापन करना पड़ता था। सामन्त युग में भी राज्य के प्रादुर्भाव का आधार शक्ति ही रहा है। केवल शक्ति के बल पर जनता को नियंत्रित एवं अनुशासित किया जाता था तथा उनकी शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है।

(३) **संविदा का सिद्धान्त** (Theory of Contract) संविदा के सिद्धान्तानुसार राज्य का जन्म मनुष्यों के पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप हुआ है। किसी राजनैतिक संगठन के प्रादुर्भाव के पूर्व मनुष्य अपना जीवन प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार व्यतीत करता था। मनुष्य के विकास ने अनेक प्रकार की आवश्यकताओं, समस्याओं और संघर्षों को जन्म दिया। परिणामतः उसे प्राकृतिक व्यवस्था का परित्याग करके मानव-निर्मित समाज और उसके नियमों की स्थापना करनी पड़ी, जो मुख्यतः आपसी समझौते पर आधारित थी। इस सिद्धांत के समर्थकों में हाब्स (Hobbes), लॉक (Locke) और रुसो (Rousseau) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने इस बात पर बल दिया है कि राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति न होकर जन-सामान्य की स्वतंत्र सहमति है।

(४) **विकासवादी सिद्धान्त** (Theory of Evolution) इस सिद्धान्त के प्रतिवादकों ने राज्य को क्रमिक विकास का परिणाम माना है। राज्य की स्थापना के पीछे किन्हीं सुनिश्चित परिकल्पनाओं अथवा योजनाओं की पृष्ठभूमि नहीं है। भाषा की भाँति राज्य का भी प्रादुर्भाव अपने किसी न किसी स्वरूप में अवश्य रहा है। अपने प्राचीनतम पारिवारिक स्वरूप से लेकर आज की आधुनिकतम कल्याणकारी राज्य की अवधारणा सदैव विकास के प्रक्रम में रही है। इस विकास में राज्य के चार तत्वों का निरन्तर योगदान रहा है। रक्तसम्बन्ध, धर्म, युद्ध और राजनैतिक चेतना। रक्तसम्बन्ध के आधार पर परिवार संगठित होता था। परिवार के सभी सदस्य एक बड़े पुरुष के शासनाधीन होते थे। इसी पारिवारिक शासन प्रणाली को लेकर, परिवार विस्तृत होकर वंशों, जातियों और उसके बाद राज्यों में परिणत होते गए। जातियों की विश्रृङ्खलता एवं संघर्ष की रोक-थाम धार्मिक सूत्रों से

हुई। दीर्घकाल तक धर्म और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। शासन की आज्ञाओं का पालन एक धार्मिक कर्तव्य समझा गया। इसके साथ-साथ युद्ध ने नेतृत्व को जन्म देकर जनता को प्रभुत्व के अधीनस्थ बनाया। युद्ध द्वारा विजित क्षेत्रों को राजाओं ने अपने प्रदेश में मिलाकर विभिन्न रक्त सम्बन्धियों और जातियों को संगठित किया। परिणामतः जातियों के बीच संघर्ष और सामाजिक दूरी को प्रभुसत्ता के बल पर कम किया गया और इन्हीं तत्वों में सम्मिलित राजनैतिक चेतना भी सामाजिक प्रगति के साथ विकसित होती रही है। जनसंख्या के विस्तार ने मनुष्य को मानसिक विकास, नैतिकता, सहयोग और सुरक्षा के महत्व का ज्ञान कराया। फलस्वरूप शांति और शासन की व्यवस्था करने के हेतु समाज में राजनैतिक चेतना का जागरण हुआ।

विकासवादी सिद्धान्त के उक्त चारों तत्व, राज्य की स्थापना एवं विकास में एक दूसरे के न्यूनतापूरक होकर सहायक रहे हैं। इस सिद्धान्त में पूर्व-चर्चित संविदा, शक्ति तथा दैवी सिद्धान्तों की भी छाप देखने को मिलती है।

सामाजिक नियंत्रण में राज्य के प्रकार्य
(Functions of State in Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण में राज्य के प्रकार्यों को अधोलिखित विन्दुओं में प्रकट किया जा सकता है :

(१) पारिवारिक नियंत्रण (Family Control) मनुष्य के पारिवारिक जीवन और उसके पारस्परिक अन्तःक्रियाओं के प्रमुख पक्ष, राज्य के द्वारा नियंत्रित होते हैं। मैकाइवर और पेज का मत है कि परिवार को राज्य जितना नियंत्रित करता है, उतना कोई और संस्था नहीं करती है। परिवार में विवाह जैसा आत्मीय सम्बन्ध भी वर अथवा कन्या की व्यक्तिगत स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होता है। किसी भी व्यक्ति को विवाह की आयु, शर्त, अवधि आदि निर्धारित करने की स्वतंत्रता नहीं है। इस सबकी व्यवस्था सामाजिक विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार राज्य की ओर से होती है। बहुपत्नी अथवा बहुपति विवाह की स्वतंत्रता पर राज्य के ही द्वारा प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। परिवार की आर्थिक दृढ़ता तथा पिता, पत्नी, पुत्र आदि के प्रति व्यक्ति के उत्तरदायित्वों को राज्य पारिभाषित करता है।

सम्पत्ति का हस्तांतरण अथवा उसपर परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिकार राज्यादेश की अवज्ञा करके नहीं हो सकता है। इस प्रकार राज्य परिवार का स्वरूप एवं विशेषताओं का निर्धारण करके उसे अपने नियंत्रण में रखता है।

(२) **आर्थिक व्यवस्थापन** (Economic Stabilization) राज्य के द्वारा प्रदेश की आर्थिक स्थिति का सन्तुलन तथा व्यवस्थापन किया जाता है। राज्य के अभाव में व्यक्ति अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के हेतु अनैतिक कार्य करके समाज में अनेक आर्थिक और सामाजिक अनियमताएँ उत्पन्न कर सकता है। राज्य, समाज पर वैधानिक अधिकार प्राप्त होने के कारण, सभी प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग द्वारा आर्थिक व्यवस्था को सन्तुलित रखता है। मनुष्यों के श्रम का पारश्रमिक, आय का वितरण तथा करों का निर्धारण, सामाजिक आवश्यकतानुसार राज्य के द्वारा होता है। इसी प्रकार सम्पत्ति, उद्योग, सेवा आदि के स्वामित्व से सम्बन्धित नियम भी राज्य निर्मित करता है। जब कभी भी समाज में पूंजीपतियों द्वारा आर्थिक शोषण बढ़ जाता है तो राज्य स्वयं उसमें हस्तक्षेप करके इस शोषण पर प्रतिबन्ध लगाता है। प्रतिस्पर्धा की सामाजिक समस्याओं का नियंत्रण तथा निजी एकाधिकार की रोक-थाम राज्य ही करता है। औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन की प्रकृति तथा उसका वितरण और उपभोग राज्यादेश के अनुसार होता है। इस प्रकार राज्य अपने क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था को अनेक प्रकार से सन्तुलित रखता है।

(३) **मौलिक अधिकारों का संरक्षण** (Maintenance of Fundamental Rights) वृहत् समाज में एक व्यक्ति या अल्प संख्यकों के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा हुआ करती है। सम्पन्न एवं सबल वर्ग के शोषण के विरोध में शेष जनमानस की सुरक्षा का भार राज्य के ऊपर होता है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के प्रतिमान निर्धारित करता है तथा उनकी पूर्ति का आश्वासन होता है। जिन समाजों में विभिन्न वर्ग, जाति, धर्म आदि के व्यक्ति रहते हैं उनमें प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों की मान्यताओं का आदर और संरक्षण राज्य की ओर से किया जाता हैं। जीवन का अधिकार सम्पत्ति का अधिकार और विचारों की अभिव्यक्ति का अधिकार प्रदेश के सभी नागरिकों के मौलिक अधिकार माने जाते हैं तथा इनकी पूर्ति का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। यही अधिकार

मनुष्य को पाशविक जीवन से ऊपर उठाकर सामाजिक प्रगति की ओर अग्रसर करते हैं। इन्हीं अधिकारों की प्रेरणा से मानवीय कर्त्तव्यों का निर्वाह होता है।

(४) **सार्वभौमिक संचालय** (Universal Operation) किसी भी विषमतम समाज में शान्ति और व्यवस्था के सार्वभौमिक नियमों का संचालन करना, एक ऐसा कार्य है जो एक मात्र राज्य के अभिकरण द्वारा सम्भव है। मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार सार्वत्रिक व्यवस्था का स्थापन तथा निर्वाह राज्य का सर्वोपरि कार्य है। राज्य के अधिनियम अपने समस्त भौगोलिक क्षेत्र में सभी नागरिकों पर बाध्य होते हैं तथा बाध्यता का अन्तिम अधिकार राज्य को प्राप्त होता है। राज्य, समाज के सदस्यों के लिए ऐसे अधिकार और दायित्व प्रदत्त करता है जिनके विरोध में कोई अपवाद संस्वीकृत नहीं होते हैं। सामाजिक समानता के अधिकार राज्य से ही प्राप्त होते हैं और इसी से सर्वमान्य नाप-तौल तथा मूल्यांकन के सार्वत्रिक प्रतिमान निर्धारित हुआ करते हैं। सामान्य शिक्षा की प्रणाली, एक समान न्याय की व्यवस्था, सत्ता-रूढ़ शक्ति का विस्तार तथा अधीनस्थ प्राधिकारों का सीमांकन, आदि सभी राज्य के द्वारा सार्वभौमिक स्तर पर पारिभाषित किए जाते हैं तथा इसी से इनका संचालन और नियंत्रण किया जाता है। इस प्रकार राज्य समाज की समस्त इकाइयों के अधिकारों और दायित्वों का न्यायोचित वितरण एवं सचेत प्रहरी है।

(५) **कल्याणकारी राज्य का प्रतिस्थापन** (Establishment of a Welfare State) राज्य का सर्वप्रमुख प्रकार्य एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। यह एक ऐसा प्रकार्य है जो राज्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य संस्था अथवा अभिकरण के माध्यम से नहीं हो सकता है। कल्याण-कारी राज्य में एक ऐसी व्यवस्था का समायोजन किया जाता है कि जिसमें आर्थिक संस्थाएँ इस प्रकार क्रियाशील रहती हैं कि जन-समुदाय में आय और सम्पत्ति का ऐसा वितरण हो कि प्रत्येक नागरिक को एक निर्धारित न्यूनतम जीवन स्तर बिना किसी भेद-भाव के उपलब्ध हो सके। लोक सेवाओं का प्रादुर्भाव; यातायात के साधनों का विकास; वृद्ध, निर्धन तथा अपाहिजों का पोषण; शिक्षा, चिकित्सा और मनोरंजन की व्यापक व्यवस्था; प्राकृतिक स्रोतों का सामाजिक सदुपयोग; श्रमजीवियों के आवास और पारश्रमिक का निर्धारण बेरोजगारी और जीवन बीमा आदि अनेक प्रकार्य कल्याणकारी राज्य की

प्रतिस्थापना के अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक नियंत्रण के संदर्भ में एक एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना से बढ़कर राज्य का इतना महत्वपूर्ण प्रकार्य और कोई दूसरा नहीं हो सकता है।

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का नियमन** (Regulation of International Order) राज्य का महत्व केवल देश की आन्तरिक संरचना तक ही सीमित नहीं होता है परन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों को भी नियंत्रित एवं संचालित करता है। शक्ति के प्रसरण और तकनीकी विकास ने राष्ट्रों की अन्योन्याश्रितता इतनी अधिक बढ़ा दी है कि कोई भी देश अब अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख पा रहा है। किसी भी एक देश में होने वाले वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तन पड़ोसी देश की संरचना को अनिवार्य रूप से प्रभावित करते हैं। ऐसी दशा में अल्प साधन सम्पन्न राष्ट्रों को समंजनकारी नीतियों का सम्बल लेना पड़ता है। यह समंजन राष्ट्रों के बीच नाना प्रकार के समझौतों के द्वारा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार, यातायात, संचार, व्यापार, सांस्कृतिक योगदान, सीमा क्षेत्रों की मान्यता, युद्ध शस्त्रों का उत्पादन, आर्थिक सहयोग तथा आपत्तिकालीन सहायता आदि के पारस्परिक समझौते राज्य के प्रमुख प्रकार्य हैं। इन समझौतों पर राज्य की शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा निर्भर रहती है। सामाजिक नियंत्रण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का नियमन राज्य के प्रकार्यों का प्रमुख एवं स्थायी अंग है।

Selected Readings

1. R. H. Lowie : The Origin of the State.
2. R. M. MacIver : The Modern Society.
3. H. E. Barnes : Sociology and Political Theory.
4. A. F. Bentley : The Process of Government.
5. T. W. Arnold : The Symbols of Government.
6. Roucek and Chason : Contemporary Social Science.
7. Joseph S. Roucek : Social Control.

8. Mannheim : Man and Society in an age of Reconstruction.
9. R. C. White : Administration of Public Welfare.
10. H. Laski : The State in Theory and Practice.
11. R. M. MacIver and C. H. Page : Society.

Questions

१. राज्य पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
Write a short essay on state.

२. सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की भूमिका बताइये।
Discuss the role of state in social control.

३. सामाजिक नियन्त्रण में राज्य के प्रकार्यों का वर्णन कीजिये।
Describe the functions of state in social control.

४. राज्य क्या है ? यह किस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण में सहायक है ?
What is state ? How is it helpful in social control ?

अध्याय १८

कला
(ART)

सत्य कला का परतन्त्र है (Truth is subordinate to art)। मानवीय एवं प्राकृतिक जीवन के सत्योद्घाटन कला के माध्यम से होते हैं। जहाँ तक कला खोज, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का साधन है, विज्ञान भी अपनी समस्त शाखाओं के साथ कला के अन्तर्गत आता है। कला समाज के स्वरूप को निर्मित करने, उसको नियंत्रित एवं संचालित करने का एक महत्वपूर्ण स्वेच्छामूलक साधन, उपकरण और संस्था है। कलाकार अपने काल का युगद्रष्टा और भविष्यवक्ता होता है तथा अपनी कृतियों के माध्यम से आदर्श और मूल्यों का सम्प्रेषण करता है एवं समस्त मानवता को एकता के सूत्र में बाँधता है। स्वर्गीय डाक्टर राधाकमल मुकर्जी का मत है कि कला उन सामाजिक प्रतीकों, बिम्बों तथा परम्परागत विश्वासों को जन्म देती है जो मानव-जीवन को ऊँचा उठाकर समाज का इस प्रकार निर्देशन करते हैं जिससे सत्यं, शिवम् तथा सुन्दरम् मनुष्य के भय, त्रास और भ्रम का हरण कर लेते हैं।

डा० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव के विचार में धर्म की अन्तर्वस्तु और अर्थबोध को कला में आकार प्रदान किया जाता है। जिस तरह मूर्ति-पूजा में अर्थ-बोध निहित होता है उसी प्रकार कला के आकारों में धर्म का मर्म निहित होता है। अतएव कला का उद्देश्य आत्मशक्ति और जन कल्याण है। जहाँ

तक कलाकार का प्रश्न है, उसके लिए कला एक पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व है जिसकी सेवा करना जीवन का मूल्य है। जैसे माली पौधा सींचता है उसी तरह कलाकार कला की सेवा करता है, जो उसका अन्तःकरण बन जाती है।

श्रीमती लेंजर के मतानुसार मानस की अनुभूतियों को भौतिक जगत की वस्तुओं पर प्रक्षेपित करने के फलस्वरूप जो बिम्ब निर्मित होते हैं उनको प्रतीकों की संज्ञा प्रदान की जाती है। कला भी एक प्रकार का प्रतीक है जिसका प्रस्फुटन महत्वपूर्ण आकारों में होता है। कला का समाजशास्त्र कला का त्रिपक्षीय वैषियक अध्ययन किया करता है : पहला, कला के द्वारा प्रेषित आदर्शों एवं मूल्यों का अध्ययन-विश्लेषण; दूसरा, कला के द्वारा प्रस्तुत आदर्शों का कलाकृतियों के माध्यम से अभिव्यक्तिकरण; और तीसरा, उन विचारों एवं अनुभूतियों का स्वरूपीकरण जिनको शब्दों आदि के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। हरबर्ट रीड का कथन है कि यद्यपि कलाकार समाज को तथा उसके विश्वासों, आदर्शों और मूल्यों को लेकर चलता है परन्तु अपनी रचनात्मकता एवं मौलिकता के कारण किसी मर्यादा अथवा सीमा से प्रतिबद्ध नहीं रहता है। वह अपने व्यक्तिगत गुणों के अनुसार अपनी निजी कल्पना के आधार पर कला का सृजन करता है। सामाजिक असमंजन की अवस्था में कलाकार सामाजिक आदर्शों में संशोधन-परिवर्तन कर सकता है तथा विद्रोही और क्रान्तिकारी विचारधाराओं का भी संचार कर सकता है।

कला सामाजिक घटना की एक उपज है। कलाकार अपने परिवेश और क्षेत्र की उपज होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कला और कलाकार दोनों ही गहनरूप से सामाजिक होते हैं। श्रेष्ठतम स्तर पर पहुंचने के लिए मानव के संघर्ष, उसकी मूल चेतना तथा किसी विशेष युग के सांस्कृतिक पक्ष का प्रतिबिम्ब, कला में पाया जाता है। कला के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन होता है तथा समाज की भावी दिशा का निर्देशन किया जाता है। मनुष्य की गहन अनुभूतियों, भावनाओं, मूल प्रवृत्तियों तथा प्रत्याशाओं का प्रदर्शन कला और साहित्य की कृतियों के द्वारा किया जाता है। यह मानव की भौतिकता तथा आध्यात्मिकता दोनों को समन्वित करती है। मनुष्य का आन्तरिक जगत भौतिक

जगत से प्रभावित होता है। समाजशास्त्र की यही संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति कला के समाजशास्त्र में मुखरित होती है।

कला मानवीय संवेगों को प्रवाहित एवं सुव्यवस्थित करती है। इसका सम्बन्ध सीधे स्नायुतंत्रों से होता है। कला से संवेग की उत्तेजनात्मक, उत्पीड़न तथा व्यग्रता समाप्त हो जाती है और शान्ति प्राप्त होकर मनुष्य को ऊँचे मूल्यों के प्रति लगाव उत्पन्न हो जाता है। वे लोग जो अनेक मानसिक कुण्ठाओं से व्यथित रहते हैं, जो सामाजिक परिवर्तनों को ग्राह्य नहीं कर पाते हैं, तथा अपने आप को टूटा हुआ अनुभव करते हैं उन्हें कला और साहित्य की सशक्त कृतियों के द्वारा मनोबल प्राप्त होता है। उखड़ते हुए व्यक्ति अथवा समाज को पुनः स्थापित करने में कला का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत पुरानी अवांछित रूढ़ियों और परम्पराओं से चिपके हुए व्यक्तियों को मुक्ति दिलाने में भी कला का सराहनीय योगदान है। कला अपनी क्रान्तिकारी रचनाओं से व्यक्तियों को अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए आत्मबल प्रदान करती है।

इस प्रकार कला परिवर्तन, नियंत्रण, आन्दोलन, राजनीति, वैचारिकी तथा धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों को गंभीर रूप से प्रभावित करती है।

परिभाषायें (Definitions)

जीवन और प्रकृति का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जिसमें कला का प्रादुर्भाव न हो। संसार के जड़ और चेतन पदार्थ तथा मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष सभी कला के विभिन्न रंगों में रगे हुए दिखाई पड़ते हैं। इतना ही नहीं वरन समस्त मानवीय व्यवहार प्रक्रियाएँ और चिन्तन कला से नियंत्रित होते हैं। ऐसी दशा में कला का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है जिसमें चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला, मूर्तिकला, साहित्य, प्रकृति और यहाँ तक कि जिन्दगी जीने की कला भी सम्मिलित है। इस प्रकार कला की परिभाषा करने का अर्थ, पूर्ण ब्रह्माण्ड को पारिभाषित कर डालना है। यह एक दूभर कार्य है। फिर भी अगली पंक्तियों में कला को पारिभाषित करने हेतु कुछ विद्वानों के प्रयास उल्लखित हैं।

डंकन के विचार में, "कला को अनुभूति की एक श्रेणी समझना चाहिए। कलाकार उन प्रतीकों का निर्माण एवं निर्वाह करते हैं जो

हमारे सम्प्रेषण के काम आते हैं; अतः कला का अध्ययन, समाज का अध्ययन होता है, और जब तक हम सम्प्रेषणता का कोई विज्ञान विकसित नहीं कर लेते तब तक कोई भी समाज विज्ञान पूर्णतः सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति तक नहीं पहुँच सकता है।"[1]

टालस्टाय का अभिप्राय है कि "किसी व्यक्ति में उन अनुभूतियों को जागृत करने के लिए जो कलाकार ने महसूस की है, गति, रेखाओं, रंगों स्वरों आकारों अथवा शब्दों के द्वारा इस प्रकार व्यक्त की जाय कि वहीं अनुभूति दूसरों तक सम्प्रेषित हो सके—यही कला का कार्य है।

"कला एक मानवीय प्रक्रिया है जिसे कोई सचेतन व्यक्ति कुछ विशेष वाह्य संकेतों (आकारों) द्वारा, दूसरों को वे अनुभूतियाँ प्रेषित करता है जिन्हे उसने स्वयं महसूस किया है, ताकि दूसरे भी उन्हें उसी प्रकार महसूस करें और अनुभव करें।"[2]

रीड का कथन है कि "कलाकार को समुदाय पर निर्भर रहना पड़ता हैं, वह उस समाज से भावना, उग्रता और गति ग्रहण करता है जिसका

1. "Art must be recognized as a category of experience. Artists create and maintain the symbols by which we communicate; hence the study of art becomes the study of society, and no science of society will reach fully rounded theoretical expression until we develop a science of communication."

—H. D. Duncan : *Language and Literature in Society.*

2. "To evoke in oneself a feeling one has experienced, and having evoked it in oneself, then by means of movement, lines, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that others experience the same feeling—this is the activity of art.

"Art is a human activity consisting in this, that one man consciously, by means of certain external signs, hands on to others feelings he has lived through and that others are infected by these feelings and also experience them."

—L. N. Tolstoy : *What is Art ?*

कि वह स्वयं सदस्य होता है। परन्तु कलाकार की व्यक्तिगत विशेषता कुछ और तथ्यों पर निर्भर करती है—वह है निर्माण की कामना. जो कलाकार के व्यक्तित्व पर प्रतिबिम्बित होती है; और कलाकार की इस रचनात्मक निर्माण की कामना के अभाव में कोई भी कला अभिप्रायपूर्ण नहीं हो सकती है।"[3]

स्वर्गीय डाक्टर राधाकमल मुखर्जी के मतानुसार, 'कला के समाजशास्त्र का सम्बन्ध कला की उत्पत्ति की सामाजिक परिस्थितियों एवं कलाकारी के उद्यम से है; उस प्रदेश के आर्थिक, सामाजिक कारकों एवं प्रभावों की पृष्ठभूमि से है जो कला का स्वरुप निर्धारित करते हैं; बहुत कुछ प्रेरणाओं और पटमूमि की परिस्थितियों से भी है; तथा किसी संस्कृति की समस्त तीक्ष्णता, नैराश्य तथा इच्छापूर्ति के प्रयोजनों से भी है।"[4]

बील्स तथा ह्वाइजर कहते हैं, "कला को एक ऐसी क्रिया के रूप में पारिभाषित किया गया है जो, व्यवहारिक तथा उपयोगी मूल्यों के अतिरिक्त, कलाकार को तथा उन लोगों को भी सन्तोष प्रदान करती है जो दर्शक, श्रोता अथवा सहभोगी के रूप में सम्मिलित होते हैं। यह वह

3. "The artist depends on the community—takes his tone, his tempo, his intensity from the society of which he is a member. But the individual character of the artist depends on more than these : it depends on a definite will-to-form which is a reflection of the artists personality and there is no significant art without this act of creative will—his will to form."

—Herbert Read : *The Meaning of Art.*

4. "It (Sociology of art) confines itself to the social conditions of origin and operation of art work, to the background of region, economic and social factors and forces that determine the form of art and largly conditions, its motifs and themes and also to its meaning in a given culture with all its aspirations, frustrations and fulfilment."

—Dr. R. K. Mukherjee.

सौन्दर्य तत्व है जो कला को संस्कृति के शेष पहलुओं से विशिष्ट रखती है।"[5]

हॉबल का कथन है कि "कला से हमारा तात्पर्य उन रेखाओं, आकारों रंगों, गति, शब्द, रेखांकन, चित्रण, मूर्तिकला, नृत्य, ध्वनि, काव्य और साहित्य से है जिनके द्वारा सार्वजनिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की जाती है। परन्तु इनमें अनभूति का तत्व चिन्तन से भी अधिक प्रधान होता है।"[6]

कला एक सामाजिक संस्था के रूप में
(Art as a Social Institution)

सामाजिक नियंत्रण का अभिकरण होने के साथ-साथ कला अपनी प्रक्रियाओं को संस्थात्मक रूप से भी संचालित करती है। प्रायः सभी कलाओं का सृजन उद्देश्यपूर्ण होता है। कलाकार समाज का प्रतिनिधि होने के नाते ऐसी अनुभूतियों का सम्प्रेषण करता है जिनका सम्बन्ध जन-मानस की आवश्यकताओं अथवा समस्याओं से होता है। इन समस्याओं का निरूपण, कलाकार प्रतीकों के माध्यम से करता है। प्रतीकों द्वारा निर्मित कला के कृतित्व समालोचकों द्वारा जनता तक संचारित किये जाते हैं। इस प्रकार कला के सम्प्रेषण में तीन महत्वपूर्ण विन्दुओं का योगदान होता है—कलाकार आलोचक और जनता। इन तीनों से निर्मित त्रिकोण एक सामाजिक संस्था

5. "Art is defined as an activity which over and above its practical or utilitarian values also brings satisfaction both to the artist and to those who participate in his work as beholders, audience or collaborators. It is this aesthetic component that distingueshes art from other aspects of culture."

—बील्स तथा ह्वाइजर

6. "By art we mean the overt expression of impulses in line, form, colour, rhythem and words as drawing, painting, sculpture, dance, tone, poetry and literature. The impulses are emotive and rational but feeling tone predominates over thought."

—Hoebel.

के रूप में गठित होकर, कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इस त्रिकोण के तीनों विन्दु, अर्थात कलाकार, आलोचक और जनता, कला की अभिव्यक्तियों का ग्रहण और सम्प्रेषण दो प्रकार से करते हैं—एक तो पारस्परिक समन्वय से और दूसरे मुक्त रूप से। डंकन ने कला की इस त्रिकोणीय संस्था के सम्बन्धों के पाँच स्वरूपों की व्याख्या की है :

(१) **जनता-कलाकार का समन्बयात्मक स्वरूप**—कला की संस्था के इस स्वरूप में कलाकार और जनता का सीधा सम्पर्क होता है। कलाकार जो कुछ भी सृजन करता है वह प्रत्यक्ष रूप से जनता के निमित्त होता है तथा जनता उसे सीधे कलाकार से ग्रहण करती है। आलोचकों का इसमें कोई महत्व नहीं होता है। इस प्रकार की कला का सम्प्रेषण अपेक्षा कृत छोटे समुदायों में होता है।

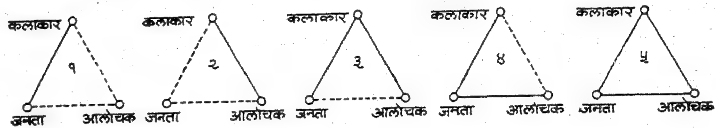
(२) **कलाकार-आलोचक का समन्वयात्मक स्वरूप**—इस प्र ार के समन्वय के अन्तर्गत कलाकार और आलोचक दोनों, जनता की अभिरूचियों की उपेक्षा करते हैं। इसमें जो भी कला का सृजन होता है वह कुछ विशिष्ट आलोचनात्मक दृष्टिकोणों के सन्तोषण के लिए किया जाता है। इ वर्ग-कला कहते हैं जिसका अभिप्राय यह होता है कि इस कला का जनमानस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) **जनता-कलाकार-आलोचक का समन्वयात्मक स्वरूप**—यह वह समन्वयकारी स्वरूप है जिसमें कलाकार की अभिव्यक्ति में जनता और आलोचक दोनों की अभिरूचियों का सामंजस्य होता है। कलाकार की कलाकृतियां आलोचकों की वैचारिकी से ताल-मेल खाने के साथ-साथ जन-मानस के संवेगों को शान्ति देती हैं तथा मनोरंजन करती हैं। इसमें जनता और आलोचक का कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

(४) **कलाकार-जनता-आलोचक का समन्वयात्मक स्वरूप**—यह वह स्वरूप है जिसमें कलाकार आलोचक के प्रति उदासीन होकर अपनी कला का प्रदर्शन सीधे जनता के लिए करता है; परन्तु आलोचक अपना सम्पर्क जनता से स्थापित किये रहता है। आलोचक जनता को प्रचलित कला और साहित्य की आलोचनात्मक समीक्षा प्रसारित करता है जिसे जनता अपनी आवश्यकता-नुसार ग्रहण भी कर लिया करती है। भारतीय चलचित्र कला का कुछ ऐसा ही स्वरूप है जिसमें कलाकार और आलोचक का कोई समन्वय नहीं होता है।

(५) जनता-कलाकार-आलोचक का सम्पूर्ण समन्वयात्मक स्वरूप—इसे सम्पूर्ण समन्वयात्मक स्वरूप इस लिए कहा जा रहा है, क्योंकि इसमें तीनों विन्दु पूर्ण रूप से आपस में समंजित होते हैं। कलाकार की कृति आलोचकों की कसौटी पर खरी उतरती हुई जनमानस का सन्तोषण करती है। कला का यह स्वरूप आदर्श माना जाता है। इसमें युगान्तरकारी अथवा शास्त्रीय कला और साहित्य का सृजन होता है।

नीचे दिए गए रेखांकनों में डंकन के त्रिकोणीय अन्तःसम्बन्धों के संस्थात्मक स्वरूप चित्रित हैं :



सामाजिक संस्था के रूप में कला का डंकन द्वारा प्रस्तुत किया गया उपरोक्त स्वरूप शुद्ध समाजशास्त्रीय विश्लेषण है। इसके अध्ययन से कला के द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण के महत्व पर प्रकाश पड़ता है।

कला के प्रति कुछ सैद्धान्तिक दृष्टिकोण
(Some Theoretical Approaches to Art)

कला का सामाजिक जीवन से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसकी विषय वस्तु अनेक सामाजिक एवं दार्शनिक चिन्तकों का प्रमुख विषय बनी रही है। कला सामुदायिक जीवन को ऐसे सूत्रों में बाँधती है जिनका आधार भावनात्मक एवं उद्देश्यात्मक होता है। समाजवेत्ताओं ने कला को विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित करके इस बात की पुष्टि की है कि कला समाज के लिए एक अनिवार्यता है। इस विषय पर नीचे कुछ विद्वानों के मत प्रस्तुत हैं :

(१) कला का फ्रायडवादी उपागम (Freudian Approach to Art) कला के प्रति फ्रायड का सिद्धान्त मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है। फ्रायड के अनुसार कलाकार अपने अचेतन मन की कामुक प्रवृतियों को कला के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक मनुष्य आन्तरिक रूप

से पूर्णतः अनैतिक और स्वार्थी होता है परन्तु सामाजिक दबावों के कारण वह इन सबका मुक्त प्रदर्शन नहीं कर पाता है। इसलिए सामाजिक स्तर पर वह नैतिक बना रहता है। मनुष्य की अचेतन काम प्रवृत्तियों और सामाजिक मान्यताओं से बँधे कर्त्तव्यों के बीच अन्तर्द्वन्द चलता रहता है; कला इसी अन्तर्द्वन्द का परिणाम होती है। कला के सृजन से व्यक्ति की सुप्त कामनाओं का सन्तोषण होता है तथा संवेगों को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार कला का फ्रायडवादी सिद्धान्त मनुष्य की अतृप्त इच्छाओं और कुण्ठाओं का प्रदर्शन मात्र है।

(२) **कला का अस्तित्ववादी उपागम** (Existential Approach to Art) कला की अस्तित्ववादी अवधारणाएँ गत महायुद्धों और औद्योगिक क्रान्तियों का परिणाम हैं। अस्तित्ववाद कला की एक विरागात्मक प्रवृत्ति है जिसे शून्यवाद भी कहा जा सकता है। इसके समर्थक संसार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसे एक आकस्मिक घटना मानते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अकेला, कुण्ठित, दुखी और अजनबी है। इससे त्राण पाने का एक मात्र मार्ग आत्महत्या है परन्तु जीवन के प्रति मोह की प्रबलता होने के कारण वह आत्महत्या भी नहीं कर पाता है। जीवन शून्य है; हम अपने से प्रेम करते हैं इसलिए मर नहीं सकते। इस महानैराश्य को प्राप्त अस्तित्ववादी कलाकार संसार को बदलने के इच्छुक नहीं होते हैं क्योंकि उनके दृष्टिकोण से यह संसार रहने ही योग्य नहीं है। ऐसे व्यक्ति तटस्थ होते हैं तथा पूँजीवाद के कटु आलोचक होते हैं।

(३) **कला का मार्क्सवादी उपागम** (Marxist Approach to Art) कला का यह सिद्धान्त पूँजीवाद के विरोध में साम्यवाद पर आधारित है। स्वर्गीय डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने इस सिद्धान्त की समाजशास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की है। कला का समाजशास्त्रीय पक्ष, बुद्धि व समाज में तादाम्य स्थापित करना बताता है। व्यक्ति सामूहिक जीवन से अलग रह कर अपने को अपूर्ण अनुभव करता है। कला के माध्यम से वह अपने जीवन को सम्पूर्ण सामाजिकता के साथ भोगता है। कला समाज के बन्धनों को तोड़ कर तथा वर्गीय द्वन्दों का विनाश करके, सामाजिक एकता उत्पन्न करती है। कला का यह द्वन्द्व यथार्थ तथा आदर्श के बीच होता है। आदर्शों के अनुसार यथार्थ को वैषियक रूप से परिवर्तित करना ही कला का ध्येय है। मार्क्सवादी मत के अनुसार सत्तारुढ़ वर्ग कला का प्रयोग अपनी सत्ता को कायम रखने

के लिए करता है तथा विरोधी वर्ग कला का प्रयोग इस सत्ता का विनाश करने और सामाजिक-राजनैतिक संगठन की स्थापना करने के हेतु करता है।

सामाजिक नियन्त्रण में कला का महत्व
(Importance of Art in Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में कला साधन और संस्था के रूप में विभिन्न प्रकार से अपना योगदान प्रदान करती है। इसका महत्व, इसके प्रकार्य तथा इसके उपकरण अनेकानेक हैं। इस सन्दर्भ में कला के कुछ ही उल्लेखनीय विन्दुओं पर प्रकाश डाला जा सकता है :

(१) आदर्शमूलक प्रतिमानों एवं अभिवृत्तियों का प्रतिस्थापन (Establishment of Normative Patterns and Attitudes) : कला, साहित्य अथवा संगीत के माध्यम से समाज को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराया जाता है। कला समाज में अपनी कृतियों के द्वारा ऐसे आदर्शों और अभिवृत्तियों को स्थापित करती है जो समाज के कल्याण के लिए अनिवार्य हैं। कलाकार समाज में प्रचलित शोषण, अनैतिकता, स्वार्थ-परायणता आदि का कट्टर विरोधी होता है तथा अपनी कृतियों में इनका घृणात्मक चित्रण करके इनका वहिष्कार करता है। प्रत्येक समाज अथवा धर्म में कुछ ऐसी युगान्तरकारी साहित्यिक रचनाएँ और कलात्मक कृतियाँ देखने को मिलती हैं जिनमें कुकृत्य और सुकृत्य की विस्तृत विवेचना करके, आदर्शमूलक प्रतिमानों और अभिवृत्तियों की प्रतिस्थापना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित्र मानस आदर्शमूलक प्रतिमान के स्थापन का एक उदाहरण है।

(२) मानस-प्रतिमानों का निर्माण (Creation of Archetypes): व्यक्ति और समाज के बीच तादाम्य स्थापित करना कला का महत्वपूर्ण कार्य है। व्यक्ति अपने जीवनयापन के लिए सभी प्रकार से समाज पर आश्रित रहता है। वस्तुतः व्यक्ति के सुख के लिए ही समाजों का निर्माण तथा विस्तार होता है। इन्हीं समाजों से उसे कला के सृजन की प्रेरणा मिलती है जिसके द्वारा सामाजिक नैतिकता के व्यापक प्रतिमान स्थापित किए जाते हैं। महात्मा बुद्ध, गांधी, शिवाजी, विवेकानन्द आदि के जीवन से सम्बन्धित चित्र, मूर्तियाँ, कीर्ति-स्तम्भ, स्तूप, समाधियां आदि इन मानस-

प्रतिमानों के उदाहरण हैं। इन मानस-प्रतिमानों के द्वारा समाज को आत्म-ज्ञान तथा आत्मदर्शन प्राप्त होता है। इस प्रकार की कला से सत्य, अस्तित्व, मौलिक एकता तथा नैतिकता के अनवरत अनुसंधान होते हैं तथा इनसे चारित्रिक विलक्षणता, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, पारलौकिकता तथा ब्रह्माण्डीय नियमों का व्यापक प्रसरण होता है। इन प्रतिमानों से नई पीढ़ियों का सामाजीकरण होता है, इन्हीं के द्वारा सृष्टि का अर्थ तथा सांसारिक जीवन का लक्ष्य निर्धारित होता है, इन्हीं से सामाजिक-धार्मिक नियमों का परि-चालन होता है तथा इन्हीं के सम्बल से मनुष्य भय, तनाव तथा सांसारिक नश्वरता से मुक्ति पाता है।

(३) वैचारिकी का निर्माण (Formation of Ideology) : जिस प्रकार से समाज में एक सामूहिक चेतना होती है उसी प्रकार से सामूहिक चिन्तन भी हुआ करता है। एक विशेष प्रदेश अथवा समुदाय के व्यक्तियों की सामाजिक जीवन के व्यवहारों और उसकी प्रक्रियाओं के प्रति कुछ सामान्य विचारधाराएँ होती हैं। वे लोग इन्हीं विचारधाराओं के अनुसार अपना जीवनयापन करते हैं। व्यक्ति अथवा समाज की विचारधाराओं का प्रवाह कला-साहित्य-संगीत के स्रोतों से स्फुटित होता है। इनके द्वारा संचारित अवधारणाएं और मान्यताएं सामाजिक वैचारिकी का आधार हुआ करती हैं। कला जैसे मूल्यों और आदर्शों का संचार करती हैं उसी के अनुरूप समाज के सदस्य अपना मनन-गुनन करते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी समाज की कलाकृतियाँ उसकी वैचारिकी का प्रतीक होती हैं। नियंत्रण के सन्दर्भ में कला को वैचारिकी के निर्माण और निर्मित वैचारिकी को परिवर्तित करने की सामर्थ्य होती है।

(४) सामाजिक मूल्यों और प्रवृत्तियों का प्रसरण (Propagation of Values and Attitudes) समाज में अपेक्षित नियंत्रतात्मक तत्वों का प्रसार करना, सामाजिक नियंत्रण की प्रमुख समस्या है। इस समस्या का निदान कला की सम्प्रेषण शक्ति में मिलता है। कलाकार समाज के लिए उपयुक्त मूल्यों को प्रतीकात्मक स्वरूप देकर जन-मानस पर प्रक्षेपित करता है। कला में सार्वभौमिक अपील होने के कारण जनता उसे ग्राह्य करती है तथा सशक्त होने पर अपने व्यवहार एवं प्रवृति उसके अनुरूप ढालती है। अतएव कला से सामाजिक मूल्यों और अभिवृत्तियों का वृहत् प्रसार होता

है तथा बिना किसी बाध्यतामूलक उपकरण के सामाजिक नियंत्रण के वांछित उद्देश्यों की पूर्त्ति भावना प्रधान अपील के द्वारा कर ली जाती है। प्रसार कला का उल्लेखनीय गुण है।

(५) सांस्कृतिक विरासत का संचय (Preservation of Cultural Heritage) संस्कृति अपने समाज का दर्पण होती है। इसमें प्रतिबिम्बित अतीत की छवियों का संचय कला के द्वारा किया जाता है। कला-साहित्य-संगीत की विभिन्न शैलियाँ एक विशिष्ठ काल और स्थान की परिचायक होती हैं। कलाकार अपनी कृतियों में संस्कृति और उसकी परम्पराओं को चित्रित करके अगली पीढ़ी के लिए धरोहर के रूप में सौंपकर चला जाता है। अगली पीढ़ी विभिन्न संस्थाओं में इन कृतियों का संचय करके उनसे अपना शिक्षण-प्रशिक्षण करती है। इन कृतियों में जीवन के प्रतिमानित मूल्य एवं आदर्श निहित रहते हैं जो सामाजिक नियंत्रण में बड़े सहायक होते हैं। धर्म से नियंत्रित सामाजिक आदर्श, कृष्ण लीलाओं आदि के माध्यम से समाज के रंग-मंच पर अभिनीत होकर जनता को एक सूत्र में बाधते हैं। इसी प्रकार शास्त्रीय अथवा लोक गायन-नृत्य शैलियाँ, पौराणिक गाथाएँ, आदि संस्कृति की विरासत बनकर समाज का संरक्षण और नियंत्रण करती हैं।

Selected Readings

1. Lev Nikolaevich Tolstoy : What is art ?
2. Piritim A. Sorokin : Society, Culture and Personality.
3. Herbert Read :
   (a) The Meaning of art.
   (b) The Philosophy of modern Art.
   (c) Art and Society.
4. Alschuler and Hattwick : Painting and Personality.
5. Le Roy H. Appleton : Indian Art in America.
6. Arnold Hause : The Social History of Art.
7. A. S. Tomars : Introduction to the Sociology of Art.
8. Robert Rich Man : The Art in Medieval Century.
9. Faber Birren : The Story of Colour.

10. H. D. Duncan : Language and Literature in Society.
11. Mrs. Langer : Philosophy in a New Key.
12. Dr. R. K. Mukherjee : Social Functions of Art.
13. डा० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव : परम्परा और आधुनिकता के संदर्भ में वाराणसी के कलाकार : सामाजिकी (१९६६)

Questions

१. कला की परिभाषा कीजिए एवं उसकी सामाजिक विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
Define Art and discuss its social characteristics.

२. 'कला एक सामाजिक संस्था है' समालोचना कीजिये।
'Art is a social institution.' Comment.

३. सामाजिक नियंत्रण में कला की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
Explain the role of art in social control.

४. सामाजिक नियंत्रण में कला के प्रकार्यों की विवेचना कीजिए।
Discuss the functions of art in social control.

५. कला के सामाजिक प्रकार्यों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
Write a short essay on social functions of art.

अध्याय १६

प्रचार
(PROPAGANDA)

वर्तमान युग प्रचार का युग है। प्रचार सामाजिक नियन्त्रण का एक ऐसा प्रभावशाली कारक एवं महत्वपूर्ण अभिकरण है जिसका वर्तमान समय के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग एक बलशाली अस्त्र के रूप में किया जाता है। अमुक्त समाज (closed society) में इसका महत्व और भी अधिक है, क्यों कि सदस्यों के बीच इतनी दूरी होती है कि वे आपस में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रख सकते। अतः ऐसे समाजों में सदस्यों तक पहुंचने वाले समाचारों का ही महत्व होता है। यह एक ऐसा प्रभावशाली कारक है जिसके माध्यम से लोगों के विश्वास, अभिरुचि एवं मनोवृत्ति को एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसित होने के लिए प्रेरित किया जाता है। यह एक अहिंसात्मक ढंग है और इसके द्वारा जनरुचि को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर मोड़ा जाता है।

प्रचार अंग्रेजी के 'Propaganda' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'Propaganda' शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के 'प्रोपेगेयर' (Propagare) शब्द से हुई है। 'प्रोपेगेयर' शब्द का अभिप्राय: शाखाओं को जन्मने के लिए लगाने से है, ताकि नवीन विचारों का विकास एवं प्रचार हो सके। नवीन विचारों का प्रचार स्वाभाविक न होकर कृत्रिम होता है। लम्ले के

मतानुसार, "प्रचार स्वयं जन्म नहीं लेता, वरन यह एक वाध्य की गयी उत्पत्ति है।"[1]

प्रचार का सर्वप्रथम प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में हुआ। सन् १६३३ में रोम के 'पोप अरबन अण्ठम' ने रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार करने के लिये पादरियों की एक समिति गठित की, जिसका नाम 'Congregatio de Propaganda fide' रक्खा गया। इस समिति का मुख्य कार्य रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। वर्तमान समय में प्रचार शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के विचारों के प्रसार को दर्शाने के लिये किया जाता है।

युद्ध काल में प्रचार का महत्व अधिक हो जाता है। प्रथम व द्वितीय महायुद्धों में इसका विशेष प्रयोग किया गया और उसी समय से यह शब्द बदनाम हो गया और लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। प्रचार का अभिप्राय झूठ बोलने से लगाया जाने लगा। गेरोल्ड ने उचित ही कहा है, "प्रचार एक अच्छा शब्द है, जिसका अर्थ गलत लगाया जाता है।"[2] महायुद्ध के समय एवं बाद में जर्मनी, इटली और जापान आदि देशों ने स्वयं को संसार के समक्ष शक्तिशाली दर्शाने के लिये अपने यहाँ प्रचार मंत्रालय खोले। कुछ समय के पश्चात अमेरिका तथा ब्रिटेन आदि देशों ने भी ऐसे मन्त्रालयों की अपने यहाँ स्थापना की। इन मन्त्रालयों का मुख्य कार्य झूठ का प्रसारण करना एवं स्वयं को दूसरों को शक्तिशाली होने का विश्वास दिलाना था। इन मन्त्रालयों ने झूठ का प्रसार इतनी तेजी से किया कि लोग प्रचार को झूठ का पर्यायवाची शब्द समझने लगे। इस प्रकार प्रचार शब्द काफी अप्रतिष्ठित हो गया। किम्बाल यंग ने लिखा है. बहुत से लोग इसे (प्रचार) एक बुराई और झूठा सिद्धान्त समझने लगे।"[3]

---

1. "Propaganda is not breeding that would take place of itself, it is forced generation."

   —Lumley : *The Propagande Menace.*

2. "Propaganda is a good word gone wrong."

   —Girold.

3. Many people have come to regard the term as one of evil and sinister connotation."

   —K. Young : *A Handbook of Social Psychology.*

परिभाषायें (Definitions)

प्रचार का उपयोग किसी लक्ष्य विशेष की सफलता प्राप्त करने के लिये किया जाता है। अतः किसी भी प्रकार का प्रचार क्यों नहीं हो, उसके पीछे मूल एवं सहायक उद्देश्यों का होना आवश्यक है। प्रायः राजनैतिक दल जनमत को अपने पक्ष में करने के लिये प्रचार के विभिन्न तरीके प्रयोग करते हैं। प्रचार के माध्यम से समूह व्यवहार भी नियन्त्रित किया जाता है। प्रचारक अपनी प्रचार योजना के अन्तर्गत केवल उन्हीं तथ्यों को लोगों के सामने रखता है, जो कि उसके लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हों। विरोधी तथ्यों को नहीं बताया जाता है। बोगार्डस के मतानुसार, **"प्रचार गलत सूचना का आधार है।"** प्रचार के परिणाम अच्छे व बुरे दोनों ही हो सकते हैं। किम्बाल यंग ने प्रचार का अर्थ समझाते हुए लिखा है, **"प्रचार में प्रतीकों का जानबूझ कर प्रयोग इस उद्देश्य से किया जाता है कि लोगों के विश्वासों, विचारों एवं अन्त में उनके कार्यों में परिवर्तन पाया जा सके।"**[1]

एक दूसरे स्थान पर यंग कहता है, **"लोगों की मनोवृत्ति एवं उनके कार्यों का परिवर्तित एवं प्रभावित करने के लिये, इसमें (प्रचार में) आकर्षक तरीकों एवं प्रतीत्मात्मक विधियों का जानबूझकर प्रयोग किया जाता है।"**[2]

हुलियलकर तथा अन्य के अनुसार, **"प्रचार सूचना और निर्देशन का एक उपकरण है, जो समाज और व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। यह लोगों की मनोवृतियों का निर्माण तथा निर्धारण करता है। यदि इसका उचित उपयोग किया जाता है तो यह सामाजिक नियन्त्रण का एक शक्तिशाली साधन है, इसके द्वारा सामाजिक रूप को बदला**

---

1. "Propaganda is a delibrate use of symbols with a view to changing people's beliefs and ideas and ultimately their action."

—Ibid.

2. Broadly defined, this has to do with the delibrate use of persuasive methods or other symbolic techniques to change attitudes and ultimately to affect action.

—Ibid.

जा सकता है। युद्ध और शक्ति, रचनात्मक और विनाशात्मक दोनों प्रकार के लक्ष्यों के लिये प्रचार एक महत्वपूर्ण साधन है।"[1]

लासवेल के मतानुसार, "प्रचार विस्तृत अर्थों में प्रतिनिधित्वों द्वारा मानव क्रियाओं को प्रभावित करने की विधि है।"[2]

अकोलकर के अनुसार, "प्रचार व्यक्ति अथवा समूह द्वारा जनमत को प्रभावित करने का एक व्यवस्थित प्रयास है।"[3]

डूब ने प्रचार की व्याख्या करते हुए कहा है, "प्रचार सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा संकेत की सहायता से व्यक्तियों के समूहों की मनोवृत्तियाँ तथा क्रियाओं को नियन्त्रित करने का एक यथाक्रम प्रयत्न है।[4]

---

1. "Propaganda is an instrument of information and instruction and it controls the behaviour of societies and individuals, it controls the attitudes and also forms them. If weilded rightly, it is one of the most potent of social control mechanisms, which can change the whole face of society. Both in war and peace, both for destructive and constructive purposes, propaganda has been useful and shall ever remain so."

   —Huliyalkar and Others.

2. "Propaganda in the broadest sense is the technique of influencing human action by the manipulation of representations."

   —Lasswell : *Propaganda in Encyclopaedia of Social Sciences.*

3. "Propaganda is an organised or systematic attempt made by a person or a group to influence public opinion and attitudes in any sphere."

   —V. V. Akolkar.

4. "Propaganda is a systematic attempt by an interested individual or individuals to control the attitudes of groups of individuals throngh the use of suggestion and, consequently, to control their actions."

   —Doob : ***Public Opinion and Propaganda.***

प्रो० राजाराम शास्त्री ने प्रचार के सम्बन्ध में कहा है, "प्रचार एक प्रकार का सामाजिक आदेश है। इसे शिक्षण इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका प्रयोग जनता में सामूहिक रूप से होता है। यह एक ऐसा आदेश नहीं है, जो एकाएक समय की आवश्यकतानुसार दे दिया गया हो, अथवा जो दो व्यक्तियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क की स्थिति में होने वाले पारस्परिक संकेतों के रूप में दिया गया हो। इसके विपरीत यह एक ऐसा आदेश है, जिसकी पहले से सावधानी पूर्वक योजना बना ली जाती है और जिसको समर्थ उपायों के द्वारा कार्यान्वित किया जाता है।"[1]

उपरोक्त परिभाषों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रचार का मुख्य लक्ष्य जनमत को अपने पक्ष में करना एवं उसको नियन्त्रण में रखना होता है। इसमें पूर्व निश्चित योजना या लक्ष्य होता है और परोक्ष पद्धतियाँ अधिक अपनाई जाती हैं। प्रचार को उपरोक्त विवेचन के आधार पर अब इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है, "प्रचार एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से जनता की क्रियाओं को एक पूर्वनिश्चित दिशा की ओर परिवर्तित एवं नियन्त्रित किया जाता है।"[2]

प्रचार का मनोवैज्ञानिक आधार
(Psychological Foundation of Propaganda)

प्रचार जनमत को प्रभावित एवं नियन्त्रित करने का एक प्रमुख साधन है। अतः प्रचार का आधार मनोवैज्ञानिक है। यह निम्नलिखित मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है :

(१) प्रचार विशेष रूप से सुझाव (Suggestion) के सिद्धान्त पर आधारित है। किम्बाल यंग ने लिखा है, "सुझाव प्रचार के परिचालन की कुंजी है।"[3] लम्ले ने भी इसका समर्थन किया है। उसका कहना है, "यह (प्रचार) आलोचनात्मक शक्तियों को कम करता है, भय और सन्देह को

1. राजाराम शास्त्री : समाज-विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग।
2. "Propaganda in a technique by means of which human actions are changed and controlled on a predetertemined lines."

—Authors.

3. "Suggestion is the key to the operation of propaganda".
—K. Young.

फैलाता है, एवं बौद्धिक गुलामी को उत्पन्न करता है।"[1] डूब के मतानुसार, "प्रचार लोगों के मस्तिष्क को बन्द करने की विधि है।"[2]

अतः स्पष्ट है कि प्रचार का उद्देश्य किसी बात की जनता पर लादना न होकर, लोगों को सुझाव देना होता है। प्रचार द्वारा दिये सुझाव ऐच्छिक होते हैं। यदि प्रचार द्वारा सुझाव प्रभाव प्रभावशाली ढंग से दिया जाता है, तो लोग सुझाव की बातों को शीघ्रता से मान लेते हैं।

(२) सामान्वीकरण (Generalisation) भी प्रचार का एक महत्वपूर्ण आधार है। जब प्रचार साहित्य के माध्यम से किया जाता है, तो उसके पात्रों द्वारा ऐसे सम्बाद कहलवाये जाते हैं, जिससे कि उन्हें ग्रहण करने वाला अर्थात पढ़ने वाला स्वयं को पात्रों की स्थिति में समझने लगता है। यह एक सामान्वीकरण की स्थिति है, जिसमें पढ़ने वालों की भावनाओं एवं संवेदनाओं में उत्तेजना पैदा होती है।

(३) पुनरावृति (Repetition) भी प्रचार का एक मुख्य मनोवैज्ञानिक आधार है। किसी भी बात को बार-बार कहे जाने से उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है एवं उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगता है। उदाहरणार्थ जब नारों (Slogans) को बार बार दुहराया जाता है, तो वे प्रभावशाली बन जाते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से प्रचार में निम्नलिखित तीन विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(१) यह उद्देश्यात्मक होता है।
(२) इसमें निर्देश का समावेश होता है।
(३) इसमें प्रेरणा निहित होती है।

प्रचार की विधियाँ
(Techniques of Propaganda)

सन् १९३० में अमेरिका के 'प्रचार विश्लेषण संस्था' (Institute for

1. It dwarfs the critical faculties, engenders fear and suspicion and produces intellectual slavery."
—Lumly : *The Propaganda Menace.*
2. "Propaganda is a device of closing people's mind."
—Doob.

Propaganda Analysis) ने प्रचार की कुछ प्रमुख विधियाँ बतायी हैं, जो कि निम्नलिखित हैं।

(१) **नाम देना** (Name Calling) इस विधि के अन्तर्गत किसी ऐसे नाम का उल्लेख किया जाता है, जिस पर समूह के अधिकांश सदस्यों की आस्था या द्वेष होता है। उदाहरणस्वरूप स्वास्थ्यवर्द्धक वस्तुओं की बिक्री के लिये उनके साथ पहलवानों के चित्रों का प्रयोग करना, अथवा सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुओं के साथ सिने अभिनेत्रियों के चित्रों का प्रयोग करना। इस विधि के अन्तर्गत अपने विचारों एवं व्यक्तियों के लिये अच्छे नाम तथा विरोधियों के लिये ऐसे नामों का प्रयोग किया जाता है, जिसे लोग घृणा की दृष्टि से देखते हों। उदाहरणार्थ अपने विरोधियों के लिये, 'नादिरशाह', 'मीर जाफर,' 'शाइलौक', 'बे पेंदी का लोटा', 'गिरगिट' ऐसे अपमान जनक नामों का प्रयोग करना एवं अपने व्यक्तियों के लिये 'शेरेहिन्द', 'शहीद'. 'लौह पुरुष' और 'त्याग की प्रतिमा' आदि नामों का प्रयोग करना। प्रायः निर्वाचन के समय यह विधि अधिक अपनाई जाती है। अमेरिका में प्रेसीडेण्ट रुजवेल्ट के निर्वाचन में उनके विरोधियों ने उनके लिये 'कम्युनिस्ट' एवं सोशलिस्ट' जैसे नामों का प्रयोग किया था।

(२) **प्रमाण-पत्र** (Testimonial) इस विधि का व्यापार सम्बन्धी विज्ञापनों में मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। वस्तुओं की बिक्री के लिये उसके साथ किसी सम्मानित व्यक्ति का नाम जोड़ा जाता है। जैसे आशा पारिख (सिने-अभिनेत्री) कहती हैं, 'वह सुन्दर क्यों है ? इसलिये कि वह प्रतिदिन लक्स टायलेट साबुन से स्नान करती हैं।'

(३) **आकर्षक सामान्योकरण** (Glittering Generalisation) इस विधि में प्रचारक सामान्य रूढ़ि युक्तियों का प्रयोग इस चालाकी के साथ करता है कि लोग भुलावे में आ जाते हैं। उदाहरणार्थः 'छात्र एकता जिन्दाबाद' दुनियाँ के मजदूरों एक हो,' 'रोटी कपड़ा और मकान माँग रहा है हिन्दुस्तान,' 'Socialistic Pattern of Society', 'Casteless, Classless Society' आदि।

(४) **जन साधारण की दुहाई** (Plain Folk Appeal) प्रचार को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये लोकमत की दुहाई दी जाती है। यदि किसी बात के लिये यह कहा जाय कि उसे सब लोग पसन्द करते हैं, तो लोग

उसे आसानी से मान लेते हैं। जैसे भारत के प्रत्येक घर में फिलिप्स बल्ब का प्रयोग होता है, तो आप के घर में क्यों नहीं.......

(५) **बैण्ड वैगन विधि** (Band-wagon Device) किम्बाल यंग ने लिखा है, "वास्तव में यह प्रतिक्रिया का तादात्म, प्रक्षेपण और सम्मिश्रण है।"[1] इसमें लोग सोचते हैं कि चूँकि सभी लोग इसे करते हैं, अतः हम क्यों न करें ? अल्पोर्ट ने इसे 'दीं इल्यूजन ऑफ यूनिवर्सलिटी' (The illusion of universality) की संज्ञा दी है।

(६) **एकांगी प्रचार** (Card Stacking) इस विधि के अन्तर्गत सीधी या सरल बात न कहकर तथ्यों को घुमा फिराकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। एकांगी प्रचार का वास्तविक उद्देश्य लोगों को अपने पक्ष में कर लेना होता है। इसके लिए प्रचारक को भले ही झूठ बोलना या धोखा देना पड़े।

(७) **हस्तान्तरण विधि** (Transfer Device) इस विधि के अनुसार प्रचारकर्ता अपना पक्ष मजबूत बनाने के लिए अपने प्रचार के साथ किसी सर्वमान्य चीज को जोड़ता है। निर्वाचन के समय प्रायः राजनैतिक दल यह कहते सुनाई पड़ते हैं कि गाँधीवाद जिन्दा रखने के लिए 'सेठ गोपाल राम' को वोट दीजिये।

उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त रीजल (Rigel) ने एक और अन्य विधि बताई है जिसे उसने 'चैम्बर आफ होरार्स' (The Chamber of Horrors) कहा है। इस विधि के अन्तर्गत जनता में भय की मात्रा को बढ़ाया जाता है और सुरक्षा की भावना को तीव्र किया जाता है। प्रचारकर्त्ता इस बात का प्रचार करता है कि यदि उसकी बात नहीं मान ली गयी तो लोगों पर विप्रत्तियों का पहाड़ टूट जायगा। अभी हाल में ही भारत में सरकार की भाषा सम्बन्धी नीति का इसी प्रकार से प्रचार हुआ था। विभिन्न राजनैतिक दलों ने भाषा सम्बन्धी नीति का जोरदार खंडन करते हुए कहा कि यदि सरकार की नीति मान ली गयी तो देश की एकता खतरे में पड़ जायगी।

---

1. "It is essentially an identification-projection, combination of response."

—K. Young : *A Handbook of Social Psychology*

प्रचार के नियम
(Rules of propaganda)

उपरोक्त प्रचार विधियों का विभिन्न परिस्थितियों में नाना प्रकार से प्रयोग किया जाता है। इसके लिए प्रचारक को समय, स्थान, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण आदि अनेक परिस्थितियों के प्रति जागरुक रहना होता है। इतना ही नहीं, वरन परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ प्रचार विधियों में भी परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि इन विधियों को कार्यान्वित करने के लिए कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं है, फिर भी कुछ प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों ने इसके निम्नलिखित नियम बताये हैं।

(१) जब प्रचार का प्रसारण किसी निश्चित जन समुदाय या भौगोलिक क्षेत्र से सम्बन्धित हो, तो वहाँ के सामाजिक मूल्यों, संस्कृति, रीति-रिवाज आदि की पृष्ठभूमि का भलि-भाँति विश्लेषण कर लेना चाहिए, ताकि प्रचार योजना बनाते समय ऐसी बाते बचाई जा सकें जो कथित जन समुदाय की भावनाओं से टकराती हों। किसी विशेष क्षेत्र की रुढ़ियों, मान्यताओं और विश्वासों के विपरीत उठाये गये प्रचार तार्किक होने पर भी सफल नहीं हो सकते।

(२) जन समुदाय विभिन्न मानसिक आयामों के व्यक्तियों का संगठन होता है। प्रचार के लिए प्रस्तुत सामग्री का ध्येय वृहत सम्प्रेषण (Mass Communication) होना चाहिए जो सरलतम से जटिलतम बुद्धि के व्यक्तियों तक समान गहनता से पहुंच सके। इसके लिए प्रचार आलेख प्रत्यक्ष न होकर भूमिकाबद्ध, उदाहरण सहित एवं सरल होना अनिवार्य है। अल्प बुद्धि के मानसिक आयामों का समावेष करने के लिए प्रचार के मौलिक उद्देश्यों को रोचक ढंग से बार-बार दुहराया जाना भी आवश्यक है।

(३) प्रचार प्रसारण में प्रचारक के व्यक्तित्व का एवं उसकी भाषा आदि का बड़ा अधिक महत्व होता है। इसलिए प्रचारक को चाहिए कि अपनी भाषा, चाल-चलन, आचार-व्यवहार, पहनावा-ओढ़ावा आदि उस समाज की मान्यताओं के अनुरूप रक्खे। प्रभावहीन व्यक्तित्व और अस्पष्ट भाषा समस्त प्रचार को विफल कर देती है।

(४) प्रचार का ध्येय स्वीकृत मूलक होता है। इसलिये प्रचार का उद्देश्य किसी बात को जनता के ऊपर लादना न होकर उसकी स्वीकृति

अथवा उसकी सहमति प्राप्त करना होता है। अतः प्रचारक को अपनी प्रचार योजनाएँ जनता की मौलिक आवश्यकताओं, उद्देश्यों, मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से तालमेल रखकर बनानी चाहिये।

(५) यदि किसी दीर्घकालीन या स्थायी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रचार करना हो, तो उपयुक्त यह होगा कि उसे नव-निहालों अथवा युवा पीढ़ी से आरम्भ किया जाय। इस आयु समूह में प्रतिक्षेपित किये गये विचार एवं अवधारणाओं को सीखने और आदत डालने की प्रवृति अधिक होती है। बचपन में प्रयोग की हुई वस्तुएं और भावी महत्वाकाक्षाएँ आजीवन तक मनुष्य की आदत एवं लक्ष्य बन कर रह जाते हैं। प्रायः व्यापारिक विज्ञापन-दाता अपनी वस्तुओं का स्थायी बाजार बनाने के लिये युवा-पीढ़ी के आयु समूहों को ही चुनते हैं।

प्रचार एवं शिक्षा
(Propaganda and Education)

सामान्य तौर से प्रचार एवं शिक्षा में अन्तर स्पष्ट करना अत्यन्त कठिन है। दोनों में विभिन्नतायें होते हुए भी बहुत अधिक समानता है। प्रचार एवं शिक्षा दोनों ही विधियों द्वारा व्यक्तियों के विचारों, विश्वासों एवं मनोवृतियों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि शिक्षा के द्वारा सदैव सत्य का प्रसार होता है और प्रचार द्वारा भूठ का, परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। प्रचार और शिक्षा दोनों में यह अन्तर हमेशा विद्यमान नहीं रहता। जिस प्रकार प्रचार का प्रभाव अच्छा एवं बुरा दोनों ही हो सकता है, उसी प्रकार शिक्षा का प्रभाव भी सदैव अच्छा नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि प्रचार एवं शिक्षा दोनों में ही एक आत्मपक्षीय (Subjective) अन्तर है।

प्रचार तथा शिक्षा दोनों में बहुत अधिक समानतायें होने के पश्चात भी कुछ अन्तर हैं, जो कि स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। प्रचार का प्रयोग किसी लक्ष्य विशेष को प्राप्त करने के उद्देश्य से, पूर्व निश्चित योजना के अनुसार लोगों के विश्वासों, विचारों एवं मनोवृत्तियों को परिवर्तित करने के लिये होता है। इसके विपरीत शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करके उसे पूर्णता (Perfection) प्रदान करना होता है। लासवेल ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "शिक्षा

कौशल और स्वीकृत मनोवृत्तियों को हस्तान्तरित करने की एक प्रक्रिया है। प्रचार ऐसी मनोवृत्तियों का हस्तान्तरण है जिनको उन्हीं समुदाय में विवादास्पद समझा जाता हैं।"[1]

प्रचार एवं शिक्षा में एक मुख्य अन्तर यह भी है कि शिक्षा की प्रवृति तार्किक (Rational) होती है जब कि प्रचार में संवेगात्मक विचारों एवं भावनाओं पर जोर दिया जाता है।

प्रचार एवं शिक्षा दोनों में ही निर्देश निहित होता है, परन्तु प्रचार में इसका प्रयोग अधिक किया जाता है।

जनतन्त्र में प्रचार
(Propaganda in Democracy)

मुक्त समाजों (Open Society) में प्राथमिक सम्बन्ध एवं प्राथमिक समूहों की प्रधानता रहती है। इसके सदस्यों को अपनी रुचियाँ एवं क्षेत्र सीमित होने के कारण सभी समस्यायों के प्रति व्यक्तिगत ज्ञान रहता है। किसी भी समस्या के उत्पन्न होने पर उससे सम्बन्धित सभी तथ्य सदस्यों को बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाते हैं और सदस्यों को इतनी जानकारी हो जाती है कि वे समस्या का सही मूल्यांकन कर सकें। आधुनिक अमुक्त समाजों (Closed Society) में यह सम्भव नहीं है कि सदस्य किसी समस्या के प्रति व्यक्तिगत ज्ञान रख सकें। उनके लिए सम्बन्धित तथ्यों को प्राप्त करना कठिन होता है। अतः उन्हें किसी बात की जानकारी प्राप्त करने के लिए अन्य साधनों पर निर्भर होना पड़ता है। समाचार पत्र, रेडियो, टेलीवीजन तथा समूह संचार तथा प्रसारण इनमें मुख्य रूप से हैं। समाचार को सदस्यों के समक्ष किस रूप में प्रस्तुत किया जाय, इसे इन साधनों को संचालित एवं नियन्त्रित करने वाले लोग ही करते हैं। किस समाचार को जनता तक पहुंचाया जाय, इसका निर्धारण भी यही लोग करते हैं। इन साधनों के नियन्त्रक समाचार एवं सूचनाओं का प्रसारण इस प्रकार से करते हैं कि सदस्यों के लिए समस्या के प्रति व्यक्तिगत एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखना कठिन हो जाता है। सदस्यों के समक्ष पहुंचने वाली सूचनाएँ इतनी अधिक परस्पर विरोधी तथा भ्रामक होती हैं कि वे इन्हीं में उलझे रह जाते हैं और स्वयं को मानसिक उलझन से बचाने के लिए किसी भी स्पष्ट एवं सरल ढंग से कही हुई बात को मान लेते हैं।

1. "Education is process of transmitting skills and accepted attitudes. Propaganda is the transmission of attitudes that are recognised as controversial in a given community."
—Lasswell.

लोकतन्त्र की एक आधारभूत मान्यता यह भी है कि किसी भी समस्या का हल स्वतन्त्र वादविवाद के बाद निकाला जाय। लोकतन्त्र के समर्थक भी इस विचार का समर्थन करते हैं और इस बात की दलील देते हैं कि मतों एवं विचारों की भिन्नता के ही कारण किसी समस्या का समाधान निकाला जा सकता है। यदि किसी समस्या के प्रति स्वतन्त्र एवं ईमानदारी से विचार प्रस्तुत किये जांय, तो समस्या का सर्वोत्तम हल अत्यन्त ही सरलता से निकल सकता है। परन्तु यदि किसी भी प्रकार इस जन-विवाद में छिपा हुआ प्रचार (Concealed Propaganda) प्रवेश कर जाय, तो जनतन्त्र की नींव को खतरा पहुंचने का भय रहता हैं। प्रायः राजनैतिक दल अपने दल के स्वार्थ की पूर्ति के लिए जन विवाद को अपनी चालाकी और धूर्तता से प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। यह लोक तन्त्र के लिए हानिकारक है। लासवेल ने अपने मत को इस सम्बन्ध में बड़े ही सरल एवं स्पष्ट ढंग से रखते हुए कहा है, "लोकतन्त्रीय परिस्थितियों में ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का प्रचार उन आधारभूत माम्यताओं को नष्ट कर देता है, जिन पर लोकतन्त्रीय संस्थाएँ आधारित हैं। यह उनके विरुद्ध उद्वेगात्मक विद्रोह का मार्ग बनाता है। आधुनिक लोकतन्त्र का अर्थ है 'बातचीत द्वारा सरकार' में आस्था, वाद विवाद में आस्था, सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के उपायों के खोजने के लिए निष्कपट विचार अभिव्यक्ति में आस्था, लोगों के संकल्प में आस्था तथा उन मुहावरों में आस्था जो सामान्य उद्देश्यों को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। बड़े-बड़े आधुनिक लोकतन्त्रों में प्रसारित प्रचार को विधियों ने उन प्रतीकों एवं प्रथाओं को जो कि ऐतिहासिक रूप से लोकतन्त्र से सम्बन्धित रही हैं, बदनाम किया है"[1]

---

1. "Under democratic conditions it seems that the long run effect of this resort to propaganda is to undermine the basic loyalties upon which the democratic institution depend, and to prepare the way for impulsive revolt against them. Modern democracy has meant faith in 'Government by talk', faith in discussion, faith in outspoken candour in the search for ways of reaching common ends; faith in the will of the people; and faith in the phrases which are used to talk about the common goals. The spread of the practice of propaganda in large scale modern democracies has tended to discredit the symbols and practices which have been historically associated with democracy."

—Lasswell : *Propaganda in Encyclopaedia of Social Sciences.*

लोकतन्त्र में सामाजिक संकट के समय प्रचार द्वारा होने वाली हानियाँ कभी-कभी बड़ी भयावह स्थिति पैदा कर देती हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम चीन द्वारा अपने देश पर आक्रमण के समय को ले सकते हैं। हमारे देश पर अप्रत्याक्षित रूप से चीन द्वारा आक्रमण हुआ था। भारत को चीन का इरादा न मालुम होने के कारण लड़ाई में कई स्थानों पर पीछे हटना पड़ा। इसका कारण था कि भारत उस अमानवतापूर्ण आक्रमण के लिए पहले से तैयार न था। भारतीय सेना के युद्ध में कई स्थानों से पीछे हटने से आतंक फैल गया और चारों ओर भय का साम्राज्य हो गया। जनता चिन्तित हो गयी। इसी समय भारत की एक राजनैतिक पार्टी ने देश में स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से अनुचित लाभ उठाया। उसने चीन सीमावर्ती क्षेत्रों में चीन समर्थन और भारत विरोधी प्रचार आरम्भ कर दिया। भारतीय जनता में पहले से ही भय व्याप्त था, फिर अपने ही देश में चीन समर्थन प्रचार सुन उनके बीच भय का वातावरण और भी बढ़ गया।

लोकतन्त्र की एक यह भी मान्यता है कि बहुमत द्वारा ही सरकार का निर्माण हो और उसी के द्वारा देश की वाह्य एवं आन्तरिक नीति का निर्धारण हो, परन्तु अल्प संख्यक समूह अपने धूर्ततापूर्ण प्रचार से ऐसा नहीं होने देते। वह चालाकी से जनता को गुमराह करते हैं और उसे अपनी ऐच्छिक दिशा की ओर मोड़ने में प्रायः सफल भी हो जाते हैं।

अपने देश के सभी बड़े-बड़े समाचार-पत्र बड़े उद्योगपतियों के नियन्त्रण में हैं। यह प्रायः गलत प्रचार द्वारा पूरे देश की जनता को प्रभावित करते हैं और उनके विचारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को बदलने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी यह अपने प्रयास में सफल भी हो जाते हैं। संकट की स्थिति में इन समाचारपत्रों द्वारा प्रसारित प्रचार का महत्व और भी बढ़ जाता है।

प्रचार एवं सामाजिक नियन्त्रण
(Propaganda and Social control)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन में उसका व्यवहार, उसकी प्रेरणा, विश्वास एवं मनोवृत्ति आदि पर आधारित होता है। यह मनुष्य के विश्वास, मनोवृत्ति एवं क्रिया को प्रभावित करता है। अतः यह सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख अभिकरण है। मनुष्य के विश्वास,

मनोवृत्ति तथा क्रिया में जब कोई परिवर्तन आता है, तो उसका प्रभाव उसके सामाजिक जीवन के व्यवहार पर भी पड़ता है।

समाज और व्यक्ति वस्तुतः इन दोनों का कोई पृथक स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समाज व्यक्तियों के समूहों से बनता है। अतः इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा जाता है। व्यक्ति के व्यवहार निश्चित रूप से इन सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। समाज में शान्ति तथा कलह इन दोनों का ही मुख्य कारण मनुष्य का व्यवहार है। समाज में सहयोग होने से हमेशा उसमें सुख एवं शान्ति का वातावरण रहता है। ऐसा समाज हमेशा प्रगति करता है। कभी-कभी समाज में वैमनस्य का वातावरण रहता है। ऐसे समय में समाज में दलबन्दी हो जाती है और प्रत्येक दल एक दूसरे को अपना विरोधी समझ कर अपनी मनोवृत्ति निषेधात्मक कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में समाज की स्थिति में परिवर्तन और उसमें शान्ति का वातावरण लाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु समाज की स्थिति में परिवर्तन और उसमें शान्ति का वातावरण तभी आ सकता है जब लोगों के विचारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाया जाय। ऐसा करने के लिये समयाकूल एक नई दिशा देना आवश्यक हो जाता है। ऐसे समय में प्रचार ही एक ऐसा अभिकरण है जो कि व्यक्तियों की क्रियाओं को प्रभावित करके उचित मार्ग का दिग्दर्शन करता है। अतः स्पष्ट है कि समाज को नियन्त्रित बनाये रखने के लिये, प्रचार का अत्यधिक महत्व है।

जिलबूर्ग (Zilboorg) का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रचार सभी परिस्थितियों में प्रभावशाली प्रमाणित हो। कभी परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं कि प्रचार उनमें प्रभावशाली नही होता और समाज में किसी भी परिवर्तन को लाने में असफल होता है। यहाँ यह बात कह देनी आवश्यक है कि प्रचार सामाजिक परिवर्तन लाने का एक गौड़ साधन है। केवल प्रचार के बल पर ही सामाजिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। फिर भी प्रचार, सामाजिक परिवर्तन लाने में भले ही असफल रहे, परन्तु यदि वह सही तथ्यों पर आधारित है, तो निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन की गति के लिये सहायक हो सकता है।

समाज में उसे विघटित करने वाले तत्वों की कमी नहीं होती है। उनका उद्देश्य ही समाज को अव्यवस्थित रूप से रखना होता है। अतः समाज में

हमेशा अव्यवस्था रहती है। ऐसे समय में प्रचार ही एक ऐसा प्रभावशाली अभिकरण है जो इन विरोधी तत्वों को प्रकाश में लाकर जनमत को इनके विरुद्ध बनाता है। समाज विरोधी कार्यों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्रचार को ही प्राप्त है। प्रचार के डर से ही समाज विरोधी कार्य करने में लोग भयभीत रहते हैं। उन्हें जितना भय दंड का नहीं रहता, उतना अपने विरुद्ध प्रचार का रहता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रचार सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण है।

Selected Readings

1. Krech and Crutchfield : Theory and Problems of Social Psychology.
2. K. Young : A Handbook of Social Psychology.
3. Doob : Public Opinion and Propaganda.
4. Rigel and Others : Introduction to Social Sciences.
5. Fedrick E. Lumley : Propaganda Menace.
6. T. Newcomb : Social Psychology.

Questions.

१. प्रचार की परिभाषा किस-किस प्रकार से दी गई है? प्रचार की विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
In what ways has propaganda been defined ? Discuss the various techniques of propaganda in brief.

२. प्रचार का आधुनिक लोकतन्त्र में महत्व बताइये।
Discuss the importance of propaganda in modern democracy.

३. सामाजिक नियन्त्रण में प्रचार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
Explain the role of propaganda in social control.

४. 'प्रचार' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
Write a short essay on 'Propaganda'.

अध्याय २०

जनमत
(PUBLIC OPINION)

जनता के मत को जनमत कहते हैं। यह जनमत किसी विशेष जन-समुदाय या भौगोलिक क्षेत्र के व्यक्तियों की अभिरुचियों, मनोवृत्तियों विचार-धाराओं आदि का सामान्य संगठन होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जनसमुदाय के सदस्य शारीरिक रूप से भी एक दूसरे से संगठित हों। जनमत का तात्पर्य व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक सामूहिकता से है। समाज में जीवनयापन करने के लिए अनेक विकल्प होते हैं, अनेक शैलियाँ होती हैं और इनसे सम्बन्धित अनेक आवश्यकताएँ तथा समस्याएँ होती हैं। जिन समाजों की संरचना प्रजातांत्रिक मूल्यों पर आधारित होती हैं, वहाँ जनता के मतों का सर्वोपरि महत्व होता है। यदि जनता के मतों में एकरुपता का अभाव है तो प्रजातांत्रिक लक्ष्यों की पूर्ति में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। समाज के सुचारु रूप से संचालित एवं नियंत्रित रहने के लिए जनमत का संगठन अति आवश्यक होता है। समाज में जो भी मतभेद रहते हैं उनको दूर करके एक ऐसा सर्वसम्मत मत निर्मित होता है, जो सर्वमान्य होता है और इसी को जनमत कहते हैं। समाज के सदस्य इस जनमत के समर्थक तथा अनुयायी होते हैं। सामाजिक जन-जीवन इसी जनमत के अनुसार अपने व्यवहारों, क्रियाओं, अन्तःसम्बन्धों को नियंत्रित रखता है। इस प्रकार जनमत सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण माना जाता है।

परिभाषायें (Definitions)

जनमत, सामूहिक विचारों और धारणाओं का सम्मिलित रूप है जिसमें स्थिरता होती है, कम से कम विभेद होता है तथा सदस्यों के सामूहिक व्यवहारों को प्रभावित करने की अधिक से अधिक शक्ति होती है। समाजशास्त्र में जनमत का अध्ययन समाज के विशाल जनसमुदाय के मानसिक पक्ष-उसकी प्रवृत्तियों एवं वैचारिकी से सम्बद्ध है। सामाजिक परिवर्तन और नियंत्रण में जनमत का महत्वपूर्ण योगदान है। अगली पंक्तियों में जनमत की कुछ परिभाषाएँ उद्धृत हैं।

डेवी के अनुसार, "सामाजिक अन्वेषण के परिणामों के सम्प्रेषण और जनमत का निर्माण एक ही बात है....क्योंकि जनमत सार्वजनिक मामलों से सम्बद्ध वह निर्णय है जो उनके द्वारा निर्मित एवं कार्यान्वित होता है एवं जो जनता का प्रतिस्थापन करते हैं।"[1]

जेम्स यंग का मत है कि "जनमत वह सामाजिक निर्णय है जो किसी सामान्य अभिप्राय के हेतु, विवेकपूर्ण सार्वजनिक विवेचन के पश्चात जागरुक समुदाय द्वारा लिया जाता है।"[2]

डूब के विचार में, "जनमत का तात्पर्य किसी समस्या के बारे में उन लोगों के दृष्टिकोण से है जो समान समूह के सदस्य होते हैं।"[3]

1. "Communication of the result of social inquiry is the samething as the formation of public opinion....For public opinion is judgment which is formed and entertained by those who constitute the public and is about public affairs."

—John Dewey : *The Public and Its Problems.*

2. Public opinion is the social judgment of a self-conscious community on a question of general import after ration public discussion."

—James T. Young, quoted in W. B. Graves (ed) : *Reading in Public Opinion.*

3. "Public opinion refers to people's attitude on an issue when there are members of same group."

—Doob.

पार्क और बर्गेस का कथन है कि "जहाँ सारपूर्ण समानता नहीं है वहाँ कोई जनमत नहीं है। परन्तु जहाँ असमानताएँ भी नहीं हैं, वहाँ भी कोई जनमत नहीं है। जनमत जनता के विवेचन का अभिप्राय है।"[1]

अकोलकर के अनुसार, "जनमत का तात्पर्य केवल विचारों के उस विस्तृत रूप से है जिसे लोग किसी प्रस्तुत समस्या के बारे में प्रकट करते हैं।"[2]

र्‌यूटर के मतानुसार, "जनमत वह मतैक्य या निर्णय है जो तथ्यों के आधार पर वाद-विवाद द्वारा निर्धारित होता है।"[3]

जनमत की व्याख्या
(Analysis of Public opinion)

जनमत को अनेक विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर विश्लेषित करके यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में, विशेषकर किसी प्रजातांत्रिक समाज-व्यवस्था में, जनमत का बहुत महत्व-पूर्ण स्थान है। स्मोलर ने जतमत की परिकल्पना एक वृहद् वाद्य यंत्र के रूप में की है। उसके अनुसार, "जनमत लाखों तार वाले एक ऐसे वाद्य-यंत्र के समान है जिसे समस्त दिशाओं से आने वाली हवाएँ ध्वनित करती हैं। इससे स्फुटित स्वर सर्वदा एकांगी अथवा एकस्वर नहीं होते हैं। स्वरों की अत्यधिक विपरीत धाराएँ एक दूसरे के प्रवाह को

1. "There is no public opinion where there is no substantial agreement. But there is no public opinion where there is not disagreement. Public opinion presupposes public discussion."

—Robert E. Park and E. W. Burgess : *Introduction to the Science of Sociology.*

2. "Public opinion simply refers to that mass of ideas which people have to express on a given issue"

V. V. Akolkar.

.3 "Public opinion is a consensus or judgment arrived at through conflict and discussion on the basis of facts".

—Reuter.

काटती हैं। यह अपने निर्देशित विषय तथा मानसिक तत्वों की गति-शीलता के प्रति निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। कभी इसकी एक मांग होती है, कभी दूसरी। आज यह संवेगों को उभारता हैं तो कल धैर्य के साथ विचार करने की अपील भी करता हैं।"† इस प्रकार जन-मत का इतना व्यापक अर्थ है कि समाजशास्त्र में अन्य शब्दों के साथ इसे लेकर कुछ भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। जनमत की व्याख्या को स्पष्ट करने के हेतु नीचे जनमत से सम्बन्धित कुछ शब्दों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है :

(१) जनमत और मतैक्य : मतैक्य का अभिप्राय किसी समाज के सभी सदस्यों का किसी विषय पर एक समान विचारों की अभिव्यक्ति से होता है। यह एक कल्पना मात्र है जो वास्तविक जगत में देखने को नहीं मिलती है। संसार की कोई भी ऐसी वैचारिकी नहीं है जिस पर सभी लोग एकमत हों। यदि सभी सदस्य एकमत हो जाएँ तो समाज में किसी भी प्रकार विवाद अथवा संघर्ष न हो। जनमत में प्रश्न केवल बहुमत और अल्पमत का होता है, एकमत का नहीं।

(२) जनमत और मनोवृत्ति : मनोवृत्ति का सम्बन्ध मनुष्य की आदतों अथवा स्वभाव से होता है जबकि जनमत का अभिप्राय मौखिक अथवा प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति होता है। जनमत मनोवृत्ति की अपेक्षाकृत कम स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त मनोवृत्ति मानवीय जीवन का एक व्यक्तिगत पक्ष है जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न पाई जाती है परन्तु जनमत में एक से अधिक व्यक्तियों का मत एक समान हो सकता है। जनमत एक विचारमात्र है; मनोवृत्ति कार्य को प्रेरित करने की क्षमता है।

† Public opinion is like a harp of a million strings upon which there play winds from all directions. The sounds that emerge are not always unitary or harmonious. The most varied streams of melody cut through each other. It is subject to constant change both in regard to the object on which it is directed and in regard to the mental elements through which it works. Now it demands this, now that. To-day it works on the passions; tomorrow it makes appeal to calm deliberation.

—Schmoller : Presented by M. Ginsberg in his book : *The Psychology of Society.*

(३) जनमत और विश्वास : स्वभाव की भाँति विश्वास भी स्थायी होते हैं। इनकी तुलना में जनमत बहुत परिवर्तनशील होता है। विश्वासों का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं से होता है तथा सभी विश्वास आस्था-प्रधान हुआ करते हैं। जनमत प्रायः सामान्य तथ्यों के प्रति होता है। इसका व्यक्तिगत भावनाओं और संवेगों से उस प्रकार की निकटता नहीं होती है जैसी विश्वासों की होती है।

(४) जनमत और सामान्य संकल्प : सामान्य संकल्प का क्षेत्र बड़ा ही संकुचित है जब कि जनमत का क्षेत्र इसकी तुलना में अत्यधिक व्यापक है। जनमत एक व्यवहारिक तथ्य है जिसका अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु सामान्य संकल्प में कोई व्यवहारिकता नहीं है, यह केवल कल्पना मात्र है। गिन्सबर्ग का कथन है कि जो सामान्य है वह संकल्प नहीं और जो संकल्प है वह सामान्य नहीं है।

जनमत की विशेषताएँ
(Characteristics of Public Opinion)

जनमत एक समूह में उत्पन्न किसी विषय अथवा समस्या पर जनता के बहुमत होने का पारिचायक है। इसके प्रादुर्भाव के लिए तीन तत्वों का होना अनिवार्य होता है : सामान्य अभिरुचि, एक निश्चित उद्देश्य की कामना, तथा उद्देश्य-प्राप्ति के साधन में विश्वास। इन तत्वों के आधार पर जनमत की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) सर्वमान्यता : किसी भी मत को जनमत तब कहा जा सकता है जब कि समाज के बहुसंख्यकों द्वारा निर्धारित मत, सर्वमान्य हो जाता है। सर्वमान्यता के अभाव में उसे केवल मत कहा जा सकता है, जनमत नहीं।

(२) वैचारिकी का स्वतंत्र आदान-प्रदान : जनमत में व्यक्तियों को अपने मुक्त विचारों को प्रस्तुत करने का स्वतंत्र अधिकार होता है। इन विचारों को लेकर व्यक्ति आपस में विमर्श करते हैं। विभिन्न विचारों के समावेश से एक सामान्य वैचारिकी निर्मित होकर जनमत का रूप ग्रहण करती है।

(३) अस्थायित्व : किसी भी विषय पर आधारित जनता का मत स्थायी नही होता है। जनता की वैचारिकी एवं सामाजिक परिस्थितियाँ

निरन्तर परिवर्तनशील होती हैं। इनके परिवर्तन का प्रभाव जनमत पर पड़ता है। फलस्वरूप जनमत कभी स्थायी नहीं रह पाता है। परिवर्तनशीलता, इसका एक विशेष लक्षण है।

(४) **सामान्य समझौता** : एक सर्वमान्य जनमत की स्थापना के पूर्व विभिन्न व्यक्तियों में काफी वाद-विवाद चलता रहता है। फिर किसी समस्या-निदान के एक पक्ष पर सर्वाधिक व्यक्तियों की संख्या एकत्रित हो जाती है। कुछ समय उपरान्त शेष व्यक्तियों के भी विश्वास उसमें निहित हो जाते हैं। इस प्रकार जनमत अल्प संख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच एक सामान्य समझौते के बीच में प्रस्फुटित होता है।

जनमत की प्रक्रिया और निर्माण
(Process and Formation of Public Opinion)

रासेक ने जनमत के निर्माण के हेतु तीन प्रमुख चरणों का उल्लेख किया है। समस्या का प्रस्तुतिकरण, वाद-विवाद और प्रस्तावित सुझाव, तथा एकमत का प्रादुर्भाव। समाज में जब कभी कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उससे सम्बन्धित अनेक चर्चायें और वाद-विवाद आरम्भ हो जाते हैं जिनमें व्यथित समस्या के वास्तविक स्वरूप का निरुपण किया जाता है। इस समस्या को लेकर जनता द्वारा नाना प्रकार के दृष्टिकोण तथा उसके अनेकानेक निदान प्रस्तुत किए जाते हैं। यह वह चरण होता है जिसमें समाज के सदस्यों की सहमति और असहमति का प्रश्न उग्ररूप ले लेता है। तीसरे चरण में बहुसंख्यकों का मत अल्पसंख्यों पर हावी हो जाता है। यहीं पर जनता का मत ठोस आधार प्राप्त कर लेता है। ऐसी परिस्थिति में कभी ऐसा होता है कि समस्या के सम्भावित निदानों के प्रति तीव्र विरोध उत्पन्न हो जाता है और कभी ऐसा भी होता है कि अनेक विकल्पों के बीच कोई मिला-जुला मार्ग निकल आता है। जो भी हो, अन्त में समस्या के निदान के लिए जनमत का कोई न कोई अन्तिम विन्दु स्थापित हो ही जाता है। परन्तु वे मत जो बहुत अल्प होते हैं, जनमत निर्धारित हो जाने के पश्चात, उसके प्रति काफी समय तक सम्पादकीय पत्रों, न्यायालयों, सभाओं आदि में अपना नैराश्य एवं विरोध प्रकट करते रहते हैं।

आजकल के युग में जनमत का निर्माण करने के लिए जनता की अभिवृत्तियों को कई प्रकार से प्रभावित किया जाता है। रासेक के मतानुसार

जनमत का निर्माण भूतपूर्व अनुभवों और अभिवृत्तियों पर आधारित प्रक्रियाओं का परिणाम होता है; तथा जनता के मत वे मत होते हैं जिनमें पहले अल्पसंख्यक ही अधिक दिलचस्पी लेते रहे हैं। अल्प संख्यक अपने मतों के सार्वभौमिक होने का प्रभाव बहुसंख्यकों पर डालते हैं ताकि वे भी इन मतों को अपने निजी मतों की भाँति ग्राह्य कर लें। इस प्रकार से मतों को स्वीकार कराने के लिए अनेक तकनीकों और उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। जिनमें सभाएँ, मतगणना, सामूहिक दबाव, नेतृत्व तथा वृहद् संचार के साधन जैसे समाचार-पत्र, रेडियो, चलचित्र आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जनमत के निर्माण के प्रति समाजशास्त्रीय चिन्तन में और भी विचार-धाराएँ मिलती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य का तार्किक स्वभाव एवं निष्पक्ष वैचारिकी जनमत का आधार है। एक मत यह भी है कि जनमत के निर्माण के लिए मनुष्य के तार्किक होने से अधिक महत्वपूर्ण योग शक्तिशाली नेतृत्व का होता हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि इन सबके अति-रिक्त मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ जनमत के निर्माण का एक कारक होता है। जनमत के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक मतों के आधार पर निम्नलिखित सामान्य विन्दुओं का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) **नूतन आवश्यकताओं का स्फुटन :** समाज के विकास के साथ-साथ अनेक सामाजिक आवश्यकताओं का प्रादुर्भाव होता है। ये आवश्यकताएँ अपनी पूर्ति के लिए जनता के सुझावों का आवाहन करती हैं। नई आवश्यकताएँ, नई समस्याएँ समाज के सदस्यों द्वारा जनमत के निर्माण का कारक बन कर उपस्थित होती हैं।

(२) **सामाजिक अभियोजन :** समाज के प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार, अभिरुचि, संवेग, अभिवृत्तियाँ आदि भिन्न-भिन्न होती हैं। यह भिन्नता व्यक्तियों के बीच पारस्परिक समंजन और अभियोजन की समस्या उत्पन्न करती हैं। इनको लेकर अनेक मतभेद होते हैं जिन्हें एकरुप करने के लिए एक सार्वभौमिक निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु जनमत का निर्माण किया जाता है।

(३) **नेतृत्व एवं प्रचार :** नेतृत्व एवं प्रचार से भी जनमत का निर्माण होता हैं। जनता का नेतृत्व करने के लिए कोई नेता अपने विचारों और उद्देश्यों का समाज में प्रचार करता है। जनता की सहमति और अनुकरण

प्राप्त करने के लिए वह नाना प्रकार के प्रचार-साधनों से जन सामान्य को प्रभावित करके अपने पक्ष में करने के प्रयत्न करता है। इस प्रकार के प्रयत्नों की सफलता जनमत का निर्माण करती है।

(४) **नैतिकता का संरक्षण :** समाज में लक्षित नवीन परिवर्तनों को नैतिकता की कसौटी पर कसने के लिए जनमत का निर्माण होता है। नैतिकता की सुरक्षा के प्रति जनमत सदैव जागरुक रहता है। किसी भी उत्पन्न समस्या के समाधान के लिए केवल उन्हीं विकल्पों को मान्यता प्राप्त होती है जो सामाजिक नैतिकता के अनुरुप होते हैं। नैतिकता का प्रश्न जनमत के निर्माण का मुख्य आधार होता है।

जनमत का सामाजिक महत्व
(Social Importance of Public Opinion)

जनमत एक मिश्रित मत है जो जनता के विभिन्न मतों से निर्मित होता है। यह वृहद् समाज को प्रभावित करने का एक सफल साधन है। इससे विचार विमर्श एवं पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है। लोकतांत्रिक सामाजिक संरचना में जनमत एक अनिवार्यता है क्योंकि लोकतांत्रिक समाज की समस्त नियंत्रण एवं संचालन व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है। नेता का चुनाव तथा राजकीय विधान, दण्ड, पुरस्कार आदि सभी जनमत के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं। जो नियम अथवा परिवर्तन बहुमत को स्वीकार नहीं होते हैं उनका समावेश समाज की व्यवस्था में कर पाना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत ऐसी दशा में जब समाज में कोई नूतन परिवर्तन अथवा मनोवृत्ति का प्रचलन करना अनिवार्य समझा जाता है तो जनमत को प्रचार के साधनों के आधार पर प्राप्त भी किया जा सकता है। एक छोटे से समुदाय में जागृत कोई वैचारिकी या अवधारणा प्रेस, रेडियो, फैशन आदि के माध्यम से वृहद् समुदाय के मन-मस्तिष्क को कुरेदती है जो कुछ समयोपरान्त उसे प्रभावित करने में सफल हो जाती है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार समाज के आदर्शों, विश्वासों और मूल्यों में अपेक्षित परिवर्तन भी किए जा सकते हैं।

जनमत सामाजिक नियंत्रण का ऐसा शक्तिशाली अभिकरण है जो व्यक्तिगत मतभेद से ऊपर होता है तथा अधिकांश लोगों को मान्य होता है। रासेक का कथन है कि जब किसी निजी मत की सार्वजनिक अभिव्यक्ति होती

है तो विभिन्न मतों के बीच कोई समझौता हो ही जाता है। सामाजिक नियंत्रण में जनमत का सबसे बड़ा योगदान यह है कि यह व्यक्तियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर उनकी मनोवृतियों को प्रभावित करता है।

जन समुदाय का स्वर ईश्वरीय होता है। समाज की सभी बातों की अवहेलना की जा सकती है परन्तु जनमत की अवहेलना नहीं की जा सकती है—न व्यक्ति के द्वारा, न समाज के द्वारा और न शासन के द्वारा। जनमत सामाजिक पर्यावरण का मानचित्र होता है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए उपयुक्त स्थलों को इंगित करता है। यह उन प्रदेशों को भी इंगित करता है जो अधिक रूढ़िग्रस्त है तथा जहाँ नियंत्रण के द्वारा अपेक्षित परिवर्तन कर पाना कठिन है। अमुक्त समाजों में जनमत की जड़ता धर्म के अन्धविश्वासों की भाँति होती है। जैसे धर्म के विरुद्ध कोई भी वैचारिकी धार्मिक जन-समूह पर लादना सम्भव नहीं होता है उसी प्रकार जटिल समाज के जनमत को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

संक्षेप में, जनमत अपने में ही स्वयं एक निर्णित तथा सामूहिक रूप से नियंत्रित व्यक्तियों का द्योतक है।

Selected Readings.

1. William Albig : Public Opinion.
2. Leonard W. Doob : The Psychology of Living People.
3. John Dewey : The Public and Its Problems.
4. Park and Burgess : Introduction to the Science of Sociology.
5. Wilhem Bauer : Public Opinion.
6. Morris Ginsberg : The Psychology of Society.
7. Walter Lippmann : Public Opinion.
8. Kimball Young : A Handbook of Social Psychology.
9. W. J. H. Sprott : Social Psychology.
10. Joseph S. Roucek : Social Control.

Questions

१. जनमत से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान समाजों के सन्दर्भ में इसका महत्त्व बताइये ।
What do you understand by public opinion ? Discuss its importance in the context of modern socities.

२. जनमत पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।
Write a short essay on public opinion.

३. सामाजिक नियन्त्रण के सन्दर्भ में जनमत का महत्त्व बतलाइये ।
Discuss the importance of public opinion in the context of social control.

४. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—
(क) जनमत की विशेषताएँ ।
(ख) जनमत की प्रक्रिया और निर्माण ।
Write short notes on :
(a) Characteristics of public opinion.
(b) Process and formation of public opinion.

अध्याय २१

फैशन
(FASHION)

फैशन-परिवर्तन, आत्म-प्रदर्शन और अहम् अभिव्यक्ति का सफल साधन है। इससे किसी समाज की जीवन शैली और उसके व्यवहारों के नूतन परिवर्तनों का बोध होता है। सभी फैशनों का सम्बन्ध आभूषणों, वस्त्रों और प्रसाधनों से ही नहीं होता है वरन् जन-मानस की बोल-चाल, खान-पान, अभि-रुचि, अभिव्यक्ति आदि अनेक पहलू इससे प्रभावित होते हैं। फैशन तीव्रगामी और परिवर्तनशील होते हुए भी सम्बद्ध समाज की मान्यताओं, प्रथाओं और मूल्यों की मर्यादाओं से नियंत्रित रहते हैं।

नागरीकरण और औद्योगीकरण की यन्त्रवत रुटीन जिन्दगी से उकताया हुआ आज का मनुष्य फैशन द्वारा अपने जीवन में नवीनता और परिवर्तन का अनुभव कर सकता है। फैशन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी अनिवार्यता अथवा उपयोगिता से नहीं है परन्तु दीर्घकालीक जीवन को फैशन के अनेक नूतन चक्रों में व्यतीत करना है। समाज के सभी व्यक्ति अपनी महत्वाकाक्षाओं के विशाल आयाम लिए विचरते हैं। उन सभी की बौद्धिक कुशलता, शारीरिक शक्ति, आर्थिक क्षमता और सामाजिक स्थिति ऐसी नहीं होती है कि वह एक अपेक्षिक लक्ष्य तक अपने जीवन को ले जा सकें। इसमें असफलता मिलने पर वे क्षुब्ध हो जाते हैं तथा अपने में हीनता और कुण्ठा अनुभव करते हैं। इससे उनके अहम् को ठेस पहुंचती है और इसका निराकरण न हो

पाने पर उनके अहंकार को ठेस पहुंचती है। फैशन मनुष्य की इस आत्म-वेदना पर मरहम का काम करता है। एक गरीब आदमी, सम्पन्न मनुष्य जैसा कपड़ा पहन कर और उसके व्यवहारों का अनुकरण करके अपने आपको भी सम्पन्न व्यक्ति प्रदर्शित करता है। ऐसा करने से वह स्वयं को अपनी श्रेणी के अन्य व्यक्तियों से पृथक कर लेता है जिसके फलस्वरूप उसका आत्म प्रदर्शन होता है और उसके संवेगों को शान्ति मिलती हैं।

फैशन वर्ग-विभेद के उत्पीड़न का निदान करता है। उच्चस्तरीय वर्ग के लोग जिन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं उनका प्रचलन निम्न स्तरीय वर्गों के लोगों में होने लगता है। जब प्रचलन अधिक व्यापक और दीर्घकालीन हो जाता है तो उच्चवर्गीय समाज उन वस्तुओं आदि का परित्याग करके नूतन वस्तुओं का उपयोग करने लगता है जो फिर निम्न वर्गीय समाज द्वारा अनुकृत किया जाने लगता है। इस प्रकार फैशन का यह परिवर्तन-चक्र सदैव गतिमान रहता है।

अतः कहा जा सकता है कि फैशन कोई सामाजिक उपयोगिता की बात न लेकर मुख्यतः मनोवैज्ञानिक कारकों से प्रेरित रहता है। नवीनता, परिवर्तन, अनुकरण तथा महत्वाकांक्षाओं और संवेगों की कृतिम शान्ति ही फैशन का लक्ष्य हुआ करते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

फैशन के आधार मुख्यतः मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक हुआ करते हैं। इसे अनेक समाजशास्त्रियों ने निम्न प्रकार पारिभाषित किया है :

रॉस के अनुसार, **"फैशन किसी समूह के सदस्यों की अभिरुचियों में होने वाला अनवरत परिवर्तन है। यद्यपि इसमें उपयोगिता निहित होती है, परन्तु उसके आधार पर फैशन का निर्धारण नहीं होता है।"**[1]

जेम्स ड्रेवर के मतानुसार, **"फैशन सामाजिक लोकरीति का एक चरण अथवा पक्ष है तथा परिवर्तन एवं प्रतिस्पर्धा इसके मुख्य लक्षण हैं।"**[2]

---

1. Fashion is a series of recurring changes in the choice of a group of people which, though they may be accompanied by utility, are not determined by it.
Ross : *Social Psychology*.

2. Fashion is a type or phase of social convention, characterized mainly by its changing and competitive character.
James Drever : *The Dictionary of Psychology*.

किम्बाल यंग के शब्दों में, "कुछ विशिष्ट लोकाचारों के परिवर्तन हेतु उन्हीं के द्वारा प्रोत्साहित, प्रचलित प्रयोग, ढंग, अभिव्यक्ति, प्रस्तुतिकरण अथवा धारणा को फैशन कहते हैं।"[1]

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "फैशन का तात्पर्य लोकाचार के आधार पर हुए परिवर्तन के प्रक्रम से है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि फैशन की प्रक्रिया से सामाजिक-सांस्कृतिक सीमाओं के अन्तर्गत जनरुचि की अभिव्यक्तियों, अभिरुचियों, धारणाओं, बोल-चाल, खान-पान, रीति-रिवाज आदि का दिनानुदिन पुनरुत्थान, नवीनीकरण और परिमार्जन होता रहता है।

फैशन की विशेषताएँ
(Characteristics of Fashion)

उपरिकथित फैशन की परिभाषाओं के आधार पर फैशन की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकाशित की जा सकती हैं :

(१) **परिवर्तन**—कोई भी प्रचलित फैशन स्थायी नहीं होता है। जब तक उसमें नवीनता रहती है तब तक वह जनरुचि को आमंत्रित करता रहता है। बहुत अधिक व्यापक होने पर वह सामान्य हो जाता है तथा उसके प्रति जनसाधारण का आकर्षण विलीन होने लगता है। परिणामतः फैशन के नूतन आविष्कार होने लगते हैं। समाज, जितना ही विकासशील होता है, फैशन, उतना ही लघुकालीन होता है।

(२) **अनुकरण**—अनुकरण द्वारा ही फैशन का विस्तार होता है। कोई एक व्यक्ति किसी अलौकिक फैशन को धारण करता है, शेष उसका अनुकरण करते हैं। अनुकरण से ही प्रचलन में आने वाली किसी वस्तु को फैशन कहते

1. Fashion may be defined as the current or prevailing usage, mode, manner or characteristic of expression, presentation, or conception, of those particular cultural traits which custom itself allows to change.

—Kimball Young : *A Handbook of Social Psychology*.

2. "By Fashion we mean the socially approved sequences of variations on a customary theme."

—MacIver and Page : *Society*.

हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति फैशन का प्रयोग तुलनात्मक बोध से प्रेरित होकर करता है। समाज में जितना ही अधिक सामाजिक विभेदीकरण होगा; उतने अधिक फैशन और उनके अनुकरण पाये जाते हैं।

(३) **श्रेष्ठता की भावना**—जहाँ मुक्त समाज होता है और नाना प्रकार के सामाजिक विभेदीकरण पाये जाते हैं वहाँ का जनसमुदाय प्रसंग समूह और तुलनात्मक बोध से पीड़ित होता है। उच्चतम और निम्नतम श्रेणियों में विभाजित व्यक्ति अपने अन्तर्मन की शांति के लिए अपने से ऊँचे स्तर के व्यक्ति के फैशन का अनुकरण करके अपने में श्रेष्ठता महसूस करते हैं। फैशन, निम्नवर्ग के व्यक्ति को उच्च वर्गीय स्तर तक ले जाने में आंशिक रूप से सहायक होता है।

(४) **स्वीकृति :** कोई भी फैशन किसी समाज की सीमाओं, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि की अवहेलना नहीं कर सकता है। किसी बड़े और मुक्त समाज के फैशन, छोटे और अमुक्त समाज में प्रचलित नहीं हो पाते हैं। सामाजिक स्वीकृति प्राप्त न हो सकने के कारण फैशन का धारण, घृणा, परित्याग एवं परिहास का कारण बन जाते हैं।

(५) **अनुपयोगिता :** फैशन का कोई विशेष उपयोग या तार्किक आधार नहीं होता है। प्रचलन में आ जाने के पश्चात् फैशन की वस्तुओं का उपयोग तो होने लगता है परन्तु उसको धारण करने में उपयोगिता निहित नहीं होती है। उपयोगिता की अपेक्षाकृत फैशन में नवीनता का ही महत्त्व होता है।

(६) **अनुरुपता :** बहुत से फैशनों का प्रयोग व्यक्ति को केवल इसलिए करना पड़ता है ताकि वह समाज के सामान्य अथवा आधुनिक व्यक्तियों जैसा लगे और उनके अनुरूप रह सके। प्रायः व्यक्तियों को फैशन के नाम पर बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता है जिसके लिए उनकी हार्दिक इच्छा नहीं होती। फैशन पिछड़े हुए व्यक्तित्वों को आधुनिक व्यक्त्वों के अनुरूप सजाता-संवारता चलता है।

फैशन के मनोवैज्ञानिक कारक
(Psychological Factors of Fashion)

फैशन के सन्दर्भ में उल्लिखित, अनुकरण, परिवर्तन, अनुरुपता, अनुपयोगिता आदि अनेक विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि फैशन का कोई तार्किक

आधार नहीं है । यह मुख्यतः मनोवैज्ञानिक कारकों से प्रेरित होता है । फैशन को प्रोत्साहित करने वाले मुख्य कारक निम्नलिखित हैं :

(१) व्यक्तिवाद (Individualism) आज के युग में तीव्रता से बढ़ रही जनसंख्या व नागरीकरण के फलस्वरूप किसी एक व्यक्ति के अस्तित्त्व का कोई महत्व नहीं है । वृहद् सम्प्रेषण और वृहद जनसमुदाय में एक व्यक्ति अपने आप को उपेक्षित व उखड़ा हुआ महसूस करता है । उसकी ये महत्व-हीनता उसे सदैव कुंठित रखती है । इससे बचने के लिए उसे फैशन के अनेक माध्यमों से अपने आप में एक विशिष्टता (Exclusiveness) का समावेश करना होता है । नाना प्रकार के फैशनों का प्रयोग करने से मनुष्य के व्यक्तित्व में एक पृथकता आती है जिसके फलस्वरूप वह शेष सामान्य व्यक्तियों से अपने आप को भिन्न व श्रेष्ठ सिद्ध करता है ।

(२) नवीनता (Novelty) यान्त्रीकरण ने समाज और उसकी इकाइयों को यन्त्रवत कर दिया है । व्यक्ति अपनी दिनचर्या और जिन्दगी की रुटीन से इतना अधिक ऊब चुका है कि यदि उसकी जीवन शैली में कुछ विलक्षणता एवं नूतनता दृष्टिगोचर न हो तो उसका आत्मनाश हो जाये । आज के व्यक्ति के लिए एक सुनिश्चित और घिसापिटा जीवन बिता सकना सम्भव नहीं है इसलिए वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता की खोज करता है । परिणामतः मनुष्य के भोजन, पहनावे आचार आदि में आए दिन नूतनता और परिवर्तन का प्रादुर्भाव होता रहता है ।

(३) हीनत्त्व का वहिष्कार (Rejection of Inferiority Complex) प्रायः सभी व्यक्तियों में इतनी बौद्धिक कुशलता और अधिक क्षमता नहीं होती है कि वह समाज के साधारण व्यक्तियों से ऊपर उठ सकें। ऐसी दशा में व्यक्ति अपने आप में हीनता और पिछड़ापन महसूस करता है। इस हीनत्त्व को छिपाने के लिए उसे एक कृतिम आवरण की आवश्यकता होती है जिसमें वह अपने स्वरुप को छिपाकर समाज के अन्यतम व्यक्तित्वों में घुलमिल सकने का प्रयास करता है। प्रायः शारीरिक हीनता को छिपाने के लिए भी विलक्षण फैशनों का प्रयोग किया जाता है। मनुष्य अपने अभावों और अयोग्यताओं की न्यूनतापूर्ति फैशन के माध्यम से कर सकने का प्रयास करता है। स्त्रियों में इस हीनता का प्रार्दुभाव सबसे अधिक होता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षाकृति अधिक हीन और पिछड़ी हुई समझी जाती हैं तथा

उनके मानसिक आयाम अधिक संकुचित होते हैं। वे इस अभाव की पूर्ति फैशन द्वारा करती हैं।

(४) यौन आर्कषण (Sex Attraction)—यौन आर्कषण भी फैशन का एक प्रमुख प्रेरक है। मुख्यतः स्त्रियों व पुरुषों के बीच नाना प्रकार के वस्त्रों, आभूषणों, प्रसाधनों आदि का प्रयोग परस्पर आर्कषण के लिए किया जाता है। प्रायः कुछ फैशनों का उद्गम केवल यौन संवेगों को उभारने के लिए ही होता है। वर्तमान युग में प्रचलित मिनी स्कर्ट, टापलेस, बैकलेस आदि इसके अनेक ज्वलन्त उदाहरण हैं। यौन आकर्षण के लिए फैशन का प्रयोग मुख्यतः युवक पीढ़ी के स्त्री-पुरुषों में देखा जाता है।

(५) पारिवारिक स्तर (Family Status)—जिस प्रकार व्यक्ति अपने निजी व्यक्तित्व को छिपाने के लिए फैशन का प्रयोग करता है उसी प्रकार वह पारिवारिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अपने स्त्री और बच्चों सहित फैशन का अनुकरण करता है। मुक्त समाज में वर्ग-स्पर्धा पाई जाती है। नए फैशनों का आविष्कार उच्चस्तरीय वर्ग से प्रारंभ होता है और निम्नस्तरीय वर्गों द्वारा उसका अनुसरण किया जाता है।

फैशन तथा प्रथा
(Fashion and Custom)

अनेक समाजशास्त्रियों ने फैशन और प्रथा को विभेदीकृत किया है। हरबर्ट स्पेन्सर के दृष्टिकोण में फैशन, विभिन्न सामाजिक वर्गों में फैले विभेदों को मिटाने का साधन है। जब प्रथायें क्षीण हो चलती हैं तो फैशन का प्रादुर्भाव होता है। फैशन औद्योगीकरण में समन्वय की भूमिका अदा करता है। गैबरिल टार्ड के अनुसार फैशन समकालीन युग का अनुकरण करता है जब कि प्रथा अपने पूर्व कालीन युग का अनुकरण करती है। मैकाइवर और पेज का मत है कि फैशन का अपना एक निरन्तर प्रवाह होता है जो समाज के उस पक्ष को प्रभावित करता है जिसके प्रति सामाजिक मूल्य उदासीन रहते हैं। फैशन का सम्बन्ध वैचारिकी, विश्वास, मनोरंजन प्रसाधन, कला, साहित्य, संगीत आदि से भी होता है। इन सब क्षेत्रों में फैशन, प्रथाओं का उल्लंघन नहीं करता है परन्तु उनका न्यूनतापूरक होता है। प्रथाओं और फैशन में बहुत कुछ समानता होने के बावजूद भी इनमें विरोधाभास है।

निम्नांकित विन्दुओं में इनकी भिन्नताओं का स्पष्टीकरण किया जा सकता है :

(१) फैशन अपरम्परावादी होते हैं जब कि प्रथाएँ, परम्पराओं का अनुकरण करती हैं। प्रथाओं की मान्यताओं और रुढ़ियों के नियन्त्रण से जो जीवन-पक्ष शेष रह जाता है वह फैशन से प्रभावित होता है।

(२) फैशन किसी जनसमुदाय के सांस्कृतिक-सामाजिक "परिवर्तन" के द्योतक होते हैं। प्रथाओं से किसी समाज की परम्परागत "प्राचीन" संस्कृति का बोध होता है।

(३) फैशन अस्थायी और परिवर्तनशील होते हैं। एक बार समाप्त हो जाने के प्रश्चात वे पुनः प्रचलन में आ सकते हैं। प्रथाएँ स्थायी हुआ करती हैं और विलीन होने के बाद उनका पुनर्स्थापन कठिन होता है।

(४) फैशन आत्म प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होता है। इसलिए इसका ध्येय सामान्य जन-जीवन से पृथकता प्रगट करना होता है। प्रथाएँ व्यक्तित्व-वादी न होकर, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय सिद्धान्त पर आधारित होती हैं। इसलिए इनका ध्येय समाज में अनुरुपता तथा एक रसता का प्रादुर्भाव करना होता है।

(५) फैशन का उद्गम किसी विशेष आवश्यकता के लिए नहीं होता है। प्रथाओं द्वारा समाज के विशाल समस्याओं के निदान खोजे जाते हैं और आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।

(६) फैशन, प्रायः समाज और संस्कृति के भौतिक स्वरुप से सम्बद्ध होता है। प्रथाएँ, समाज की अभौतिक संस्कृति को प्रभावित करती हैं। इनका सम्बन्ध मुख्यतः रुढ़ियों, विश्वासों, वैचारिकी आदि से होता हैं।

फैशन का सामाजिक महत्व
(Social Significance of Fashion)

फैशन, सामाजिक संरचना, परिवर्तन, और गतिशीलता का परिचायक होता है। सामाजिक जीवन के समस्त मानव व्यवहार फैशन से लक्षित होते हैं। सामाजीकरण में फैशन का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिस प्रकार निम्न-स्तरीय व्यक्ति, उच्यस्तरीय व्यक्ति के व्यवहारों और धारणाओं का अनुकरण करता है उसी प्रकार युवा पीढ़ी भी वयस्क पीढ़ी के चाल-चलन और व्यवहारों

का अनुकरण करती है। एक परिवार के प्रयोग में लायी जाने वाली वस्तुएँ और उसके व्यवहार शिशुओं के सामाजीकरण की प्रक्रिया में हस्तांतरित होते रहते हैं। छोटा बच्चा आरंभ से ही अपने से बड़ों जैसा खान-पान और बोल-चाल सीखता है जो किसी न किसी फैशन से प्रभावित हुआ करते हैं। किसी भी युवक पीढ़ी का सदस्य अपने समकालीन प्रचलित फैशन की सजीव प्रतिमा होता है।

फैशन से वर्ग की संरचनाओं में परिवर्तन होता है और विभिन्न वर्गों में मनुष्य की गतिशीलता बढ़ती है। अस्थायी होने के कारण फैशन में आए दिन परिवर्तन होते रहते हैं जिसके फलस्वरूप समाज की वर्ग व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। स्तरीकरण के कारण मनुष्य में अनुकरण की भावना जागृत होती है और वह फैशन के माध्यम से दूसरे समाज अथवा वर्ग से अपना आत्मसात करता है। जीवन में उन्नति और आरम्भ की वृद्धि फैशन की देन है क्योंकि फैशन जीवन की कृतिम सज्जाओं और व्यर्थ के परिवर्तनों से सम्बन्धित होता है। इसलिए इससे विलासोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामतः उत्पादन की वृद्धि से उन्नति और विलोसोपयोगी वस्तुओं के उपयोग से आराम के क्षेत्र विस्तृत होते हैं। जीवन का स्तर जितना ही ऊंचा होगा फैशन के चरण उतने ही व्यापक होंगे।

जटिल प्रजातांत्रिक सभ्यताओं में समन्वय हेतु फैशन एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। किसी निरर्थक अथवा ओछे समूह को फैशन से बड़ा सहारा मिलता है। दूसरे शब्दों में जब कोई व्यक्ति या समूह अत्याधिक फैशन का प्रयोग करता है तो स्पष्टतः वह किसी अस्थायी अवनति के स्तर पर से गुजरता होता है। फैशन से विभिन्न समुदायों के बीच एक सामान्य प्रतिमाय की स्थापना होती है जिसके फलस्वरूप विभिन्न व्यक्ति एक सर्व सामान्य आधार पर एकत्रित हो सकते हैं।

यद्यपि जन समुदाय के सभी समूह फैशन से प्रभावित होते हैं फिर भी फैशन जीवन के लागत खर्च की एक मद है। इसीलिए फैशन बहुत कुछ व्यक्ति के आर्थिक साधनों पर निर्भर होता है और इसका प्रचलन मुख्यतः पूंजी-वादी और बृहत् प्रजातांत्रिक अर्थ व्यवस्थाओं में ही देखने को मिलता है।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. E. A. Ross : Social Psychology.
3. Kimball Young : A Handbook of Social Psychology.
4. J. C. Flugel : The Psychology of Clothes.
5. Elizabeth Hawes : Why is a Dress ?

Questions

१. फैशन की परिभाषा कीजिये और यह स्पष्ट कीजिये कि यह किस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण का अभिकरण है ?
Define fashion and explain how it is an agency of social control ?

२. फैशन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
Write a short essay on Fashion.

३. फैशन से आप क्या समझते हैं ? इनकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
What do you understand by fashion ? Discuss its main characteristics.

४. फैशन क्या है ? प्रथा तथा फैशन में भेद स्पष्ट कीजिये।
What is fashion ? Differentiate between custom and fashion.

५. फैशन का सामाजिक महत्व बतलाइये।
Discuss the social significance of fashion.

अध्याय २२

हास्य-व्यंग्य
(RIDICULE)

हास्य-व्यंग्य अथवा परिहास सामाजिक प्रशिक्षण एवं नियन्त्रण का एक प्राचीन अंग रहा है। प्राचीन काल की सामान्तवादी शासन-व्यवस्था में परिहास का उपयोग एक प्रशासकीय अनिवार्यता समझा जाता रहा है। उस युग की मंत्रिमण्डलीय संरचना में एक पद बिदूषक के हेतु भी सुरक्षित रक्खा जाता था। राज्य की अनेक गुत्थियां मंत्रिमण्डल के गम्भीर विदूषकों के द्वारा सुलझाई जाती थीं। इतिहास में बीरबल जैसे अनेक पात्र मिलते हैं जो उच्चकीय राज्यस्तर पर प्रतिष्ठित होकर परिहास के माध्यम से राज्य की जटिलतम राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओं के निदान खोजते थे। तब से लेकर अब तक परिहास की आवश्यकता, इसके प्रयोग तथा महत्व में बढ़ोत्तरी होती चली आई है। इसके स्वरुप और प्रतिमानों में निरन्तर विकास होता रहा है तथा आज के प्रजातांत्रिक युग में यह आधुनिक समाज की एक आवश्यकता बन चुकी है। द्वितीय महायुद्ध के विनाशकारी परिणामों, वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास ने मानवीय जीवन की शैलियों में आधार भूत परिवर्तन किए हैं। इसके साथ-साथ विभिन्न संस्कृतियों के प्रसरण और संगम ने सामाजिक जीवन को अमुक्त समाज से मुक्त पर्यावरण में फेंक कर एक अजीब उलझन और भ्रम में डाल दिया है। आज के मनुष्य का सही पथ-प्रदर्शन नहीं हो पा रहा है। वह संस्थागत साधनों से अपने लक्ष्यों की पूर्ति करने में असमर्थ है। परिणामतः विघटनकारी प्रवृत्तियों का प्रसार सभी समाजों में हो रहा

है। जहाँ एक ओर सामाजिक नियंत्रण में नए साधनों का प्रादुर्भाव हुआ है वहीं दूसरी ओर वैज्ञानिक अपराध, भ्रष्टाचार तथा सामाजिक विचलन का भी उद्गम हुआ है।

ऐसी दशा में अवांछित परिवर्तनों की आलोचनात्मक समीक्षा करके समाज की खामियों को इंगित करने के लिए परिहास जैसी एक संस्था की अनिवार्यता सार्वभौमिक है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से हास्य-व्यंग्य का अभिप्राय उस हास्य से नहीं होता है जो केवल हंसी का कारक है वरन् उस व्यंग्य से है जो किसी असमाजिक व्यवहार, घटना, आदर्श अथवा मूल्य को सामाजिक-सांस्कृतिक कसौटी पर कस कर उपहास द्वारा आलोचित कर देता है। परिहास, इस प्रकार सदैव सामाजिक-सांस्कृतिक सीमाओं के भीतर रहता है। सामाजिक खामियों का प्रतीकात्मक प्रस्तुतिकरण करना परिहास का ध्येय होता है। यह प्रस्तुतिकरण व्यक्तिगत भी हो सकता है तथा सामाजिक भी। फैशन, रीति-रिवाज, विचार, धारायें, सामयिक राजनैतिक-सामाजिक घटनाएँ एवं व्यक्तित्व, प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ आदि सभी का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन व्यंगकार ही करता है।

व्यंग्य अथवा परिहास वस्तुतः एक गंभीर साधना है। इसका सृजन एवं ग्रहण दोनों के लिए सूक्ष्म सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है। गम्भीर उद्देश्यों के साथ-साथ हास्य पुट होने के कारण परिहास का प्रभाव बाध्यतामूलक न होकर स्वेच्छा मूलक होता है। जीवन में घटित परिहास अविस्मरणीय होते हैं। एक परिहास सम्पूर्ण जीवन के संकल्पों को निर्धारित कर देने के लिए पर्याप्त होता है। सामाजिक स्तर पर आ जाने के बाद परिहास बड़े व्यापक हो जाते हैं तथा कहावतों, लोकोक्तियों, दोहों, चुटकुलों आदि का स्वरूप ले लेते हैं। परिहास के प्रतिमानों में बृहत् सम्प्रेषण तथा तीव्र ज्ञानात्मक बोध होता है। इसका प्रयोग सामाजिक नियंत्रण के लिए एक विशिष्ट स्थान रखता है। परिहास समाज के हितकारी मूल्यों की सुरक्षा करके अवांछित व्यक्तित्व, नेतृत्व, प्रचार अथवा वैचारिकी का आमूल नाश कर देता है।

हास्य-व्यंग्य एक संस्था के रूप में
(Ridicule as a Social Institution)

वर्तमान कार्टून कला की टेकनीक, विषयवस्तु और समालोचना की सीमा तथा उसकी लोकप्रियता पर ध्यान दिया जाय तो हास्य-व्यंग एक

सामाजिक संस्था का रूप ले चुका है। सामाजिक संस्था के दो पक्ष होते हैं। (क) मानसिक और (ख) व्यवहारगत। सामाजिक संस्था द्वारा व्यवहारों के प्रतिमान (Norms) निर्धारित किये जाते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हास्य-व्यंग्य व्यवहारों के प्रतिमान निर्धारित करने वाली एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा की जाने वाली आलोचना प्रायः किसी को भी अप्रिय नहीं लगती। हास्य और व्यंग्य के अन्तर्गत प्रस्तावित सामग्री को स्वीकार कर लिया जाता है। इस अर्थ में यह एक सामाजिक संस्था है।

सामाजिक नियंत्रण का एक प्रभावशाली अभिकरण होने के साथ-साथ, परिहास सामाजिक आलोचना की एक महत्वपूर्ण संस्था हैं। यह एक ऐसी संस्था है जो सामाजिकता के प्रति पूर्ण रूप से निरन्तर जागरुक रहती है। परिहास, सामाजिक मूल्यों के परख की अन्तिम कसौटी होती है। यदि कोई मूल्य इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है तो फिर उसका समाज में पनप सकना बड़ा कठिन हो जाता है। धर्म के मूल्य समाज में सबसे अधिक जटिल तथा गहन समझे जाते हैं परन्तु किन्हीं परिवर्तनों अथवा व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण जब इनका निर्वाह सामाजिक विकास में बाधक सिद्ध होता है तो परिहास की संस्था इनके विस्थापन में सहायक होती है। इसी प्रकार राज्य के द्वारा जब समाज-सुधार के अभियान चलाए जाते हैं तो परिहास उसमें हस्तक्षेप करता है। मानव जाति के मूल अधिकारों की सुरक्षा, परिवर्तन की दिशा की उपयुक्तता, तथा वर्तमान और भावी पीढ़ियों के प्रश्न को लेकर परिहास इन अभियानों को अनेकानेक प्रकार से निरुपित-विश्लेषित करता है। परिहास की स्वीकृति न मिलने पर अभियानों की सफलता के प्रयास कठिन और दीर्घकालीन हो जाते हैं।

सामाजिक नियंत्रण को प्रेरणाएँ, सामाजिक संस्थाओं में निहित होती हैं। ये व्यक्ति और सामाजिक परिवर्तन के बीच समन्वय स्थापित करके विकास की दिशा प्रशस्त करती हैं।

हास्य-व्यंग्य के स्वरूप
(Forms of Ridicule)

सामाजिक नियंत्रण के सन्दर्भ में हास्य-व्यंग्य के निम्नलिखित स्वरूपों का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) **साहित्यक हास्य-व्यंग्य** (Leterary Satire) : इसके अन्तर्गत लेख, काव्य, कथाएँ, व्यंग-सूक्तियाँ आदि आती हैं। यह परिहास का

मुख्यतः साहित्यिक पक्ष है जिसका सृजन कुछ विशिष्ठ बुद्धिजीवियों द्वारा किया जाता है। इसके सम्प्रेषण का माध्यम समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें होती हैं। संचार के वृहद् माध्यम से सम्बद्ध होने के कारण इसका सम्प्रेषण-क्षेत्र काफी विशाल होता है। घटनाओं तथा व्यक्तित्वों को किसी अपेक्षित नकारात्मक स्तर तक पहुंचा सकने में लिखित परिहास को एक सफल साधन माना जाता है।

जब किसी सामान्य या वैचारिकी की आलोचना करनी होती है तो उसे नाटकीय स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है। इसका कोई निश्चित क्षेत्र नहीं होता है। इसे रंगमंच तथा चलचित्रों में अभिनीत किया जा सकता है; लोक नृत्यों तथा सर्कस में विदूषकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है; एवं मित्र-मण्डलियों, सार्वजनिक गोष्ठियों, सभाओं आदि में इसका प्रदर्शन हो सकता है। परिहास का नाटकीय स्वरूप एक पेशेवर कला भी है।

(२) लोक हास्य-व्यंग्य (Folk-Satire) यद्यपि लोक हास्य-व्यंग्य में भी साहित्यिक परिहास की भाँति शब्दों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इसमें अभिनय का दिग्दर्शन नहीं होता है। किसी घटना या व्यक्ति का उपहास करने के लिए उस पर अटट्हास करना, आवाज कसना, छीटांकशी करना, फबतियाँ मारना, ताना देना आदि मौखिक परिहास के स्वरूप होते हैं। प्रायः यह कुछ मनुष्यों में उनके एक विशिष्ट स्वाभाविक गुण के रूप में पाया जाता है। यह कोई पेशेवर कला नहीं है।

(३) व्यंग्य-चित्रण (Cartoons) चित्रित परिहास आज के युग का सबसे अधिक प्रभावशाली परिहास है। इसे व्यंग्य चित्रण अथवा कार्टून कला कहते हैं। रेखीय व्यंगाभिव्यक्ति होने के कारण प्रायः कार्टून भाषा की सीमाओं से मुक्त होते हैं। फलस्वरूप चित्रित परिहास का क्षेत्र, लिखित परिहास से भी कहीं अधिक होता है। विज्ञापनों राजनैतिक-धार्मिक-सामाजिक क्षेत्रों, चलचित्रों तथा बालोपयोगी साहित्य में इसका प्रभावशाली प्रयोग किया जाता है। गहन अनुभूति एवं संक्षिप्त स्वरूप इसकी विशेषता है।

उपरिलिखित परिहास के प्रमुख स्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त इसके स्वरूपों के अन्य गौण वर्गीकरण भी किए जा सकते हैं जिनके अन्तर्गत कहावतों, लोकोक्तियों, चुटकुलों, स्वांगों, लतीफों, लोक गीतों और लोक गाथाओं आदि का समावेश किया जा सकता है। परिहास के ये स्वरूप सभी प्रकार के समाजों में पाये जाते हैं।

सामाजिक नियंत्रण में हास्य-व्यंग्य की भूमिका
(Role of Ridicule in Social Control)

सामाजिक नियंत्रण में हास्य-व्यंग्य का महत्व नियंत्रण में उपकरण, अभिकरण एवं संस्था के रूप में अनेक प्रकार से उल्लेखनीय है। परिहास समाज में बढ़ रहे अतिरिक्त दबाव को कम करने के साथ-साथ व्यक्ति का परिस्थितियों से समंजन करने में सहायक होता है। सांस्कृतिक-सामाजिक स्थिरीकरण तथा उनके मूल्यों को सुरक्षित रखने में परिहास का महत्वपूर्ण योगदान है। समाज के भावनात्मक पक्ष जैसे कला, नृत्य, संगीत, साहित्य आदिकी निरन्तर समीक्षा, परिहास की संस्था द्वारा होती रहती है। सामाजिक नियंत्रण में हास्य-व्यंग के निम्नलिखित विन्दुओं पर प्रकाश डाला जा सकता है :

(१) **सामाजिक सन्तुलन** (Social Equilibrium) परिहास में कुछ ऐसी नियंत्रणात्मक प्रेरणाएँ होती हैं जो समाज की व्यवस्था को सदैव संतुलित किए रहती हैं। समाज पर जब कुछ ऐसे नये मूल्य और प्रचलन आच्छादित होने लगते हैं जो सामाजिक संगठन के लिए हितकर नहीं समझे जाते तो उनका उपहास करके उन्हें समाज में प्रवेश करने से रोका जा सकता है। इसी प्रकार समाज में जब कुछ विश्वास और आदर्श इतने पुराने तथा निरर्थक हो जाते हैं कि जिनका अस्तित्व समाज के विकास में बाधा उत्पन्न करता है तो फिर उपहास से ही उन्हें उखाड़ने में सहायता मिलती है। अतएव नवीन और पुराने मूल्यों के बीच समाज को संतुलित रखना परिहास का उल्लेखनीय कार्य है :

(२) **विफलताओं का न्यूनतापूरक** (Sublimation of Failures) परिहास उन व्यक्तियों के लिए बहुत बड़ा सम्बल होता है जो समाज में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। प्रायः प्रसंग समूह से पीड़ित व्यक्ति ऐसी वस्तुओं और स्तरों की महत्वकाक्षाएँ रखते हैं जो सामान्यतः उनकी सामर्थ्य से परे होती हैं। उनकी उपलब्धि न हो पाने पर व्यक्ति हताश और निराशावादी हो जाता है तथा सामाजिक जीवन से समंजन करने में उसे कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। ऐसी परिस्थिति में परिहास का सहारा लेकर वह जीवन में अप्राप्य वस्तुओं और स्तरों की उपेक्षा करने में सफल हो जाता है। समाज का अभावग्रस्त व्यक्ति अपने अभावों को निरर्थक समझते हुए उन्हें हँसकर टाल जाता है तथा अपनी ही उपलब्धियों के बीच स्वयं को

सुसमंजित कर लेता है। परिहास जीवन की असफलताओं और अभावों का लाभकारी मरहम समझा जाता है।

(३) विचलनकारी तत्वों का नियंत्रण (Control of Deviant Behaviour) परिहास समाज में ऐसे तत्वों को नहीं पनपते देता है जो व्यक्ति अथवा समूह के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। अनैतिकता, शोषण सामाजिक असमानता आदि को परिहास से सदैव खतरा रहता है। व्यक्ति अपनी विचलनकारी प्रवृत्तियों के प्रति न्याय एवं दण्ड से उतना भयभीत नहीं रहता है जितना परिहास से रहता है। कोई अनैतिक कार्य करने पर यदि जग-हंसाई का भय न हो तो व्यक्ति को केवल दण्ड भोग लेने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। इस प्रकार परिहास केवल विचलनकारी प्रवृत्तियों को ही रोकने में सफल नहीं होता है वरन् वे व्यक्ति जो विचलित हो चुके होते हैं उन्हें भी सही मार्ग पर लाने की क्षमता रखता है।

(४) विज्ञापन और प्रचार (Advertisement and Propaganda) व्यापारिक-राजनैतिक-सामाजिक स्वार्थों के विज्ञापन तथा प्रचार के लिए हास्य-व्यंग्य एक उत्कृष्ट साधन माना जाता है। व्यापारी पत्र-पत्रिकाओं में कार्टून-विज्ञापन अथवा परिहास के अन्य स्वरुपों से अपनी वस्तुओं के उपभोग के लिए समाज को प्रात्सोहित करते हैं। इन विज्ञापनों में रुढ़िग्रस्त एवं पुरानी वस्तुओं के उपभोग का उपहास करके विज्ञापित वस्तुओं द्वारा आधुनिक सामाजिक जीवन की दलीलें प्रस्तुत की जाती हैं। इससे वृहत उपभोग और उसके फलस्वरूप सामाजिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार राजनैतिक गतिविधियों का भी व्यंग्य चित्रों, व्यंग्य लेखों आदि के द्वारा वस्तु-विश्लेषण किया जाता है। नेतावाद के प्रसरण के लिए प्रजातान्त्रिक समाज-व्यवस्था में, परिहास एक सफल तकनीक सिद्ध होती है इसके अतिरिक्त, चलत्रित्रों, नाटकों, सभाओं तथा अन्य सांस्कृतिक आयोजनों में परिहास के माध्यम से, प्रचलित मूल्यों की खामियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है। इनसे सबक सीख कर व्यक्ति अपना सही मार्ग जान लेता है।

Selected Readings

I. Dr. R. K. Mukerjee : The Social Structure of Values.
2. L. A. Doust : A Manual of Caricature and Cartoon Drawing.

3. Luise Crainz and Olive C. Riley : Exploring Art.
4. Stephen Blecker : Comic Arts in America.
5. गौड़ तथा पान्डे : हास्य-परिहास ।
6. डा० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त ।
7. सद्गुरु दयाल कुल : शोध निबन्ध : भारतीय व्यंग्य-चित्रों का समाज-शास्त्रीय महत्व (अप्रकाशित) ।

Questions

१. हास्य-व्यंग्य से आप क्या समझते हैं ? इसके विविध रूपों का वर्णन कीजिए ।
What do you understand by ridicule. Discuss its various forms.

२. सामाजिक नियन्त्रण में हास्य-व्यंग्य की भूमिका बताइये ।
Discuss the role of ridicule in social control.

३. सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण के रूप में हास्य-व्यंग्य की व्याख्या कीजिये ।
Explain ridicule as an agency of social control.

४. 'हास्य-व्यंग्य एक सामाजिक संस्था है ।' समालोचना कीजिये ।
'Ridicule is a social institution.' Comment.

अध्याय २३

कानून
(LAW)

कानून एक सामाजिक अनिवार्यता है। यह सभी समाजों में विकास एवं प्रगति के प्रत्येक स्तर पर पाया जाता है। इससे सामाजिक व्यवहारों के प्रतिमान और मापदण्ड निर्धारित होते हैं तथा व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों का संरक्षण होता है। कानून के उद्‌गम के स्रोत सम्बद्ध समाज के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, प्रथाएँ, रुढ़ियाँ, धर्म, आदि होते हैं। जो समाज पूर्णतयः विकसित नहीं है उनमें परम्पराएँ तथा प्रथाएँ ही कानून का स्थान ले लेती हैं।

सामान्यतः कानून के जिन्हें कभी-कभी नियम भी कहा जाता है, तीन प्रकार हो सकते हैं। प्राकृतिक, सामाजिक और राजनैतिक। प्राकृतिक नियम कारण एवं प्रभाव के सम्बन्धों को प्रगट करते हैं। गुरुत्वाकर्षण तथा रसायनिक नियम प्राकृतिक होते हैं। इन नियमों का पालन करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है। ये स्थायी और निश्चित होते हैं तथा मनुष्य इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। सामाजिक नियमों का निर्माण व्यक्तियों की आवश्यकताओं और अनुभूतियों के अनुरुप होता है। यद्यपि ये नियम मनुष्य के आन्तरिक कार्यों एवं उद्देश्यों का नियन्त्रण करते हैं परन्तु मनुष्य इनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं होता है। इन नियमों में समय-समय पर संशोधन परिवर्तन भी होते रहते हैं। राजनैतिक नियम बहुत

अध्याय २३

कानून
(LAW)

कानून एक सामाजिक अनिवार्यता है। यह सभी समाजों में विकास एवं प्रगति के प्रत्येक स्तर पर पाया जाता है। इससे सामाजिक व्यवहारों के प्रतिमान और मापदण्ड निर्धारित होते हैं तथा व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों का संरक्षण होता है। कानून के उद्गम के स्रोत सम्बद्ध समाज के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, प्रथाएँ, रुढ़ियाँ, धर्म, आदि होते हैं। जो समाज पूर्णतय: विकसित नहीं है उनमें परम्पराएँ तथा प्रथाएँ ही कानून का स्थान ले लेती हैं।

सामान्यत: कानून के जिन्हें कभी-कभी नियम भी कहा जाता है, तीन प्रकार हो सकते हैं। प्राकृतिक, सामाजिक और राजनैतिक। प्राकृतिक नियम कारण एवं प्रभाव के सम्बन्धों को प्रगट करते हैं। गुरुत्वाकर्षण तथा रसायनिक नियम प्राकृतिक होते हैं। इन नियमों का पालन करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है। ये स्थायी और निश्चित होते हैं तथा मनुष्य इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। सामाजिक नियमों का निर्माण व्यक्तियों की आवश्यकताओं और अनुभूतियों के अनुरुप होता है। यद्यपि ये नियम मनुष्य के आन्तरिक कार्यों एवं उद्देश्यों का नियन्त्रण करते हैं परन्तु मनुष्य इनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं होता है। इन नियमों में समय-समय पर संशोधन परिवर्तन भी होते रहते हैं। राजनैतिक नियम बहुत

कुछ प्राकृतिक नियमों की भांति बाध्यतामूलक होते हैं। इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है तथा इनका उल्लंघन दण्डनीय होता है। प्रस्तुत चर्चा इन्हीं नियमों से सम्बद्ध है।

परिभाषायें (Definitions)

प्रत्येक राज्य को अपने कार्यक्षेत्र की व्याख्या करने तथा मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुसार कुछ नियम बनाने पड़ते हैं जिन्हें कानून कहते हैं। समाजशास्त्रियों एवं कानून के दार्शिनिकों ने अनेक मत प्रस्तुत किए हैं जिनमें से कुछ यहां उद्धरत हैं।

मैकाइवर और पेज कहते हैं "कानून नियमों का वह रुप है जो राज्य के न्यायालयों द्वारा स्थितियों के प्रति मान्य होता है, स्पष्टीकरण देता है तथा प्रयोग में आता है। आचार सहित वह अनेक स्रोतों से उत्पन्न होता है और तब वह कानून बन जाता है जब राज्य, जो अपने अन्तिम कार्यरुप में न्यायालय है, अपने क्षेत्राधिकार के भीतर नागरिकों और निवासियों पर उसे नियम के रुप में लागू करता है"[1]

हॉबेल के अनुसार "कानून एक सामाजिक आदर्श है जो धमकी अथवा शारीरिक बल के माध्यम से उस पक्ष के द्वारा प्रयोग किया जाता है जिसे ऐसा करने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है"।[2]

---

1. "Law is the body of rules which are recognized, interpreted, and applied to particular situations by the courts of the state. It derives from various sources, including custom, but it becoms law when the state, which means in the last resort the courts, is prepared to enforce it as a rule binding on citizens and residents within its jurisdiction."

—MacIver & Page : *Society.*

2. "A law is a social norm, the infraction of which is sanctioned in thereat or in fact by the application of physical force by a party possessing the socially recognized privilege of so acting."

—Hoeble.

मदन तथा मजुमदार के मतानुसार, "कानून के अन्तर्गत कुछ सिद्धान्तों का एक संग्रह होता है जो एक क्षेत्र के भीतर सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन बनाए रखने के लिए शक्ति के प्रयोग की आज्ञा देता है।"[1]

गुरविच का मत है कि "कानून का समाजशास्त्र मानवीय क्षमताओं के समाजशास्त्र के अध्ययन का वह अंश है जिसमें कानून के सम्पूर्ण यथार्थ का इसकी स्पर्शनीय एवं वाह्य वैषियक अनुभूतियों समेत इसके व्यवहारिक और भौतिक आधारों का अध्ययन किया जाता है।"[2]

मैक्स रैडिन का कथन है, "अन्ततोगत्वा कानून सामाजिक प्रबंध-यंत्र का मात्र एक छोटा-सा पुर्जा होता है जिसका निकट सम्बध राजनैतिक प्रशासन से होता है। कानून के उद्देश्य न्याय अथवा एक अच्छी समाज रचना न होकर व्यावसायिक व्यवहार की सुविधा, व्यक्तिगत झगड़ों की शान्ति तथा प्रतियोगियों के बीच सद्भावना की वृद्धि करना होते हैं।"[3]

पेट्राजिस्की के विचार में, "अनुप्रेरक कारकों के रुप में कानून हमें अपने कर्तव्यों को करने की प्रेरणा देता है; वैधानिक रुप से हम जिसके अधिकारी हैं वह मांग करने का बल प्रदान करता है।"[4]

---

1. Law consists of a set of principles which permit the use of force to maintain political and social organization within a territory."

—Madan and Mazumdar : *Cultural Anthropology.*

2. "The sociology of law is that part of the sociology of the human spirit which studies the full social realities of law beginning with its tangible and externally objectable expressions in effective connection in behaviour and its material bases"

—Gurvitch.

3. "After all law is merely a small part of the mechanism of social management, closely connected with the mechanisms of political administration. Not justice or good society, but convenience of commercial practice, appeasment of individual quarrels, and increase of goodwill among competitors are the purposes of law······"

—Max Radin.

4. "As motivating forces law urges to do our duty; it gives us the power to demand what we are entitled to by law···".

—Petrajitzsky.

और मैक्स बेवर की व्याख्या के अनुसार, "कानून एक व्यवस्था है। इसकी मान्यता इस सम्भावना पर संरक्षित होती है कि विचलन का सामना विशेष रूप से अधिकृत एक पदाधिकारी द्वारा शारीरिक अथवा मानसिक दण्ड देकर किया जाएगा। इस पदाधिकारी के पास कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिए जिससे यह सम्भावना बनी रहे कि इसका धारण कर्त्ता एक सामाजिक समूह के अन्तर्गत अपनी इच्छाओं को विरोध के बावजूद भी दूसरों पर लाद सकता है।"[1]

कानून की उत्पत्ति तथा विकास
(The Origin and Development of Law)

कानून मानवीय मूल्यों का संरक्षक है। मनुष्य ने जब से सामूहिक जीवन में रहना आरम्भ किया है तभी से वह उत्तरदायित्व एवं नैतिकता के सूत्रों में गुँथता आया है। ये नैतिक बन्धन जैसे-जैसे संगठित होते गए हैं वैसे-वैसे समाज एक आदर्शयुक्त स्वरूप ग्रहण करता रहा है। सामाजिक विकास, युद्ध, वैज्ञानिक प्रगति आदि ने सामूहिक संगठन एवं मानवीय अन्तःसम्बन्धों को और भी जटिलतम बना दिया है। उसी के परिणामस्वरूप समाज के सांस्कृतिक प्रतिमानों तथा सामाजिक मूल्यों के अनुसार विभिन्न समाजों में विभिन्न कानूनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विकास ने कानून के समाजशास्त्रीय चिन्तन के लिए अनेक आयामों का निर्माण किया है। कानून के विकास से सम्बन्धित कुछ समाजशास्त्रीय सम्प्रदायों एवं विद्वानों के मतों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(१) अमरीकी नव-यथार्थवादी सम्प्रदाय (The American Neo-Positivist's School) इस सम्प्रदाय के विद्वान कानून को एक यथार्थ

.1 "Law is an order, the validity of which is guaranteed by the probability that deviation will be met by physical or psychic sanction by a 'Staff' specially, empowered to carry out this function. This staff, obviously, must have power, and power is the probability that an actor can impose, within a social group, his will even against resistance".

—Max Weber.

विज्ञान मानते हैं। इसका विधायक अथवा न्यायाधीश मनुष्य ही होता है जो आर्थिक राजनैतिक तथा पूर्वाग्रहों से प्रभावित हो सकता है। न्यायाधीश अपने निर्णय पर पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है इसलिए एक प्रकार के मामले से सम्बद्ध न्यायाधीश के विभिन्न फैसलों में अन्तर हुआ करता है। कानून पर अपने तत्कालीन युग तथा स्थान का बन्धन होता है और समाज की परिवर्तनशील प्रकृति की भाँति कानून भी परिवर्तनशील और अस्थिर होता है। उसका उद्देश्य न्याय अथवा एक आदर्श सामाजिक संगठन न होकर, व्यावसायिक व्यवहार की सुविधा, व्यक्तिगत फसादों की शान्ति तथा प्रतियोगियों के बीच सद्भावना की स्थापना करना होता है। इस सम्प्रदाय में जिरोम फ्रैंक (Jerome Frank), कार्ल लेवेलिन (Karl Llewellyn) और मैक्स रैडिन (Max Radin) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(२) उप्सला सम्प्रदाय (The Upsala School) यह सम्प्रदाय अधिकार तथा कर्त्तव्य की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि इसके अनुसार ये दोनों एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। इस सम्प्रदाय के समर्थकों के मत में जो व्यवहार सामाजिक मान्यताओं के विपरीत होते हैं वे अवैध कहलाते हैं। वैध व्यवहारों के पीछे सामान्य नियमों का महत्व, कर्त्तव्य की अनुभूति, तथा वाह्य और दैवी शक्तियों का भय होता है। कानून स्वयं में कोई शक्ति नहीं है वरन् यह सामाजिक शक्तियों का प्रतीक है। इस शक्ति की सर्वोच्च संरचना राज्य है जो समाज के सदस्यों के व्यवहारों की सामुच्यता होती है। इस सम्प्रदाय के समर्थक हेगरस्ट्राम (Hagerstrom) आलिवेक्रोना (Olivekrona), जीजर (Geiger) आदि हैं।

(३) दार्शनिक सम्प्रदाय (Philosophical School) इस सम्प्रदाय के अनुसार कानून की व्यवस्था का आधार राजनैतिक शक्ति है जो केवल आदर्शों पर ही निर्भर न होकर तथ्यों पर भी निर्भर होती है। दार्शनिक हॉवर्थ का विचार है कि उद्देश्यपूर्ण शक्ति कानून के लिए यांत्रिकी है। कानून सामाजिक शक्ति की एक आवश्यकता है। इससे एक मनुष्य का व्यवहार दूसरे मनुष्य की क्रियाओं का कारक बन जाता है। शिडलर का मत है कि मानव प्रकृति का अस्तित्व संसार के द्वन्द्वात्मक आदर्शों द्वारा छिन्न-भिन्न होकर समान नियमों को प्रभावित करता है। सिद्धान्ततः इनके निर्णायक कारक वैध धिचार ही होते हैं परन्तु व्यवहारिक रूप से अन्तिम निर्णय राज्य से सम्बद्ध होता है। इस सम्प्रदाय में अनेक विचारधाराएँ हैं तथा शिण्डलर

(Schindler) और हॉर्वाथ (Horvath) के अतिरिक्त हण्टिंगटन (Huntington), केल्सन (Kelsen), कोइंग (Coing), हेसर्ट जीन (Haesaert Jean), रास्को पाउण्ड (Roscoe Pound) जिरोम हाल (Jerome Hall), जूलियस स्टोन Julius Stone), आदि भी हैं।

(४) **मानवशास्त्रीय सम्प्रदाय** (Anthropological School) इस सम्प्रदाय के समर्थक, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति के प्रत्येक स्तर पर कानून का प्रादुर्भाव मानते हैं। धार्मिक धारणाओं के आधार पर विभिन्न समाजों में कुछ नियमों का प्रचलन रहा है जिनसे मानवीय व्यवहार संचालित होते रहे हैं। ये प्रचलन विचारों द्वारा सम्प्रेषित होकर संस्कृति बन जाते हैं। यह संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होकर तथा प्रणालियों का स्वरूप लेकर व्यक्ति और समूह के व्यवहारों को निर्धारित करती है। इस प्रकार व्यक्ति के व्यवहारों में कानून के मूल्य स्वतः समाहित हो जाते हैं और फिर ये मनुष्य की आदत बन जाते हैं। कानून से कर्त्तव्यों की प्रेरणा तथा मौलिक अधिकारों की प्राप्ति होती है। इस सम्प्रदाय के समर्थक मैलिनोवस्की, लिण्टन, पेट्राजिस्की, टीमाशेफ आदि हैं।

उपरोक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त कानून के समाजशास्त्र में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी रही हैं जिनके प्रवर्तकों को उल्लेख इस सन्दर्भ में कर देना उचित होगा।

(१) **दुर्खीम** (Durkheim) इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक एकता के आधार पर कानून के दो प्रकार प्रस्तुत किये हैं : एक तो यांत्रिक एकता में दमनकारी कानून और दूसरा सावयवी एकता में व्यवस्थापक कानून (Repressive Law in Mechanical Solidarity and Restitutive Law in Organic Solidarity) : यांत्रिक एकता में कानून सामूहिक आदर्शों एवं चेतनाओं से प्रेरित होता है। इसमें व्यक्ति विशेष की परिस्थितियों अथवा विशेषताओं का कोई मूल्य भी नहीं होता है। समाज के सभी सदस्यों के लिए कानून की व्यापक धाराएँ होती हैं जिनके अनुसार प्रत्येक अपराधी को एक समान दण्ड भोगना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति कानून की अवहेलना नहीं कर सकता है। यह कानून दमनकारी कहा जाता है। इसके विपरीत सावयवी एकता के व्यवस्थापक कानून में, मनुष्य अपनी विशेषताओं और परिस्थितियों के लिए स्थान बना सकता है। ऐसा

कानून न्याय पर आधारित होते हुए भी व्यक्तिगत परिस्थितियों का व्यवस्थापन करता है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में पारिवारिक, व्यापारिक, सहकारी आदि अनेक कानून देखने को मिलते हैं।

(२) मैक्स वेबर Max Weber) कानून की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों में मैक्स वेबर का योगदान विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मैक्स वेबर ने कानून को सत्ता अथवा प्रधिकार (Authority) का आधार माना है। इस सत्ता के तीन प्रकार होते हैं—परम्परागत, कारिश्मायुक्त एवं वैधानिक। मैक्स वेबर के अनुसार जब किसी क्रिया को किसी भी आदर्श के अनुरूप किया जाता है तो उसमें स्वतः एक व्यवस्था आ जाती है। इस व्यवस्था के दो अंग होते हैं—रूढ़ियां एवं कानून। रुढ़ियों की व्यवस्थानुसार विचलन को सामान्य तथा व्यवहारिक अस्वीकृत प्राप्त होने की प्रक्रिया हो सकता है। इसके विपरीत कानून की व्यवस्थानुसार, विचलन को शक्ति के बल पर दबाया जा सकता है। मैक्स वेबर के विचार में न्यायालयों में प्रचलित कानून का वर्तमान स्वरूप पाश्चात्य सभ्यता की देन है।

(३) गुरविच (Gurvitch) गुरविच के अनुसार कानून, दर्शन तथा समाजशास्त्र के अन्तःसम्बन्धों पर आधारित समाजशास्त्रीय अध्ययन है। सामाजिकता के प्रत्येक स्तर में एक यथार्थ अथवा नैतिक तथ्य होता है जिसके आधार पर कानून का निर्माण होता है। और इन नैतिक तथ्यों का आधार समाज की ऐतिहासिक स्थिति, सांस्कृतिक प्रतिमान, सामाजिक प्रतीक, सामूहिक मूल्य होते हैं। इस प्रकार गुरविच का सामाजशास्त्र सामाजिक यथार्थ में आदर्शात्मकता का अध्ययन करता है। सामाजिक स्वीकृति में जिस प्रकार नैतिक अनुभव, तार्किक विचारधाराएँ एवं आध्यात्मिक तथा ऐण्द्रिक अनुभूतियाँ होंगी, उन्हीं के अनुसार कानून निर्मित किये जाते हैं। गुरविच ने कानून का समाजशास्त्रीय विवेचन वृहद्-विश्लेषण और सूक्ष्म-विश्लेषण द्वारा भी किया है।

सामाजिक नियंत्रण में कानून के प्रकार्य
(Functions of Law in Social Control)

कानून का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति में समाज की नैतिकता, तथा सौन्दर्य बोध का समावेश रहता है। इन्हीं सब मूल्यों पर कानून की नींव पड़ती है तथा निर्मित हो जाने के पश्चात कानून इनकी रक्षा करता है।

कानून के व्याख्याता जिन्हें न्यायाधीश कहते हैं, वैधानिक क्षेत्र में उसी प्रकार महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक होते हैं। सामाजिक संगठन, नियंत्रण, परिवर्तन और अभियोजन में कानून का वहुत बड़ा योगदान है। इस संदर्भ में कानून के महत्व एवं प्रकार्यों पर नीचे कुछ विन्दु प्रकाशित किये गये हैं :

(१) सामाजिक स्थिरिता (Social Stability) : परम्पराएँ एवं प्रथाएँ दीर्घकाल तक प्रचलित रहने के पश्चात कानून का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। यह कानून लिखित होता है तथा इसे संवैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। यह जटिल तथा विकसित समाज की विशेषता है। अविकसित एवं लघु समाजों में परम्पराएँ ही कानून हुआ करतीं हैं। कानून की अवहेलना के पीछे दण्ड का आतंक समाज में विचलनकारी प्रवृत्तियों को नहीं पनपने देता है। फलस्वरूप समाज के सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्य सुरक्षित एवं स्थिर रहते हैं। यह स्थिरीकरण इतना रूढ़ नहीं होता है कि विकास में बाधक बन जाये। नैतिक-सामाजिक आवश्यकता पड़ने पर कानून संशोधित भी हो जाया करता है।

(२) सामाजिक उत्थान (Social Upliftment) : सामाजिक उत्थान के लिए, सामाजिक संस्थानों द्वारा चलाये गये अभियान जब अपेक्षित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर पाते हैं तो कानून उनके हेतु वैधानिक धाराओं का सृजन करके उत्थान में अपना सक्रिय योगदान करता है। इसके अभाव में समाज में फैले रुढ़िग्रस्त एवं अहितकारी व्यवहारों और प्रचलनों को उखाड़ फेकना सामान्य सामाजिक नियमों की क्षमता के परे है। समाज सुधारकों को भी इसमें सफलता मिलना कठिन हो जाता है। कानून का संरक्षण पाकर उत्थान की योजनाएँ बाध्यतामूलक बनकर समाज का मार्गदर्शन करने लगती है। भारत में सती-प्रथा, बालविवाह, आदि का उन्मूलन कानून के कल्याण-कारी-उत्थान के प्रकार्यों का उदाहरण हैं।

(३) बहुमुखी नियंत्रण (Omni Directional Control) : कानून मानवीय-जीवन तथा प्राकृतिक स्रोतों के समस्त पक्षों को एक साथ नियंत्रित करता है—चाहें वे व्यक्तिगत हों अथवा सार्वजनिक। कानून में हर प्रश्न का समाधान होता है। बहुर्मुखी सामाजिक नियंत्रण का सबसे वड़ा लाभ यह होता है कि सभी प्रकार के नियंत्रण एक ही केन्द्र से संचालित होने के कारण विभिन्न पक्षों के बीच समंजन बना रहता है। कानून के संविधानों द्वारा ऐसी

व्यवस्था की जाती है कि एक क्षेत्र में रोके गये विचलन दूसरे क्षेत्र में पारिलक्षित न होने पाएँ। इसलिए पारिवारिक, सामूहिक, व्यापारिक, धार्मिक. राजनैतिक आदि अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित संहिताएँ पारस्परिक समायोजन के दृष्टिकोण से निर्मित की जाती हैं।

(४) सामाजीकरण (Socialization) कानून के माध्यम से एक विशेष प्रकार का सामाजीकरण अथवा सामाजिक प्रशिक्षण होता है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। कानून सामाजीकरण का अन्तिम बाध्यतामूलक चरण है। सामान्यतः व्यक्ति का सामाजीकरण सर्वप्रथम अपने परिवार, सखा-सहेली, पड़ोसी आदि जैसे प्राथमिक समूहों में होता है। तदोपरान्त विद्यालय तथा अन्य सभा-संस्थाओं जैसे द्वैतीयक समूहों में, जीवन का दूसरा भाग सामाजीकृत होता है। इसके अतिरिक्त समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति रह जाते हैं जो इन दोनों चरणों के पश्चात भी सामाजिक आदर्शों से संमजित नहीं हो पाते हैं तथा विचलनकारी व्यवहार किया करते हैं। इन व्यक्तियों का सामाजीकरण राज्य और कानून की व्यवस्था से होता है। अनैतिक और विचलनकारी व्यवहार करने वालों को कानून कारावास, दण्ड तथा मानसिक उपचारों के द्वारा नियन्त्रित तथा सामाजीकृत करता है। अतएव कानून भी एक प्रकार की प्रक्रिया है जिसे सामाजीकरण का तृतीय समूह कहा जा सकता है।

(५) मौलिक अधिकारों की सुरक्षा (Security of Basic Rights) सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण के विकास से अनेक सन्दर्भों में प्रगति होने के साथ-साथ कुछ नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर भी प्रहार होता है। वैभव एवं वर्गीय उच्चता को लेकर प्रायः समाज में द्वन्द होता रहता है। पूँजीपतियों, धार्मिक महन्तों तथा राजनैतिक स्वार्थियों के द्वारा निम्न और श्रमिक वर्ग का शोषण हुआ करता है। एक ओर तो समर्थ समुदाय अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों से विमुख होता है दूसरी ओर शोषित व्यक्ति अपनी सम्पत्ति और मौलिक अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। कानून की संहिताएँ जनता के इन मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करती हैं। न्याय के द्वार प्रत्येक नागरिक के लिए खुले रहते हैं जहाँ उसे वह सब मिलता है जो उसके लिए अपेक्षित है। कानून सामाजिक अन्तर्द्वन्दों और संघर्षों को शान्त करके समाज में एकता का प्रसार करता है।

व्यवस्था की जाती है कि एक क्षेत्र में रोके गये विचलन दूसरे क्षेत्र में पारिलक्षित न होने पाएँ। इसलिए पारिवारिक, सामूहिक, व्यापारिक, धार्मिक. राजनैतिक आदि अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित संहिताएँ पारस्परिक समायोजन के दृष्टिकोण से निर्मित की जाती हैं।

(४) सामाजीकरण (Socialization) कानून के माध्यम से एक विशेष प्रकार का सामाजीकरण अथवा सामाजिक प्रशिक्षण होता है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। कानून सामाजीकरण का अन्तिम बाध्यतामूलक चरण है। सामान्यतः व्यक्ति का सामाजीकरण सर्वप्रथम अपने परिवार, सखा-सहेली, पड़ोसी आदि जैसे प्राथमिक समूहों में होता है। तदोपरान्त विद्यालय तथा अन्य सभा-संस्थाओं जैसे द्वैतीयक समूहों में, जीवन का दूसरा भाग सामाजीकृत होता है। इसके अतिरिक्त समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति रह जाते हैं जो इन दोनों चरणों के पश्चात भी सामाजिक आदर्शों से संमजित नहीं हो पाते हैं तथा विचलनकारी व्यवहार किया करते हैं। इन व्यक्तियों का सामाजीकरण राज्य और कानून की व्यवस्था से होता है। अनैतिक और विचलनकारी व्यवहार करने वालों को कानून कारावास, दण्ड तथा मानसिक उपचारों के द्वारा नियन्त्रित तथा सामाजीकृत करता है। अतएव कानून भी एक प्रकार की प्रक्रिया है जिसे सामाजीकरण का तृतीय समूह कहा जा सकता है।

(५) मौलिक अधिकारों की सुरक्षा (Security of Basic Rights) सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण के विकास से अनेक सन्दर्भों में प्रगति होने के साथ-साथ कुछ नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर भी प्रहार होता है। वैभव एवं वर्गीय उच्चता को लेकर प्रायः समाज में द्वन्द होता रहता है। पूँजीपतियों, धार्मिक महन्तों तथा राजनैतिक स्वार्थियों के द्वारा निम्न और श्रमिक वर्ग का शोषण हुआ करता है। एक ओर तो समर्थ समुदाय अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों से विमुख होता है दूसरी ओर शोषित व्यक्ति अपनी सम्पत्ति और मौलिक अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। कानून की संहिताएँ जनता के इन मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करती हैं। न्याय के द्वार प्रत्येक नागरिक के लिए खुले रहते हैं जहाँ उसे वह सब मिलता है जो उसके लिए अपेक्षित है। कानून सामाजिक अन्तर्द्वन्दों और संघर्षों को शान्त करके समाज में एकता का प्रसार करता है।

व्यवस्था की जाती है कि एक क्षेत्र में रोके गये विचलन दूसरे क्षेत्र में पारिलक्षित न होने पाएँ। इसलिए पारिवारिक, सामूहिक, व्यापारिक, धार्मिक. राजनैतिक आदि अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित संहिताएँ पारस्परिक समायोजन के दृष्टिकोण से निर्मित की जाती हैं।

(४) **सामाजीकरण** (Socialization) कानून के माध्यम से एक विशेष प्रकार का सामाजीकरण अथवा सामाजिक प्रशिक्षण होता है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। कानून सामाजीकरण का अन्तिम बाध्यतामूलक चरण है। सामान्यतः व्यक्ति का सामाजीकरण सर्वप्रथम अपने परिवार, सखा-सहेली, पड़ोसी आदि जैसे प्राथमिक समूहों में होता है। तदोपरान्त विद्यालय तथा अन्य सभा-संस्थाओं जैसे द्वैतीयक समूहों में, जीवन का दूसरा भाग सामाजीकृत होता है। इसके अतिरिक्त समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति रह जाते हैं जो इन दोनों चरणों के पश्चात भी सामाजिक आदर्शों से संमजित नहीं हो पाते हैं तथा विचलनकारी व्यवहार किया करते हैं। इन व्यक्तियों का सामाजीकरण राज्य और कानून की व्यवस्था से होता है। अनैतिक और विचलनकारी व्यवहार करने वालों को कानून कारावास, दण्ड तथा मानसिक उपचारों के द्वारा नियन्त्रित तथा सामाजीकृत करता है। अतएव कानून भी एक प्रकार की प्रक्रिया है जिसे सामाजीकरण का तृतीय समूह कहा जा सकता है।

(५) **मौलिक अधिकारों की सुरक्षा** (Security of Basic Rights) सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण के विकास से अनेक सन्दर्भों में प्रगति होने के साथ-साथ कुछ नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर भी प्रहार होता है। वैभव एवं वर्गीय उच्चता को लेकर प्रायः समाज में द्वन्द होता रहता है। पूंजीपतियों, धार्मिक महन्तों तथा राजनैतिक स्वार्थियों के द्वारा निम्न और श्रमिक वर्ग का शोषण हुआ करता है। एक ओर तो समर्थ समुदाय अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों से विमुख होता है दूसरी ओर शोषित व्यक्ति अपनी सम्पत्ति और मौलिक अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। कानून की संहिताएँ जनता के इन मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करती हैं। न्याय के द्वार प्रत्येक नागरिक के लिए खुले रहते हैं जहाँ उसे वह सब मिलता है जो उसके लिए अपेक्षित है। कानून सामाजिक अन्तर्द्वन्दों और संघर्षों को शान्त करके समाज में एकता का प्रसार करता है।

Selected Readings

1. R. M. MacIver : The Modern State.
2. F. Pollock : First Book of Jurisprudence.
3. Timasheff : An Introduction to the Sociology of Law.
4. B. Malinowski : Crime and Custom in Savage Society.
5. J. C. Gray : Nature and Sources of the Law.
6. Roscoe Pound : Justice According to Law.
7. Alexander H. Pekeles : Law and Social Action.
8. Emile Durkheim : Division of Labour in Society.
9. Joseph S. Roucek : Social Control.
10. MacIver and Page : Society.
11. Gurvitch : Sociology of Law.

Questions

१. कानून की परिभाषा दीजिये। कानून किस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होता है।

Define law. How law is helpful in social control.

२. कानून से आप क्या समझते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के सन्दर्भ में कानून की उत्पत्ति तथा विकास का विवेचन कीजिये।

What do you understand by law ? Discuss the origin and development of law in the context of social control.

३. सामाजिक नियन्त्रण में कानून के प्रकार्य बताइये।

Discuss the funtions of law in social control.

४. कानून का सामाजिक महत्व बताइये।

Discuss the social importance of law.

अध्याय २४

दण्ड
(PUNISHMENT)

सामाजिक नियन्त्रण में दण्ड, विचलनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का अन्तिम साधन है। दण्ड के प्रयोग का अधिकार राज्य के हाथ में कानून द्वारा प्रदत्त होता है। दण्ड का प्रयोग उस अपराध का उन्मूलन करने के लिए किया जाता है जिससे समाज में विघटन उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ होती हैं। दण्ड का उद्देश्य अपराधों के प्रति समाज में भय और आतंक का प्रसार करना होता है। कोई भी व्यक्ति सुख और वैभव की प्राप्ति के लिए अपराध करता है। समाज उसे दण्डित करके अपराध के द्वारा सुख प्राप्ति की आकांक्षा को निर्मूल कर देता है। इस प्रकार दण्ड, अपराधी के उन अनैतिक अधिकारों को छीन लेता है जिनसे वह व्यक्ति और समाज के अधिकारों पर आक्रमण करता है। अतएव समाज को नियंत्रित करने के लिए तथा समाज में सुरक्षा की भावना बनाए रखने के लिए अपराधी को दण्ड देना नितान्त अनिवार्य एवं नैतिक हैं। जब तक अन्यायी और अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्थाएँ संचालित हैं तब तक मानव जीवन अपनी स्वतंत्रता तथा मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं रह सकता है।

समाज में अपराधों का प्रादुर्भाव होने के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव अपराधों की प्रवृत्ति पर पड़ सकता है। गरम प्रदेशों में हिंसा और व्यक्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं और ठण्डे प्रदेशों में सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध होते हैं। इसी प्रकार ऋतु परि-

वर्तन का भी प्रभाव अपराधों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक लक्षण अपराध के लिए प्रेरित करते हैं। मानसिक रूप से कुण्ठित तथा शारीरिक तौर से अविकसित मनुष्यों की क्षमताएँ क्षीण रहती हैं। फलस्वरूप उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के नैतिक स्रोत अवरुद्ध रहते हैं। इसलिए वे विचलनकारी कृत्यों के लिए बाध्य हो जाते हैं। कुछ अपराधी वंशानुगत भी होते हैं। अपराध करने की प्रवृत्ति उन्हें पूर्वजों से विरासत में मिलती है। अपराध करने के कारकों में आर्थिक अभाव की मजबूरी अधिक व्यापक पायी जाती है। आर्थिक अभाव मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा पर ही नहीं वरन् भूख जैसी जीवन की नितान्त अनिवार्यता पर भी प्रहार कर देता है। ऐसे अभाव प्रायः मनुष्य को अपराध करने के लिए बाध्य कर देते हैं। भौगोलिक परिस्थितियों की भाँति सामाजिक परिस्थितियों पर भी अपराधों का प्रादुर्भाव निर्भर करता है। परिवार का वातावरण, शिक्षा का अभाव अथवा दूषित शिक्षा, सामुदायिक जीवन, रीति-रिवाज, वर्ग भावना और सांस्कृतिक स्तर के गुण अपराध की प्रवृत्तियों को गम्भीर रूप से प्रभावित करते हैं।

परिभाषायें (Definitions)

महर्षि मनु का कथन है कि दण्ड स्वयं ईश्वर से उत्पन्न धर्म है। यह सब राजाओं पर राज्य करता है, उनकी रक्षा करता है। नीचे कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा दी गयी दण्ड की परिभाषाएँ उद्धृत हैं :

रासेक ने दण्ड को पारिभाषित करते हुए कहा है कि **"यह विचारपूर्वक दिया गया कष्ट का दण्ड है जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाना होता है।"**[1]

टैफ्ट के अनुसार इसका तात्पर्य **"शान्ति भंग करने वाले व्यक्ति को अवांछित अनुभूतियों का दण्ड प्रदान करना है, जो सर्वदा उसी व्यक्ति के कल्याण के लिए ही नहीं होता है।"**[2]

1. "We can define punishment as the deliberate infliction of pain for the presumed purpose of achieving a change in the one's behaviour."

—Roucek ; *Sociology of Crime.*

2. We may define punishment as the conscious infliction upon a disturbing individual of undesired experiences not solely in the interest of his welfare."

—Taft : *Criminology.*

वेस्टरमार्क का मत है कि "दण्ड उस उत्पीड़न तक सीमित है जो समाज के नाम पर एक निश्चित ढंग से उस अपराधी को दिया जाता है जो कि उसी समाज का स्थायी या अस्थायी सदस्य है।"[1]

सेथना का कथन है, "दण्ड एक प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण है जिसमें शारीरिक उत्पीड़न का होना अनिवार्य नहीं है।"[2]

सदरलैण्ड के मतानुसार, "दण्ड एक तो समूह द्वारा उस व्यक्ति को दिया जाता है जो उसी समूह का सदस्य होता है। दूसरे, यह पूर्व-निश्चित उत्पीड़न को सम्मिलित करता है जो किसी मूल्य द्वारा न्याय-पूर्ण ठहराया जाता है तथा जिसे उस उत्पीड़न में निहित माना जाता है।"[3]

दण्ड की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Punishment)

दण्ड की उत्पत्ति मुख्यतः अपराध की प्रवृत्तियों को रोकने का उद्देश्य लेकर हुई है। दण्ड से समाज में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना होती है। परम्परागत चिन्तन के अनुसार दण्ड की उत्पत्ति के प्रति एक विचार यह भी है कि व्यक्ति कोई अपराध ब्रह्माण्ड में भटक रही अशान्त और अतृप्त

1. "Punishment is such suffering as is inflicted upon the offender in a definite way by, or in the name of the society of which he is a permanent or temporary member."
—E. Westermark : *The Origin and Development of the Model Society.*

2. "Punishment is some sort of social censure and not necessarily the involving or infliction of physical pains."
—M. J. Sethna : *Society and the Criminal.*

3. "First, punishment is inflected by the group in its corporate capacity upon one who is regarded as the member of the same group. Second, it involves pain or suffering produced by design and justified by same value that the suffering is assumed to have."
—Sutherland :*Principles Of Criminology.*

प्रेतात्माओं की प्रेरणा से करता है। जिससे देवतागण क्रोधित हो उठते हैं। अतएव अपराध के प्रायश्चित एवं देवताओं की सन्तुष्टि के लिए अपराधी को दण्ड दिया जाता है। एक और विचारधारा के अनुसार दण्ड की उत्पत्ति का कारण अपराधी से सामाजिक प्रतिशोध लेने की भावना है। समाज में हो रहे अन्याय और अपराध से क्षुब्ध होकर समाज उसका बदला लेता है। इसके उपरान्त धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रसरण ने अपराध को एक पाप की संज्ञा प्रदान कर दी जो आज तक सामाजिक सरंचनाओं में व्याप्त है। आगे चल कर दण्ड का अभिप्राय केवल अपराधी को ताड़ना ही न देकर यह भी हुआ कि भविष्य में अपराधों की पुनरावृत्ति न होने पाए तथा अन्य व्यक्तियों के लिए एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सके। इसीलिए सामन्तवादी युग में अपराधी को सार्वजनिक स्तर पर दण्ड दिया जाता था। इसके बाद समाज के विकास की उच्चस्तरीय अवधारणाओं के अन्तर्गत, अपराधी को केवल दण्डित न करके, उसके सुधार करने के उद्देश्यों पर भी बल दिया गया। इसमें अपराधी को एक आदर्श नागरिक बनाने की धारणा निहित थी। इसी प्रकार दण्ड की उत्पति से सम्बन्धित अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। इस संदर्भ में दण्ड के तीन मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(१) प्रतिकारात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory) यह सिद्धान्त वैयक्तिक प्रतिशोध अथवा 'जैसे को तैसा' वाली कहावत पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी अपराधी द्वारा किया गया अपराध किसी विशेष व्यक्ति के प्रति ही न मानकर सम्पूर्ण समाज के प्रति माना जाता है। अतः अपराधी से बदला लेने का अधिकार केवल पीड़ित व्यक्ति को न होकर राज्य को होता है। राज्य अपराधी को दण्डित करके पीड़ित व्यक्ति का तो सन्तोषण करता ही है साथ-साथ में राज्य की मान्यता और प्रतिष्ठा की भी रक्षा करता है। 'खून का बदला खून'—जहाँगीरी इन्साफ इसी सिद्धान्त का एक उदाहरण है। इसके समर्थकों में कान्त (Kant), हीगल (Hegel) और प्लेटो (Plato) के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

(२) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य यह होता है कि अपराधी को इतना कठोरतम दण्ड प्रदान किया जाए कि भविष्य में वह अपराधी अथवा समाज का कोई भी व्यक्ति वैसा अपराध करने का साहस न कर सके। इस प्रकार के दण्ड का भय और आतंक व्यापक करने के लिए अपराधियों को सार्वजनिक स्थान पर

पाशविक दण्ड दिए जाते हैं। अपराध शास्त्र के इतिहास में आंखें निकाल लेने, हाथ-पैर काट लेने, जीवित दीवार में चुन देने, कुत्तों से नुचवा देने आदि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसे भयंकर दण्ड से समाज को शिक्षा मिलती है जिससे भविष्य में अपराधी प्रवृत्तियों पर रोक थाम लगती है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक मनु, कौटिल्य, स्टुअर्ट मिल (Stuart Mill), रॉस (Ross), ग्रीन (T. H. Green) आदि हैं।

(३) **सुधारात्मक सिद्धान्त** (Reformative Theory) यह सिद्धान्त आधुनिक एवं विकसित चिन्तन पर आधारित है। इसके अनुसार कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपराध नहीं करता है। परन्तु उसके अपराध करने के पीछे उसकी परिस्थितियों एवं मानसिक कारकों का हाथ होता है। ऐसी स्थिति में अपराधी को केवल दण्ड देकर विचलनकारी प्रवृतियों का वहिष्कार नहीं किया जा सकता है। अतएव दण्ड का उद्देश्य अपराधी को एक सभ्य नागरिक की भांति पुनः सामाजिक जीवन में प्रतिस्थापित करना होता है। अपराधी के आत्मसम्मान को कुण्ठित करके उसे सम्मानित नागरिक नहीं बनाया जा सकता है। उसे एक मानसिक रोगी समझ कर उसका मनोवैज्ञानिक उपचार करना चाहिए। आजकल इस सिद्धान्त के आधार पर अपराधियों के सुधार के सफलतापूर्वक परिणाम देखने को मिल रहे हैं। स्वच्छ कारावास, शिक्षा, जीवकोपार्जन का आदर्श प्रशिक्षण आदि अनेक सुविधाएँ आज के अपराधी को सुलभ हैं जिससे वह अपना सुधार करके सभ्य सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है।

सामाजिक नियंत्रण में दण्ड का महत्व
(Importance of Punishment in Social Control)

दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधी को ताड़ना देना नहीं है परन्तु इसका उद्देश्य, अपराध से उत्पन्न अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करना है। कानून की रचना सामाजिक शान्ति और सुरक्षा के लिए की जाती है। इसका उल्लंघन होने से शान्ति की व्यवस्थाओं में बाधाएँ खड़ी होती हैं। इसलिए कानून का उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। अतएव दण्ड, सामाजिक नियंत्रण का लक्ष्य न होकर, साधन है। यह नियन्त्रण का अन्तिम, बाध्यतामूलक तथा आतंककारी साधन है। यद्यपि दण्ड व्यक्तिगत होता है परन्तु इसके प्रभाव सामाजिक होते हैं। दूसरे शब्दों में, दण्ड के माध्यम से व्यक्ति

को दण्डित करके नियंत्रित किया जाता है। दण्ड के ध्येय सुधारात्मक होते हैं। यह व्यक्ति को शारीरिक-मानसिक कष्ट देकर तथा उपचार करके उसे विचलनकारी कार्यों से विमुख करता है जिससे सम्पूर्ण समाज का प्रशिक्षण होता है। इस परिपेक्ष में दण्ड, नियंत्रतात्मक तत्वों के सम्प्रेषण का भी एक उत्तम माध्यम सिद्ध हो जाता है।

Selected Readings

1. E. H. Sutherland : 1. Principles of Criminology.
   2. Mental Deficiency and Crime.
2. D. R. Taft : Criminology.
3. L. A. Tulin : The Role of Penalities in Criminal Law.
4. B. Malinowaski : Crime and Custon in a Savage Society.
5. J. L. Gillin : Criminology and Penology.
6. Mabel A. Elliott : Crime and Modern Society.
7. E. S. Bogardus : Sociology.
8. Roucek : Sociology of Crime
9. Barnes & Teeters : New Horizons in Criminology.
10. Franz Alexander & W. Healy : The Roots of Crime.
11. E. Westermark : The Origin and Development of the Model Society.
12. M. J. Sethna : Society and the Criminal.

Questions

१. दण्ड से आप क्या समझते हैं ? दण्ड की उत्पत्ति के सिद्धान्त बताइये।
What do you understand by punishment ? Discuss the origin theories of punishment.

२. दण्ड की परिभाषा कीजिए एवं सामाजिक नियन्त्रण में इसका महत्व बताइये।
Define punishment and discuss its importance in social control.

चतुर्थ खण्ड

विषयक्रम

अध्याय २५

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणात्मक व्याख्या (CONCEPTUAL ANALYSIS OF SOCIAL CHANGE)

परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है। इसकी प्रक्रिया सम्पूर्ण समाज को ही नहीं अपितु उसके प्रत्येक पक्ष को हर क्षण बिना किसी अपवाद के आदि काल से ही प्रभावित करती आ रही है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो कभी भी शान्त नहीं बैठती और प्रत्येक क्षण क्रियाशील रहती है। इसकी क्रियाशीलता को हेराक्लाइटस (Heraclitus) द्वारा दिये गये एक उदाहरण से और भी सरलता से समझा जा सकता है। हेराक्लाइटस के अनुसार कोई भी व्यक्ति एक ही नदी में दो बार नहीं प्रवेश कर सकता है। इसके दो कारण हैं। (क) दूसरी बार प्रवेश करने के समय नदी पहली जैसी नहीं रहती तथा (ख) व्यक्ति भी नदी की भाँति बदल जाता है, भले ही दूसरी बार नदी में प्रवेश करने के समय में अन्तर कुछ क्षणों का ही क्यों न हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिवर्तन की प्रक्रिया की गति इतनी तीव्र है कि यह प्रत्येक क्षण सभी समाजों को प्रभावित करती रहती है।

परिवर्तन को और भी सरलता से समझने के लिये यह उत्तम होगा कि किसी भी समाज के आज से ५० वर्षों पूर्व निर्धारित स्वरूप, व्यवस्था, विश्वासों, विचारधाराओं, मूल्यों और आदर्शों आदि का वर्तमान समय से

तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। भारतीय समाज का ही उदाहरण लिया जाता है। इन ५० वर्षों में भारतीय समाज में अनेक विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस थोड़े ही समय में भारतीय समाज में सब कुछ बदल गया है। यह भी निश्चित है कि आगामी ५० वर्षों में इस समाज के वे मूल्य, आदर्श और विचारधाराएँ नहीं रहेंगी जो आज विद्यमान हैं। अतः किसी ऐसे समाज की कल्पना करना जो स्थिर (Static) है, व्यर्थ है।

परिवर्तन की प्रक्रिया सम्पूर्ण समाज को ही नहीं परन्तु उसकी प्रत्येक इकाई (व्यक्ति) को भी प्रभावित करती है। व्यक्ति अपने जन्म के बाद बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था की सीढ़ियों से गुजर कर मृत्यु का आलिंगन करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्रभावित होता रहता है। परिवर्तन की इस मन्दगति की प्रक्रिया को उद्‌विकास कहते हैं जो कि परिवर्तन का ही पर्यायवाची है।

परिवर्तन की प्रक्रिया की एक विशेषता यह भी है कि इसकी गति प्रत्येक समाज में असमान होती है। यह गति कुछ समाजों में द्रुत तो कुछ समाजों में मन्द भी हो सकती है। यही कारण है कि विभिन्न समाजों में होने वाले परिवर्तनों का स्वरूप अलग-अलग होता हैं।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है। कुछ विद्वान सामाजिक ढाँचे में हुए परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं तो कुछ सामाजिक सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों को ही सामजिक परिवर्तन मानते हैं। अत्यन्त साधारण अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य उपर्युक्त दोनों पक्षों में होने वाले परिवर्तन से है।

विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में विभिन्न मत दिये हैं। उनके दृष्टिकोणों में अन्तर होने का कारण यह है कि उन्होंने जिस ढंग से समाज का विश्लेषण किया है, उसी आधार पर उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की है। फिर भी विद्वानों की अगले पृष्ठों पर उद्धृत परिभाषायें सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं अवधारणा समझने में विशेष रूप से सहायक हैं।

के० डेविस के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् जो समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"[1]

मेरिल तथा एल्ड्रेज के मतानुसार, "ठोस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि अधिकतर व्यक्ति ऐसे कार्यों के करने में लगे हों जो कुछ समय पहले के लोगों के कार्यों (या पूर्वजों) से भिन्न हों। समाज प्रतिमानित मानवीय सम्बन्धों का एक विशाल तथा जटिल जाल सा है जिसमें कि समस्त मनुष्य अंश ग्रहण करते हैं। जब मानव व्यवहार में रुपान्तर की प्रक्रिया क्रियाशील रहती है, तब हम उसी को दूसरे रुप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[2]

एच० एम० जॉन्सन के अनुसार, "अपने मौलिक अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक सरंचना में परिवर्तन होता है।"[3]

गिलिन तथा गिलिन ने लिखा है, "सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों, या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की

1. "By 'Social change' is meant only such alterations as occur in social organization, that is in structure and functions of society."

—Kingsley Davis : *Human Society.*

2. "In its most concrete sense, social change means that large number of persons are engaging in activities that differ from those which they (or their immediate fore fathers) engaged in some time before. Society is composed of a vast and complex net-work of patterned human relationships,in which all men participate. When human behaviour is in the process of modification, this is only another way of indicating that social change is occuring".

—Merrill and Eldredge : *Culture and Society.*

3. "In its basic sense, then, social change means change in social structure."

—H. M. Johnson : *Sociology.*

रचना या सिद्धान्तों के परिवर्तन से या प्रसार से या समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरुप हुए हों।"[1]

जिन्सवर्ग के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन से मैं सामाजिक सरंचना में परिवर्तन समझता हूँ। उदाहरण के लिये समाज के आकार में, उसकी बनावट अथवा भागों के संतुलन में अथवा उसके संगठन के स्वरुपों में।[2]"

डॉसन एवं गेटिस के शब्दों में, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ह क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ और प्रयोग में सामाजिक है।"[3]

गर्थ और मिल्स के मतानुसार, "सामाजिक परिवर्तन के द्वारा हम उसे संकेत करते हैं जो समय के साथ-साथ कार्यों, संस्थाओं अथवा उन अवस्थाओं में होता है जो सामाजिक सरंचना एवं उनकी उत्पत्ति, विकास एवं पतन से सम्बन्धित होता है।"[4]

---

1. "Social changes are variations from the accepted modes of life, whether due to alteration in geographic conditions, in cultural equipment, composition of the population or ideologies and whether brought about by diffusion or invention within the group."
—Gillin and Gillin : *Cultural Sociology.*

2. "By social change, I understand a change in social structure, e. g., the size of a society, the composition or balance of its parts or the type of its organization."
—M. Ginsberg : *Social Change, British Journal of Sociology, I* : 205-229 (*Sept. 1958*) *p.*205

3. "Cultural change is social change since all culture is social in its origin, meaning and usage."
—Dawson and Gettys : *Introduction to Sociology.*

4. "By social change we refer to whatever may happen in the course of time to the robs, the institutions, or the orders comprising a social structure : their emergence, growth and decline."
—Gerth and Mills : *Character and Social Structure.*

मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार, "………समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों से हैं। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"[1]

जेन्सन के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने की पद्धतियों में रुपान्तरण कह कर परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

जोन्स ने लिखा है, "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में अन्तर या रुपान्तरण को वर्णित करने के लिये प्रयोग में लाया जाता है।"[3]

अलविन बोसकॉफ के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य उस बोधगम्य प्रक्रिया से है जिसमें हम किसी निश्चित समाज व्यवस्था की संरचना एवं प्रकार्य में महत्वपूर्ण हेर फेर को समझ पाते हैं।"[4]

विद्वानों द्वारा दी गई विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि "सामाजिक परिवर्तन वह अन्तर है जो काल के अन्तर्गत किसी भी समाज की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं की तुलना से प्राप्त होता है।"[5]

---

1. "………Our direct concern as sociologists is with social relationship. It is the change in these relationships which alone we shall regard as social change."
—R. M. MacIver and C. H. Page : *Society*.

2. "Social change may be defined as modifications in ways of doing and thinking of people."
—Jensen : *Introduction to Sociology and Social Problems*.

3. "Social change is a term to describe variations in, or modifications of any aspect of social processes, social patterns, social interaction, or social organization."
—Jones : *Basic Sociological Theory*.

4. "Social change refers to the intelligible process in which we discover significant alterations in the structure and functioning of determinate social system."
—Alvin Boskoff : *Modern Sociological Theory*.

5. —Authors.

समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार उन्होंने समाज की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है, उसी प्रकार उन्होंने अपने दृष्टिकोण से ही सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित किया है। मेरिल तथा एल्ड्रेज ने अपनी परिभाषा में सामाजिक परिवर्तन को सिद्ध करने के लिये मानवीय व्यवहारों का सहारा लिया है जब कि डेविस, जॉनसन, जिन्सबर्ग और गर्थ सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संरचना में परिवर्तन से लगाते हैं। मैकाइवर तथा पेज सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। गिलिन तथा गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में उन सभी कारणों का विश्लेषण किया है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन होता है। डॉसन तथा गेटिस के अनुसार सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं हैं। अतः वे सांस्कृतिक परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन मानते हैं। जोन्स सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानते हैं। जेन्सन के अनुसार समाज के व्यक्तियों के निश्चित तरीकों से सोचने में परिवर्तन ही समाजिक परिवर्तन हैं।

समाजशास्त्रियों की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में उनके विचारों में मतैक्य नहीं है। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिये इनके बताये हुए सभी तथ्यों का योग आवश्यक है। सामाजिक परिवर्तन को और भी सरलता से समझने के लिये दो कालों के बीच हुए परिवर्तन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। ऐसा करने से सामाजिक परिवर्तन का रूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टिकोण से अलविन बोसकॉफ की परिभाषा सबसे उत्तम है।

यह सत्य है कि उपरिर्चाचित विद्वानों के सामाजिक परिवर्तन के दृष्टिकोण में अन्तर है परन्तु सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को समझने में उपर्युक्त परिभाषाएँ अत्यन्त ही सहायक हैं। इन परिभाषाओं का अवलोकन करने से सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति भी स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति
(The Nature of Social Change)

समाजशास्त्रियों की सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित परिभाषाओं के विश्लेषण से सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ अथवा प्रकृति भी स्पष्ट हो

जाती है। संक्षेप में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को निम्नलिखित विन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है।

(१) सामाजिक परिवर्तन सामुदायिक परिवर्तन से सम्बन्धित है। (Social Change is Related with Change in Community) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति का प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें अन्तर्निहित परिवर्तन की धारणा वैयक्तिक न होकर सामुदायिक है। समाज के यदि एक समूह विशेष अथवा थोड़े से व्यक्तियों की जीवनयापन शैली में कुछ परिवर्तन आ जाता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा उसी दशा में दी जा सकती है जब कि समाज में कुछ ऐसी उथल-पुथल हो जाए कि उससे समाज के अधिकांश सदस्य प्रभावित हों और उन्हें अपनी जीवनयापन की शैली में भी परिवर्तन करना पड़े।

(२) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है। (Social Change is a Universal Phenomena) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति का दूसरा प्रमुख लक्षण यह है कि यह सर्वव्यापी होता है। सभी समाजों को, समान अथवा असमान, किसी न किसी रुप में इसने प्रभावित किया है। मानव समाज के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह विलकुल स्पष्ट है कि समय-समय पर इसमें अनेक विभिन्नताएँ आती रही है और सदस्यों को इन विभिन्नताओं के साथ अपना समंजन करना पड़ा है।

अपने देश का ही यदि उदाहरण लें तो प्रतीत होगा कि पिछले ५० वर्षों के अन्दर इसमें अनेक विभिन्नताएँ आई हैं। इन विभिन्नताओं अर्थात् परिवर्तनों से व्यक्तियों की मनोदशाओं, पदों और कार्यों आदि सभी में अन्तर हुआ है और समाज में एक पुनः एक नवीन संगठन का जन्म हुआ हैं। वर्तमान यान्त्रिकरण के युग में समाज के सदस्यों में किसी नवीन आविष्कारों, विचारों अथवा मूल्यों को शीघ्रता से ग्रहण करने की एक होड़ सी लगी हुई है। प्रत्येक सदस्य नवीनता को अपनाना चाहता है। संभवतः इसी कारण ग्रीन ने कहा है कि "परिवर्तन का उत्साहपूर्ण स्वागत जीवन का प्रायः एक ढंग सा बन गया है।"[1] वास्तविकता तो यह है कि आज सदस्यों की किसी भी नवीन

1. " The enthusiastic reception of change has become almost a way of life."

—A. W. Green : *Sociology*.

परिस्थिति में अपना सामंजस्य करने की प्रवृति बन गई है। इसका मुख्य कारण है कि समाज में उसी व्यक्ति को सफल समझा जाता है जो नवीन परिस्थिति के साथ अपना अनुकूलन करके स्वयं को इसी के अनुरुप ढाल ले।

(३) सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है। (Social Change is a Complicated Phenomena) सामाजिक परिवर्तन एक ऐसा जटिलतम तथ्य है कि इसे चिह्नों द्वारा स्पष्ट करना बिलकुल असंभव है। सामाजिक परिवर्तन का अधिकतर सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों से है। गुणात्मक तथ्य कुछ प्रकार के होते हैं कि इसका मापन अत्यन्त ही कठिन होता है। अतः यह और भी जटिलतम होता जाता है।[1] समाज के भौतिक पक्ष में हुए परिवर्तन को स्पष्टतः समझा जा सकता है परन्तु जब कभी सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है तो उसका रुप इतना अधिक जटिल होता है कि उसे समझने में भी बहुत अधिक कठिनाई होती है।

(४) सामाजिक परिवर्तन की गति असमान है। (The Speed of Social Change is Uneven) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति का एक प्रमुख लक्षण यह भी है कि इसकी गति सभी समाजों अथवा किसी एक समाज विशेष के विभिन्न पक्षों में समान रुप से नहीं पायी जाती है। पश्चिमी समाज एवं भारतीय समाज का तुलनात्मक विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों ही समाजों में परिवर्तन की गति बहुत ही असमान रही है। सामाजिक परिवर्तन वास्तव में विभिन्न कारकों द्वारा प्रभावित होता है। ये कारक सभी समाजों अथवा एक समाज के ही विभिन्न पक्षों में समान रूप से क्रियाशील नहीं होते हैं। जिन समाजों में इनकी क्रियाशीलता अधिक होती है, वहाँ परिवर्तन की गति द्रुत होती है। कारकों के कम क्रियाशील होने पर परिवर्तन की गति भी मन्द पड़ जाती है।

(५) सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। (Prediction in Social Change is not Possible) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति अनिश्चित होती है। अतः इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह बता सकना कि आगामी कुछ वर्षों में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे, अत्यन्त ही कठिन है क्यों कि प्रायः बहुत से आकस्मिक कारकों के

---

1. MacIver and Page : *Society*.

कारण भी सामाजिक परिवर्तन आ सकता है और आता भी है। समाज में सामाजिक परिवर्तन के कारण जो रूप आज विद्यमान है वह आगे भी ऐसे ही रहेंगे, यह कह सकना बहुत ही कठिन है। परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई भी भविष्यवाणी कर सकना कठिन है। उदाहरणार्थ भारत पर चीन एवं पाकिस्तान द्वारा आक्रमण के समय को लिया जाता है। इन युद्धों के समय लोगों ने समाज में जिन परिवर्तनों की आशा की थी, उसका परिणाम लोगों की आशा के विपरीत ही निकला। ये परिवर्तन सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इतने अनोखे हुए हैं कि इसकी किसी को भी आशा नहीं थी और न ही इन परिवर्तनों की कोई भविष्यवाणी ही कर सकता था।

(६) सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है (Social Change is an Inevitable Phenomena) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक अनिवार्य घटना है। सभी समाजों को इससे प्रभावित होना पड़ता है। यह संभव है कि विभिन्न समाजों में परिवर्तन की मात्रा कम-अधिक हो परन्तु यह कदापि संभव नहीं है कि कोई समाज इससे बिना प्रभावित हुए रह सके। समाज में समय के साथ व्यक्तियों की आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ करते हैं और उसी के अनुसार उनकी मनोवृत्तियों, रुचियों और विचारधाराओं आदि में भी परिवर्तन होते रहते हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन नूतन परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की एक आवश्यक एवं अनिवार्य स्थिति है।

सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित अन्य अवधारणायें
(Other Concepts Relating to Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एक बहुत ही व्यापक अवधारणा है परन्तु इससे सम्बन्धित कुछ अन्य भी अवधारणायें हैं जिनके द्वारा परिवर्तन के ढंग (Modes) तथा गुण का पता चलता है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, **"परिवर्तन शब्द पूर्णतया निष्पक्ष होता है। इसके द्वारा समय के बीतने के दौरान में केवल उस वस्तु में, जिसके लिए इस शब्द का प्रयाग किया जाता है, होने वाला एक अन्तर अभिव्यक्त होता है।"**[1] परिवर्तन

1. "The term, change, itself is wholly neutral, implying nothing but a difference through time in the object to which it is applied."
—R. M. MacIver and C. H. Page : *Society*.

के ढंग एवं गुण के द्योतक के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनमें अन्तर करने के लिये इन सभी शब्दों अर्थात् अवधारणाओं का स्पष्ट प्रकार से अर्थ समझ लेना अनिवार्य है।

(क) प्रक्रिया (Process) प्रक्रिया शब्द से तात्पर्य सामाजिक परिवर्तन की निरन्तरता से है। यह समाज में परिवर्तन की निरन्तरता को व्यक्त करता है। मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार, "**एक प्रक्रिया का तात्पर्य वह निरन्तर परिवर्तन है जो एक अवस्था विशेष में पहले से उपस्थित शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से होता है।**[1]"

प्रक्रिया समाज में निरन्तर होती रहती है। उदाहरणार्थ भारतीय परिवार एवं जाति व्यवस्था के रूप को किया जाता है। ऐसा नहीं हुआ है कि इन परिवारों एवं जाति-व्यवस्था का वर्तमान रूप कुछ दिनों के परिवर्तन का प्रतिफल हो। इनका वर्तमान स्वरूप क्रमिक एवं निरन्तर रहा है।

समाज में प्रक्रिया सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिकूलता के कारण निरन्तर होती रहती है। इस प्रकार से घटित होने वाला परिवर्तन किसी दिशा विशेष की ओर लक्षित नहीं होता है! किसी दिशा विशेष के लक्षित हो जाने पर उसे परिवर्तन न कहकर प्रगति अथवा क्रान्ति कहा जाता है। प्रक्रिया में तो केवल एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन का विश्लेषण किया जाता है। प्रक्रिया केवल समाज में परिवर्तन की निरन्तरता को व्यक्त करती है। इसके अन्तर्गत कोई वस्तु अथवा अवस्था एक स्थिति से दूसरी अवस्था को क्रमिक एवं निरन्तर रूप से आगे को बढ़ती है।

साधारण तौर पर सामाजिक प्रक्रियाओं को वर्गों में बाँटा जा सकता है। (क) एकीकरण की सामाजिक प्रक्रियाएँ, जिसके अन्तर्गत सहयोग, व्यवस्थापन एवं सात्मीकरण का अध्ययन किया जाता है एवं (ख) पृथक्करण की सामाजिक प्रक्रियाएं—इसके अन्तर्गत, समाजशास्त्री प्रतिस्पर्धा, संघर्ष प्रतिकूलता और श्रम विभाजन आदि का अध्ययन करते हैं। इनके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम प्रथम खण्ड के अध्याय ३, ४, ५ और ६ में कर चुके हैं।

1. A process means continuous change taking place in a definite manner through the operation of forces present from the first within the situation."

—Ibid.

(ख) विकास (Evolution) सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणा 'उद्विकास' है। परिवर्तन में निरन्तरता के साथ जब उसकी दिशा (direction) भी निश्चित होती है तो उसे उद्विकास कहते हैं। **उद्विकास का अर्थ वृद्धि से अधिक है।**[1] वृद्धि केवल एक ही दिशा में होने वाले परिवर्तन के परिमाणात्मक तथ्यों (Quantitative) की ओर संकेत करती है परन्तु उद्विकास के अन्तर्गत केवल आकार (Size) का ही नहीं, संरचना सम्बन्धी परिवर्तन पर भी दृष्टिपात किया जा सकता है।

उद्विकास से एक निश्चित दिशा का संकेत मिलता है परन्तु वह दिशा किसी भी ओर हो सकती है। उदाहरणार्थ परिवर्तन का एक निश्चित दिशा में होना तो आवश्यक है परन्तु यह परिवर्तन उत्थान एवं पतन दोनों ही ओर हो सकता है। उद्विकास परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी वस्तु का स्वरुप कुछ निश्चित स्तरों से गुजर कर स्पष्ट हो जाता है। यह परिवर्तन उस वस्तु विशेष के आन्तरिक तथ्यों के माध्यम से होता है।

(ग) प्रगति (Progress) सामाजिक परिवर्तन से एक सम्बन्धित एक प्रमुख अवधारणा 'प्रगति' की है। समाज में जब परिवर्तन की दिशा को पूर्व से ही निश्चित कर लिया जाता है एवं कुछ उद्देश्य एवं मूल्यों का निर्धारण कर लिया जाता है और परिवर्तन को जब उसी पूर्व निर्धारित दिशा, उद्देश्यों एवं मूल्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है तो उसे सामाजिक प्रगति कहते हैं। अतः प्रगति का तात्पर्य उत्थान के लिये होने वाले ऐसे परिवर्तन से है जिसमें मूल्य निर्धारण (Value Judgement) का तत्व निहित होता है। प्रत्येक समाज के अपने कुछ निश्चित मूल्य होते हैं जिनका उद्देश्य जनकल्याण होता है। इन मूल्यों की प्राप्ति ही प्रगति है।

उद्विकास एवं प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो प्रकृति में गुणात्मक होती है और एक निश्चित दिशा में अग्रसर होती है जब कि प्रगति की प्रकृति परिमाणात्मक होती है और यह समाज द्वारा पूर्व निर्धारित दिशा, मूल्यों एवं लक्ष्यों की ओर अग्रसर होती है। उद्विकास की प्रकृति की एक यह भी विशेषता है कि यह स्वयं अर्थात् आंतरिक शक्तियों के दबाव से होती है परन्तु प्रगति हमेशा बाहरी शक्तियों एवं मानव के प्रयासों का प्रतिफल है।

---

1. —MacIver and Page : *Society*.

(घ) क्रान्ति (Revolution) समाज में किसी एक अथवा अनेक क्षेत्रों में जब अत्यधिक द्रुत गति से एवं बिना किसी क्रम के परिवर्तन होता है तो उसे क्रान्ति कहते हैं। उद्विकासीय परिवर्तन की विशेषता यह है कि वह एक क्रमवद्ध एवं निरन्तर रूप में होता है परन्तु क्रान्ति में परिवर्तन की गति द्रुत एवं अव्यवस्थित होती है। क्रान्ति में विकास की निरन्तरता भंग हो जाती है। इसीलिये पूर्व एवं उत्तरार्ध की स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करने में दोनों स्थितियों में अस्पष्टता देखने को मिलती है।

किसी विशिष्ठ सामाजिक क्षेत्र में जागृत क्रान्ति केवल उसी क्षेत्र तक सीमित न रहकर और भी सम्बद्ध क्षेत्रों तक भड़क जाया करती है। यह एक अनिवार्य नियम है। उदाहरणस्वरूप किसी समाज की आर्थिक क्रान्ति उसके राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं पर भी अपना गहन प्रभाव डालती हैं। फ्रांस, रूस, तथा भारत की सन् १८५७ की क्रान्तियों ने इन समाजों के राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में हलचल मचा दी थी।

किसी क्रान्ति के घटित होने का समय जो भी हो परन्तु उस क्रान्ति का बीजारोपण समाज में बहुत पहले ही से हो चुका होता है। पिछली सभी क्रान्तियों के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि इन सभी क्रान्तियों का बीजारोपण घटित होने के तीन पीढ़ियों पूर्व ही हो गया था। ले बॉन (Le Bon) के क्रान्ति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार किसी समाज में क्रान्ति की तीव्रता उस समाज विशेष में उपस्थित संस्थाओं की रुढ़िवादिता पर निर्भर करता है। धीरे-धीरे तथा क्रमिक रूप से परिवर्तित होते हुए समाज में क्रान्तियों की विकरालता कम अथवा नहीं के बराबर देखने को मिलती है।

क्रान्ति के बारे में प्रायः यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि उसका रूप उग्र एवं हिंसात्मक ही हो सकता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि कान्ति का रूप उग्र या हिंसात्मक ही हो। इसके दो रूप हो सकते हैं। (क) हिंसात्मक और (ख) अहिंसात्मक। क्रान्ति में हिंसात्मक साधनों का उपयोग करने से समाज को अधिक क्षति पहुंचती है। फ्रांस, रूस एवं भारत की सन् १८५७ की क्रान्ति कुछ इसी प्रकार की थीं। परन्तु भारत का स्वाधीनता संग्राम जिसने हमें १९४७ ई० में आजादी प्राप्त कराई, अहिंसात्मक क्रान्ति का एक उदाहरण है।

सामाजिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक परिवर्तन
(Social Change and Cultural Change)

कुछ समाजशास्त्री (गिलिन तथा गिलिन, डॉसन तथा गेटिस आदि) सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं मानते परन्तु इन दोनों में आधारभूत अन्तर है। सामाजिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों ही परिवर्तन की अलग-अलग दशायें हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को समझने के लिये इनमें भेद का स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है। कुछ अन्य विद्वान सामाजिक ढाँचे में हुए परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। अत्यन्त ही साधारण अर्थ में सामाजिक परिवर्तन से अर्थ उपर्युक्त दोनों पक्षों में होने वाले परिवर्तन से है।

संस्कृतिक परिवर्तन एक व्यापक धारणा है। संस्कृति का अर्थ सीखे हुए व्यवहारों से है। मानवशास्त्रियों ने 'संस्कृति' का प्रयोग अत्यन्त ही व्यापक अर्थ में किया है। टायलर (Tylor)[1] के मतानुसार तो संस्कृति वह जटिल समग्रता (Complex whole) है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा ऐसी अनेक क्षमताओं तथा आदतों का समावेश रहता है जिन्हें व्यक्ति समाज के सदस्य की हैसियत से ग्रहण करता है। कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृति जीवन के समग्र तरीके अथवा ढंग (Total ways of life) है। संस्कृति के अन्तर्गत समस्त भौतिक वस्तुओं का समावेश रहता है। अतः इन भौतिक वस्तुओं में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। संस्कृति का क्षेत्र तो इतना विशाल एवं व्यापक है कि प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन तो सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत आ जाता है परन्तु प्रत्येक सांस्कृतिक परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक परिवर्तन का एक विशिष्ट भाग है। इन दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है, "समाज **'समय के क्रम' के रूप में ही विद्यमान रहता है। यह एक प्रक्रिया है,**

1. —E. B. Tylor : *Primitive Culture.*

एक वस्तुगत उपज नहीं।"[1] इसका अर्थ यह है कि यदि संस्कृति की प्रक्रिया से कोई अवरोध भी उत्पन्न हो जाय तो भी समाज में कुछ वस्तुओं का शेशांष बचा रहता है। उदाहरणार्थ यदि समाज में नवीन आविष्कारों का होना बन्द भी हो जाय तो भी समाज में पूर्ववर्ती आविष्कारों का प्रादुर्भाव बना रहेगा परन्तु सामाजिक सम्बन्धों की प्रक्रिया के बारे में यह बात लागू नहीं होती है क्योंकि सामाजिक सम्बन्धो के अभाव में समाज के अस्तित्व की कल्पना करना ही बेकार है। फिर भौतिक वस्तुतओं की भाँति सामाजिक संरचना को किसी संग्रहालय में नहीं रक्खा जा सकता। संस्कृति और समाज इन दोनों में एक विशिष्ट अन्तर है। इसी कारण इनमें होने वाले परिवर्तन समान नहीं हैं। सम्भवतः इसी कारण मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है, **"सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक या सभ्यता सम्बन्धी परिवर्तन से भिन्न है।"[2]**

यह सत्य हैं कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में मूलभूत अन्तर है और ये परिवर्तन की दो अलग-अलग दशायें हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है, ये तो केवल परिवर्तन की दो भिन्न धारणायें हैं। इस स्थान पर केवल सामाजिक परिवर्तन का ही अध्ययन किया जा रहा है। सांस्कृतिक परिवर्तन का तो केवल एक पृथक एवं स्वतन्त्र रूप से ही अध्ययन किया जाना चाहिये।

सामाजिक परिवर्तन के कारक
(Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन कोई ऐसा चमत्कार नहीं है जो स्वयं ही बिना किसी कारण के घटित हो जाता हो। यह विभिन्न कारकों के सम्मिलित प्रभाव के कारण होता है। अगले पृष्ठों की पंक्तियों में उन कारकों का संक्षेप में विवेचन किया गया है जो सामाजिक परिवर्तन को सम्भव बनाते हैं :

1. "Society exists only as a time-sequence. It is a......process, not a product."

—MacIver and Page : *Society*.

2. "Social change is a distinct thing from cultural or civilizational change."

—Ibid.

(१) प्राकृतिक कारक (Natural Factors) : आधुनिक समाज वैज्ञानिक रूप से समृद्धशाली होने के उपरान्त भी प्रकृति को अपने वश में नहीं कर पाया है। प्राकृतिक दशायें (गर्मी, जाड़ा, वर्षा, प्रकाश, भूमि की बनावट, तापक्रम आदि) मानवीय जीवन को प्रभावित करती हैं। समाज को इन विभिन्न प्राकृतिक दशाओं से अपना अनुकूलन स्थापित करना पड़ता है। अतः प्रकृति भी स्वयं में प्रायः सामाजिक परिवर्तन का एक कारक बन जाती है। प्रकृति के इस कारक का भयंकर रूप बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी आदि के समय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सितम्बर १९६८ में उत्तरपूर्वी इरान में आये प्रलयकारी भूकम्प का चित्र हमारे समक्ष स्पष्ट है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस भूकम्प ने लगभग २५ से ३० हजार व्यक्तियों की जान लेली और हजारों परिवारों को बे घरबार कर दिया। भूकम्प पीड़ित क्षेत्र में बसे हुए शहर और गाँव सभी कुछ उजड़ गये। निश्चय ही इस क्षेत्र के निवासियों को एक क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन का सामना करना होगा। बंगाल में अकाल के समय भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। बकल तथा हंटिंगटन के मतानुसार किसी भी समाज की सभ्यता, विकास एवं विनाश आदि उस समाज विशेष में पाई जाने वाली प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर करती है। प्रकृति के समक्ष मानव का कुछ भी वश नहीं चलता और उसे उसके आगे घुटने टेक देने पड़ते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक कारक समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन को जन्म देता है। अतः समाज प्रकृति के साथ अपना अनुकूलन करने के लिये वाध्य होता है।

(२) जनांककीय कारक (Demographic Factors) : सामाजिक परिवर्तन का कारण जनांककीय कारक भी हो सकता है। समाज में जनसंख्या के कम अथवा अधिक होने से सामाजिक परिवर्तन के घटित होने की संभावना बढ़ती है। इसे दूसरे प्रकार से इस प्रकार कहा जा सकता है कि जनसंख्या के आकार तथा घनत्व के घटने अथवा बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन होने की संभावना अधिक हो जाती है। जनसंख्या का आकार तथा घनत्व किसी समाज विशेष की जन्मदर और मृत्युदर, उत्प्रवास तथा आप्रवास (Emigration and Immigration) आदि अनेक बातों पर निर्भर रहता है। यदि समाज में जन्मदर अधिक है और मृत्युदर कम, तो ऐसी स्थिति में जनसंख्या की उसी अनुपात में बढ़ोत्तरी होती है और एक ऐसा समय आ जाने की

संभावना रहती है जिसमें जनसंख्या की मात्रा उस समाज में पाये जाने वाले खाद्यान पदार्थों के अनुपात से अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में समाज में अनेक नवीन समस्याओं का प्रादुर्भाव होने लगता है। इस सन्दर्भ में भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या का उदाहरण लिया जा सकता है। जनसंख्या की इस तेजी से हुई वृद्धि ने भारतीय समाज को गरीबी, भुखमरी, बाल-हत्या, अपराध, नैतिक पतन, वेश्यावृत्ति, बिमारी आदि अनेक समस्याओं को दिया है। ये समस्याएँ सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों को निश्चित रुप से प्रभावित करती हैं जिसके फलस्वरूप सामाजिक संगठन और ढाँचे का रुप ही परिवर्तित हो जाता है।

इसी प्रकार कभी-कभी किसी समाज में मृत्यु दर, जन्मदर की अपेक्षा अधिक हो जाती है। परिणामस्वरुप उस समाज की जनसंख्या कम होने लगती है जिसके कारण समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी, प्राकृतिक साधनों का अनुचित अथवा दुरुपयोग, परिवारों के छोटे आकार तथा असन्तुलित आर्थिक अर्थ-व्यवस्था आदि अनेक नवीन समस्याएँ जन्म लेती हैं और साथ ही उच्च जीवन स्तर, सदस्यों की धारणाओं, नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं जीव को पार्जन के ढंग भी प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि जनसंख्या के आकार एवं घनत्व घटने अथवा बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन के लिये सहायक परिस्थितियों का निर्माण होता है।

(६) जैविकीय कारक (Biological Factors) : जैविकीय कारक भी सामाजिक परिवर्तन का कारण हो सकता है। उदाहरणार्थ समाज में मृत्यु दर के कम होने से कार्यशील व्यक्तियों की वृद्धि होती है और नवीन आविष्कारों का प्रादुर्भाव होता है परन्तु यदि समाज में मृत्युदर, जन्मदर की अपेक्षा अधिक है तो कार्यशील व्यक्तियों की कमी होने लगती है और वैज्ञानिक अविष्कारों का प्रादुर्भाव कम होने लगता है। अधिक मृत्युदर समाज में सदस्यों के स्वास्थ्य स्तर पर निर्भर करती है। नीचा स्वास्थ्य स्तर निश्चित रुप से सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। भारतवर्ष इसका एक उत्तम उदाहरण है। इस देश में जीवन की अवधि (Expectation of life) दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है। यही करण है कि इस देश में कार्य क्षमता और अनुभवी व्यक्तियों की कमी है। परिणामस्वरुप यह देश अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही पिछड़ा हुआ है।

समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों का अनुपात भी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है। पुरुषों की संख्या स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होने से 'बहुपति' प्रथा जन्मती है। इसके विपरीत स्त्रियों की संख्या पुरुषों के अनुपात में अधिक होने से 'बहुपत्नी' विवाह प्रचलित होता है। ऐसी अवस्था में समाज में नवीन मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों का प्रादुर्भाव होता है जो कि सामाजिक जीवन एवं सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं।

(४) **प्रौद्योगिकीय कारक** (Technological Factors) : वर्तमान युग में प्रोद्योगिकीय कारक सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण समझा जाता है। वर्तमान युग प्रौद्योगिकीय युग है। सम्पूर्ण संसार में नाना प्रकार के अविष्कार हो रहे हैं। ये अविष्कार सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं और साथ ही उसका रूप भी परिवर्तित कर देते हैं। ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक में उन एक सौ पचास परिवर्तनों का वर्णन किया है जो रेडियो के अविष्कार के कारण हुए हैं। मैकाइवर तथा पेज ने भी भाप के इन्जन के बारे में लिखा है कि इसके आविष्कारक को भी इसके कारण समाज में हुए परिवर्तनों की जानकारी न होगी। प्रौद्योगिकीय अविष्कार समाज में वृहद् उत्पादन को सम्भव बनाते हैं। वृहत् उत्पादन श्रम-विभाजन और विशेषीकरण को जन्म देता है जिसके कारण रहन-सहन के स्तर में वृद्धि, व्यापार की उन्नति तथा देश की आर्थिक व्यवस्था सन्तुलित होती है। उत्पादन के कारण हुए उपरोक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त बेकारी, गरीबी, दुर्घटनाएँ, श्रमिक संघों की स्थापना, औद्योगिक झगड़े, हड़ताल, तालेबन्दी आदि नवीन परिस्थितियों का भी प्रादुर्भाव होता है और साथ ही गाँवों का नागरीकरण, नवीन शहरों का विकास, आवास समस्या, गन्दी बस्तियों का प्रादुर्भाव, व्यभिचार, अपराध तथा अन्य ऐसी ही नाना प्रकार की समस्याएँ जन्म लेती हैं। ये सभी परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ सदस्यों के सामाजिक जीवन को अत्याधिक प्रभावित करती हैं जिनके कारण सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाता है।

(५) **सांस्कृतिक कारक** (Cultural Factors): संस्कृति का क्षेत्र, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है अत्यन्त विशाल है। इसीलिये इसे सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। समाज में जब सदस्य प्रचलित मूल्यों, आदर्शों और प्रतिमानों से समंजन नहीं कर पाते हैं तो नवीन मूल्यों, आदर्शों आदि का प्रादुर्भाव होना आरम्भ होता है। सामाजिक आदर्शों

और मूल्यों में यदि कोई भी परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सामाजिक जीवन एवं सम्बन्धों पर भी पड़ता है। 'विवाह' इसका एक उत्तम उदाहरण है। कुछ समय पूर्व विवाह का आधार धार्मिक आस्था से सम्बन्धित था। अतः पति-पत्नी अपने सम्बन्धों को तोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। परन्तु आज परिस्थितियाँ कुछ और हैं। आज लोग विवाह कामवासना की तुष्टि एवं व्यक्तिगत सुख के लिये करते हैं। इसी कारण अब विवाह में पूर्व की भांति स्थिरता नहीं रह गई है। विवाह का ये परिवर्तित आदर्श निश्चित रुप से सामाजिक जीवन और सम्बन्धों में अनेक परिवर्तनों का कारण बन जाता है। इसी प्रकार समाज की धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि संस्थाओं के परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन का कारण बन जाते हैं।

(६) आर्थिक कारक (Economic Factors) : आर्थिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन का कारण हो सकता है। आर्थिक आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय विश्व के महान चिन्तक कार्लमार्क्स को प्राप्त है। आर्थिक कारक की अवधारणा सबसे पहले कार्ल मार्क्स ने ही प्रस्तुत की थी। समाज में आर्थिक व्यवस्था, वर्ग संघर्ष और सदस्यों के रहन-सहन का स्तर समाज की एक विशिष्ट दशा का द्योतक है। इन सभी में कोई भी परिवर्तन सामाजिक जीवन, सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। समाजवादी पूंजी व्यवस्था का रूप यदि किसी कारण बदल कर पूँजीवादी हो जाये तो निश्चित रुप से समाज की आर्थिक परिस्थितियों में गंभीर परिवर्तन हो जाने की संभावना हो जाती है और एक नवीन आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। आर्थिक कारक इतना अधिक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण है कि समाज में ऐसे आमूल परिवर्तन ला देता है जिसकी कल्पना भी कभी न की गई हो।

(७) मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors) : वर्तमान प्रौद्योगिकीय युग में सामाजिक परिवर्तन के कारकों में एक नवीन कारक, जिसे मनोवैज्ञानिक कारक कहते हैं, का जन्म हुआ है। मनोवैज्ञानिक कारक भी बहुधा सामाजिक परिवर्तन का कारण बन जाता है। आज का मानव यंत्रवत रुटीन जिन्दगी से इतना उकताया हुआ है कि वह स्वयं को अपने पद एवं कार्य के साथ समंजित कर पाने में असमर्थ पाता है। परिणामस्वरुप उसके मष्तिक में अनेक प्रकार के मानसिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अपने

मानसिक तनाव को कम करने के लिये वह समाज में नवीन एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। दूसरी तरफ समाज में एक वर्ग किसी भी परिवर्तन को हेय समझता है और इस बात के लिये क्रियाशील रहता है कि समाज के प्रचलित मूल्यों, आदर्शों, एवं प्रतिमानों आदि में कुछ भी परिवर्तन न हो। इस प्रकार समाज के दोनों वर्गों में मानसिक तनाव बढ़ता है जिसके फलस्वरुप एक नवीन वैचारिकी का प्रादुर्भाव होता है जो कि अन्ततोगत्वा समाज में नवीन मूल्यों, आदर्शों, एवं प्रतिमानों का विकास करती है। फलस्वरूप इससे सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्ध प्रभावित होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कारकों का पारस्परिक सम्बन्ध (Inter-relationship of Factors of Social Change) : सामाजिक परिवर्तन की उपयुक्त विवेचना के आधार पर यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या किसी एक कारक के आधार पर नहीं की जा सकती है। सामाजिक परिवर्तन विभिन्न कारकों के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल होता है। केवल किसी एक कारक के आधार पर सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। परन्तु यह संभव है कि सामाजिक परिवर्तन लाने में कोई कारक विशेष अधिक क्रियाशील हो और अन्य कारक उस कारक विशेष के सहायक हों। सामाजिक परिवर्तन के कारकों की विशेषता यह है कि किसी एक कारक विशेष के अधिक क्रियाशील होने से वह दूसरे कारकों को भी क्रियाशील करता है। उदाहरणार्थ प्राकृतिक कारक यदि समाज में अधिक क्रियाशील हैं तो प्रौद्योगिकीय कारक समाज में शीघ्रता से नवीन आविष्कार करके पुनः समाज को प्रकृति के साथ समंजन करने की स्थिति का निर्माण करते हैं। प्रौद्योगिकीय कारक की क्रियाशीलता का प्रभाव समाज के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी पड़ेगा और समाज के मूल्यों, आदर्शों आदि में भी परिवर्तन होने की संभावना बढ़ जायेगी। ये सब परिवर्तन सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों में घटित परिवर्तन से है। समाज में अधिकांश व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियों को छोड़ना नहीं चाहते और किसी भी परिवर्तन के विरोधी

होते हैं। परन्तु परिवर्तन के विभिन्न कारक अपनी क्रियाशीलता से समाज में एक नवीन परिस्थिति को जन्म दे देते हैं। फलस्वरूप लोगों को नवीन परिस्थितियों के साथ अपना समंजन करना पड़ता है और स्वयं को नवीन मूल्यों, आदर्शों, वैचारिकी और प्रतिमानों के साथ समंजित करना पड़ता है। कुछ भी हो परिवर्तन एक अनिवार्य नियम एवं घटना है जो प्रत्येक समाज को प्रभावित करता रहता है। आगामी अध्यायों में सामाजिक परिवर्तन के कुछ प्रमुख कारकों एवं तत् सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

Selected Readings

1. Kingsley Davis : Human Society.
2. Merrill and Eldredge : Culture and Society.
3. H. M. Johnson : Sociology.
4. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
5. Dawson and Gettys : Introduction to Sociology.
6. Gerth and Mills : Chatacter and Social Structure.
7. MacIver and Page . Society.
8. Jones : Basic Sociological Theory.
9. Jensen : Introduction to Sociology and Social Problems.
10. Alvin Boskoff : Modern Sociological Theory.
11. रविन्द्र नाथ मुकर्जी : उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।

Questions

१. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ स्पष्ट रूप से समझाइये। सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन में भेद स्पष्ट कीजिए।
Explain clearly the meaning of social change. Differentiate between social change and cultural change.

२. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट करते हुए सामाजिक परिवर्तन के विविध कारकों का उल्लेख कीजिए।
What do you understand by social change ? Explain and mention the various factors of social change.

३. सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियन्त्रण के पारस्परिक सम्बन्ध का समाजशास्त्रीय विवेचन कीजिए ।
Analyse sociologically the inter-relationship between social change and social control.

४. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए । इससे सम्बन्धित अन्य कौन-कौन सी अवधारणायें हैं ?
Explain the concept of social change. What are the other concepts relating to social change ?

५. सामाजिक परिवर्तन क्या है ? सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक उद्विकास में भेद स्पष्ट कीजिए ।
What is social change ? Differentiate between social process and social evolution.

६. सामाजिक परिवर्तन के कारकों का पारस्परिक सम्बन्ध बताइये ।
Discuss the inter-relationship of the factors of social change.

७. सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा दीजिएँ तथा इसकी प्रकृति बताइये ।
Define social change and discuss the nature of social change.

८. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ? सामाजिक उद्विकास तथा सामाजिक प्रगति में अन्तर बताइये ।
What do you understand by social change ? Differentiate between social evolution and social progress.

अध्याय २६

सामाजिक परिवर्तन के प्राकृतिक, जनांककीय एवं जैविकीय कारक (NATURAL, DEMOGRAPHIC AND BIOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE)

पिछले अध्याय 'सामाजिक परिवर्तन की अवधारणात्मक व्याख्या' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारक की क्रियाशीलता का प्रतिफल नहीं होता है। सामाजिक परिवर्तन अनेक कारकों के सम्मिलित प्रभाव से होता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। अतः इन साामजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन अनेक कारक लाते हैं। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक परिवर्तन के प्राकृतिक, जनांककीय एवं जैविकीय कारकों का अति संक्षिप्त विवेचन एवं इन कारकों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का अध्ययन किया गया है।

प्रत्येक समाज विभिन्न प्राकृतिक दशाओं (गर्मी, जाड़ा, वर्षा, प्रकाश, भूमि की बनावट, तापक्रम आदि) से सदैव प्रभावित रहता है। वैज्ञानिक रुप से समृद्धशाली होने के उपरान्त भी आज का मानव उपर्युक्त परिस्थितियों पर नियन्त्रण कर पाने में असमर्थ रहा है। प्रकृति जब अपने विकराल रुप में होती हैं तो सम्पूर्ण समाज के जीवन में एक हलचल और क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देती है। अभी सितम्बर १९६८ में उत्तर पूर्वी इरान में आये भूकम्प का

चित्र समारे सामने स्पष्ट है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस क्षेत्र के लगभग २५ से ३० हजार व्यक्तियों को जान गवांनी पड़ी। इस क्षेत्र में बसे हुए शहर एवं गाँव सभी कुछ उजड़ गये। निश्चित ही, इस क्षेत्र के सदस्यों को एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का सामना करना पड़ेगा। बंगाल में अकाल का दृष्य भी हमारे सामने ही है। आज मानव इन प्राकृतिक दशाओं से अपना समंजन करने के लिपे बाध्य है।

जैविकीय कारक भी सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारक है। जैविकीय कारक समाज में सदस्यों के व्यक्तिगत गुणों का निर्धारण करने में सहायता करते हैं और सदस्यों के ये गुण मानवीय अन्तःक्रिया और अंतःसम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ समाज में निर्बल सन्तान दोषयुक्त वंशानुसंक्रमण का प्रतिफल होती है। समाज में निर्बल सन्तान होने से मृत्युदर बढ़ती है और निर्धनता, बिमारी, कम उत्पादन और कार्यशील व्यक्तियों की कमी आदि अनेक समस्याएँ जन्म लेती हैं। इन सबका प्रभाव समाज की आर्थिक स्थिति पर भी पड़ता है। फलस्वरूप समाज में और भी अनेक नवीन समस्याओं का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त सभी स्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

प्राकृतिक एवं जैविकीय कारक की भांति जनांककीय कारक भी सामाजिक परिवर्तन का कारण हो सकता है। समाज में बढ़ती या घटती हुई जनसंख्या अनेक परिवर्तनों को जन्म देती है। अति जनसंख्या समाज में अव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था, बेकारी, निर्धनता, बिमारी, अकाल ऐसी स्थितियों को जन्म देती है। इसके विपरीत यदि समाज में जनसंख्या कम है तो कार्यशील व्यक्तियों की कमी, कम उत्पादन, नवीन आविष्कारों का प्रादुर्भाव न होना आदि अनेक विषम परिस्थितियां सामने आती हैं। ये सब परिस्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती हैं।

उपर्युक्त कारकों की विस्तृत विवेचना एवं उनकी क्रियाशीलता से समाज में होने वाले परिवर्तनों की विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। इनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों को दो वर्गों में बाट सकते हैं। (क) जनांककीय कारक से सम्बन्धित सिद्धान्त और (ख) जैविकीय कारक से सम्बन्धित सिद्धान्त। प्रस्तुत अध्याय में इन सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना की गई है।

सामाजिक परिवर्तन के जनांकीय सिद्धान्त
(Demographic Theories of Social Change)

कुछ विद्वानों ने जनसंख्या के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने का प्रयास किया है। सामाजिक परिवर्तन की जनसंख्या के आधार पर व्याख्या करने वाले विद्वानों में मालथस एवं सैडलर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके सिद्धान्तों का क्रमानुसार नीचे वर्णन किया गया है :

माल्थस का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

जनसंख्या की समस्या पर माल्थस के पूर्व ह्यूम तथा वेल्स ने विचार प्रकट किये थे परन्तु इसे सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय माल्थस को प्राप्त है। माल्थस का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्राख्यात पुस्तक 'An Essay on Principles of Population' में देखने को मिलता है। माल्थस के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं को निम्नलिखित विन्दुओं में दर्शाया जा सकता है :

(१) समाज मुख्य रूप से खाद्य-सामग्री की पूर्ति पर आधारित है।

(२) समाज में स्त्री तथा पुरुष दोनों में ही यौन सम्बन्धी मूल-प्रवृति सर्वव्यापी हैं।

(३) किसी देश की जनसंख्या प्रत्येक पच्चीस वर्ष में दुगुनी हो जाती है। जनसंख्या में बढ़ोत्तरी ज्यामितिक क्रम (Geometrical progression) अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८ में होती है।

(४) खाद्य-सामग्री की पूर्ति जनसंख्या के समान तेजी से नहीं बढ़ती। खाद्य-सामग्री की पूर्ति अंकगणित के क्रम (Arithmetical progression) अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ में बढ़ती है।

स्पष्ट है कि माल्थस के अनुसार जनसंख्या के बढ़ने की गति बहुत ही तीव्र है और शीघ्र ही एक ऐसा समय आयेगा जब कि समाज में जनसंख्या की मात्रा जीवन-निर्वाह के साधनों की पूर्ति से बहुत ही अधिक हो जायेगी परन्तु ऐसी विषम परिस्थिति में दो अवरोध उत्पन्न हो सकते हैं जो जनसंख्या और जीवन निर्वाह के साधनों में समानता ला सकते हैं। ये अवरोध (क) नैसर्गिक

अवरोध (Positive Checks) और (ख) प्रतिबन्धक अवरोध (Preventive Checks) हैं। **नैसर्गिक अवरोध** से माल्थस का तात्पर्य उस अवरोध से है जो प्रकृति की ओर से समाज पर लागू होता है। समाज में अतिजनसंख्या की स्थिति में युद्ध, महामारी, बिमारी, बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि का जोर बढ़ेगा और अतिरिक्त जनसंख्या (Surplus population) नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार समाज में केवल उतने ही व्यक्ति जीवित रहेंगे जिनके लिये खाद्य-सामग्री उपलब्ध है। **प्रतिबन्धक अवरोध** से माल्थस का अर्थ उस अवरोध से है जो समाज द्वारा लागू किये जाते हैं। इसके अन्तर्गत लोग अधिक आयु में विवाह और संयम आदि नियमों का पालन करेंगे जिससे कि समाज में जन्मदर में कमी आयेगी। इस प्रकार माल्थस का सिद्धान्त प्रथम स्थिति में मृत्यु-दर बढ़ाकर और द्वितीय स्थिति में जन्मदर घटाकर जनसंख्या और जीवन निर्वाह के साधनों अर्थात् खाद्य-सामग्री में सन्तुलन करने की कल्पना करता है।

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the theory) यद्यपि माल्थस ही वह प्रथम विद्वान था जिसने जनसंख्या की समस्या का अध्ययन एक सैद्धन्तिक एवं व्यवस्थित ढंग से किया है परन्तु विद्वानों ने उसके सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। उसके सिद्धान्त की कमियों का संक्षिप्त विवरण निम्न विन्दुओं में रक्खा जा सकता है :

(१) माल्थस का यह कथन कि खाद्य-सामग्री अंकगणित क्रम से बढ़ती है, व्यवहारिक जीवन में सत्य नहीं प्रतीत होता क्यों कि अनुभव से यह स्पष्ट हो चुका है कि खाद्य-सामग्री अंकगणित क्रम से अधिक तीव्रता से बढ़ती है। माल्थस के सिद्धान्त के आलोचक माल्थस की इस दलील को मानने को तैयार नहीं हैं कि खेतों पर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Return) लागू होता है। आलोचकों के अनुसार वैज्ञानिक विधियों द्वारा खेती पर उन्नति करके इसे रोका जा सकता है।

(२) माल्थस ने अपने सिद्धान्त में विज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया है। माल्थस संभवत: यह भूल गये थे कि वैज्ञानिक विधियों द्वारा खाद्य-सामग्री की उपज को बढ़ाया जा सकता है और यातायात के साधनों में उन्नति हो पाने के कारण खाद्य-सामग्री शीघ्रता से उन स्थानों पर भी भेजी जा सकती है जहाँ इसकी कमी अथवा अभाव हो। अत: जनसंख्या के भूखे मरने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३) माल्थस ने यह भी समझने का प्रयास नहीं किया कि समाज में रहन-सहन के स्तर के ऊँचा हो जाने पर लोग स्वतः सन्तति-निरोधक उपायों को अपनाना आरम्भ कर देते हैं। वर्तमान समय में यदि किसी आर्थिक रूप से सम्पन्न दम्पति से पूछा जाय कि उन्हें सन्तान चाहिये या एक मोटरकार तो निश्चित रूप से वह मोटरकार को ही प्राथमिकता देंगे।

(४) माल्थस के सिद्धान्त की एक कमी यह भी है कि उसने जनसंख्या का अध्ययन केवल खाद्यान-सामग्री के साथ किया है। वास्तव में जनसंख्या का अध्ययन समस्त सामग्री के दृष्टिकोण से करना चाहिये।

(५) माल्थस के सिद्धान्त की सबसे बड़ी और अन्तिम कमजोरी यह है कि वह बताता है कि नैसर्गिक और प्रतिबन्धक अवरोध जनसंख्या और खाद्य-सामग्री में समंजन करने में सफल ही होंगे। थामसन, माल्थस के इस कथन को उसके सिद्धान्त की बहुत बड़ी भूल मानता है।

सैडलर का जनसंख्या का सिद्धान्त
(Sadler's Theory of Population)

सैडलर के सिद्धान्तानुसार समाज में समय के साथ-साथ मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति की क्षमता क्षीण होती जाती है और एक प्रकार से मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति की क्षमता में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास लागू होता है। इस प्रकार सैडलर के सिद्धान्त की **प्रथम** मान्यता यह है कि प्रत्येक नवीन पीढ़ी में अपने पूर्वजों की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति की क्षमता कम होती है। उसके सिद्धान्त की **दूसरी** मान्यता यह है कि समाज में रहन-सहन के स्तर में सुधार होने से जनसंख्या की वृद्धि कम होती जाती है और जब रहन-सहन के स्तर में काफी अधिक सुधार हो जाता है तो जनसंख्या एक प्रकार से स्थिर हो जाती है अर्थात् उसमें कोई वृद्धि नहीं होती है। वर्तमान समाज का स्वरूप चार विभिन्न अवस्थाओं से गुजर कर बना है। पहली, शिकार की अवस्था, दूसरी, पशु-पालन की अवस्था, तीसरी, कृषि अवस्था और चौथी, औद्योगिक अवस्था। सैडलर के अनुसार मानव समाज में सन्तानोत्पत्ति की क्षमता में इसी प्रकार क्रमिक रूप से क्षीणता आयी है। इस प्रकार सैडलर का सिद्धान्त एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना करता है जब समाज में मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति की क्षमता स्वयं समंजित हो जायेगी। सैडलर के सिद्धान्त

की एक आदर्श कल्पना यह भी है कि जब समाज उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच जायेगा तो समाज में सभी लोग आर्थिक रूप से सम्पन्न होंगे और आर्थिक सम्पन्नता निश्चित रूप से मनुष्य की प्रजनन शक्ति को प्रभावित करती है।

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the theory) माल्थस के सिद्धान्त की भाँति सैडलर के सिद्धान्त में भी अनेक कमियां हैं। अतः इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की गयी है। सिद्धान्त की कमियों का क्रमानुसार नीचे विवरण दिया जा रहा है :

(१) सैडलर के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर लागू नहीं होता। चीन, भारत, पाकिस्तान जापान आदि देशों में लोगों की सन्तानोत्पत्ति की क्षमता बजाय घटने के एक बहुत बड़ी मात्रा में बढ़ गई है।

(२) सिद्धान्त की दूसरी और अन्तिम कमजोरी यह है कि सैडलर ने समाज के जिस आदर्श स्थिति की कल्पना की है, वह केवल कल्पनामात्र है। व्यवहारिकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये सैडलर के सिद्धान्त को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन के जैविकीय सिद्धान्त
(Biological Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के जैविकीय सिद्धान्तों में दो सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहला प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त और दूसरा सामाजिक प्रवरण का सिद्धान्त। इन दोनों सिद्धान्तों का विवेचन नीचे किया गया है।

प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त
(Theory of Natural Selection)

प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि सभी प्राणियों को समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल उन्हीं प्राणियों का अस्तित्व समाज में रहेगा जो प्रकृति के साथ संघर्ष करके विजयी होंगे। प्रत्येक प्राणी के लिये

यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक प्रकार के पर्यावरण से अपना समंजन स्थापित कर सके। अतः उसे अपने पर्यावरण में अनुकूलन स्थापित करने के लिये संघर्ष करना पड़ता है और यदि वह इस संघर्ष में सफल हुआ तभी उसका अस्तित्व सम्भव है अन्यथा प्रकृति उसे नष्ट कर देती है। यही संक्षेप में प्राकृतिक प्रवरण की अवधारणा है।

प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त डारविन के 'जो जीने योग्य है वही जिएगा' (Survival of the fittest) के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त को समाजशास्त्रीय रूप हरबर्ट स्पेन्सर ने दिया।

समाज में प्रत्येक प्राणी अपने पर्यावरण से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है। अतः प्रकृति समाज में उन प्राणियों का वरण कर लेती है जो पर्यावरण के साथ अनुकूलन स्थापित करने में असफल होते हैं। इस सम्बन्ध में जिस्बर्ट का कहना है कि, **"प्रवरण सामान्यतः वह क्रिया अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुछ नियमों अथवा उद्देश्यों के अनुसार कुछ वस्तुओं को रख लिया जाता है अथवा उनमें कुछ उन्नति हो जाती है जब कि अन्य वस्तुओं को छोड़ दिया जाता है।"**[1] अतः स्पष्ट है कि प्रकृति द्वारा प्रवरण कुछ निश्चित नियमों पर आधारित है और प्रकृति के प्रवरण की उस समय अधिक क्रियाशीलता बढ़ जाती है जब प्राणी पर्यावरण से अपना अनुकूलन नहीं कर पाता है।

प्राणी अपने पर्यावरण से अनुकूलन न करने में क्यों असमर्थ रहता है? इसका समाधान प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार, वंशानुसंक्रमण का बदल जाना है। कभी-कभी प्राणी की शारीरिक विशेशताओं को निर्धारित करने वाले वाहकाणु (genes) में एकाएक परिवर्तन आ जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि वाहकाणु जो एक पीढ़ी में बहुत ही प्रबल रहे हैं, वह दूसरी पीढ़ी में भी प्रबल रहें। एक पीढ़ी में प्रबल वाहकाणु दूसरी पीढ़ी में गौड़ हो सकते हैं। वाहकाणु की इस परिवर्तन शीलता को 'उत्परिवर्तन की प्रक्रिया' (Process of mutation) कहा जाता है। उत्परिवर्तन

1. Selection in general is the act or process by which, in accordance with a given norm or end, certain things are retained or promoted and others discarded."

—P. Gisbert.

की प्रक्रिया प्राणियों को पर्यावरण से अनुकूलन करने की क्षमता प्रदान करती है। परन्तु यह सदैव आवश्यक नहीं है। कभी-कभी उत्परिवर्तन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसे दोषपूर्ण एवं निर्बल प्राणियों का जन्म होता है जो अपने पर्यावरण से समंजन नहीं कर पाते हैं। इसी स्थान पर ऐसे दोषपूर्ण एवं निर्बल प्राणियों पर प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त क्रियाशील हो जाता है। प्राकृतिक प्रवरण ऐसी अवस्था में दो प्रमुख रूपों में पाया जाता है। (क) निरसन (Elimination) और (ख) विलयन (Absorption)। जो प्राणी प्रकृति के साथ अपना समंजन कर पाने में असमर्थ रहते हैं, प्रकृति उनका निरसन कर देती है अर्थात् नष्ट कर देती है और समंजन स्थापित करने वाले प्राणियों को दूसरे प्राणियों के साथ विलयन कर देती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त प्राणी के जन्म के उपरान्त आरम्भ होता है और केवल मृत्युदर से ही सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राणी को जीवित रहने के लिये संघर्ष (Struggle for Existence) करना पड़ता है। जीवित रहने के लिये संघर्ष की प्रक्रिया को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने के लिये अपने पर्यावरण से संघर्ष करने के तीन प्रमुख रूप हो सकते हैं। (क) प्राणी का प्राकृतिक पर्यावरण से संघर्ष (ख) मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के साथ होने वाला संघर्ष और (ग) एक समान जीवित प्राणियों में होने वाला संघर्ष। प्रथम प्रकार के संघर्ष में, प्राणी को विभिन्न प्राकृतिक दशाओं (जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि) से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में असफल हुए प्राणियों का प्रकृति निरसन कर देती है। दूसरे प्रकार के संघर्ष में, मनुष्य को अन्य प्राणियों से संघर्ष करना पड़ता है। उदाहरणार्थ वह संघर्ष जो एक अस्वस्थ्य मनुष्य एवं रोग के कीटाणुओं में होता है। इन दोनों में जो भी प्रबल रहता है वही विजयी होता है। असफल हुए व्यक्ति या कीटाणु प्रकृति द्वारा निरसित हो जाते हैं। तीसरे प्रकार के संघर्ष के अन्तर्गत, समाज में सीमित साधनों का प्राप्त करने के लिए संघर्ष होता है। इस संघर्ष में भी असफल व्यक्तियों को प्रकृति निरसन कर देती है।

प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की उपर्युक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज में केवल सबसे योग्य प्राणी ही जीवित रह सकते हैं

(Only fittest can survive) अर्थात् जो अस्तित्व के लिये संघर्ष की प्रक्रिया में सफल होते हैं। और वे प्राणी जो अस्तित्व के लिये संघर्ष की प्रक्रिया में असफल होते हैं, प्रकृति द्वारा उनका निरसन कर लिया जाता है।

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the theory) आधुनिक समाजशास्त्री प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं और उन्होंने सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। संक्षेप में सामाजिक प्रवरण के सिद्धान्त की दुर्बलताओं को निम्नांकित विन्दुओं में दर्शाया जा सकता है :

(i) प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त यह बताता है कि समाज में प्रत्येक प्राणी को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। समाज में एक ओर जहाँ संघर्ष की प्रक्रियाएँ क्रियाशील रहती हैं वहीं दूसरी ओर एकीकरण की प्रक्रियाएँ (सहयोग, व्यस्थापन, सात्मीकरण आदि) की भी क्रियाशीलता बनी रहती है। इसी कारण समाज में एक सन्तुलन बना रहता है। व्यवहारिक जीवन में यह कभी भी सम्भव नहीं है कि समाज में सदैव संघर्ष ही होता रहे।

(ii) प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की एक यह भी मान्यता है कि पेड़ पौधों में भी अपने अस्तित्व बनाये रखने के लिये संघर्ष होता है। परन्तु अनुभवों के अधार पर यह बात गलत साबित हुई है। रीड[1] ने भी अपनी पुस्तक में अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि पेड़-पौधों में भी सहयोग की भावना देखने को मिलती है।

(iii) सिद्धान्त की सबसे प्रबल मान्यता यह है कि समाज में सबसे योग्य ही प्राणी जीवित रहेंगे, गलत है। डाक्टर बम्पस (Bumpus) ने अपने एक अनुसंधान के द्वारा भी इस बात को गलत साबित कर दिया है। वास्तविकता तो यह है कि समाज में सबसे योग्य प्राणी एवं सबसे अयोग्य प्राणी का ही प्रकृति द्वारा निरसन किया जाता है और यह देखा गया है कि समाज में योग्य एवं अयोग्य के बीच के प्राणी ही जीवित रहते हैं।

(iv) सिद्धान्त की अन्तिम कमजोरी यह है कि समाज में केवल उन्हीं प्राणियों को जीने का अधिकार है जो योग्य हैं अर्थात् शक्तिशाली हैं, सत्य नहीं है। समाज एवं प्रकृति द्वारा उन प्राणियों को भी जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है जो अयोग्य अर्थात् निर्बल हैं।

1. Read : *Sociology af Nature.*

प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की विवेचना एवं समालोचना से यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त पशु-पौधों पर भी पूर्ण रूप से लागू नहीं होता है। अतः मानव समाज में तो इस सिद्धान्त की क्रियाशीलता और भी कम हो जाती है।

प्राकृतिक प्रवरण एवं मानव समाज
(Natural Selection and Human Society)

मानव समाज में प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की अनुपयुक्ता को निम्न विन्दुओं में रक्खा जा सकता है :

(i) प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राणी को समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। परन्तु मानव समाज पर यह बात लागू नहीं होती है। मानव समाज में सहयोग का बहुत अधिक महत्व होता है। सभी समाज अपनी प्रगति के लिये क्रियाशील रहते हैं जो कि समाज में व्यक्तियों के सहयोग पर ही निर्भर है। अतः यह कहना गलत है कि समाज में जीवित रहने के लिये सदैव संघर्ष करना पड़ता हैं और केवल वही व्यक्ति जीवित रह सकता है जो संघर्ष में विजयी होता है।

(ii) मानव समान में यदि संघर्ष होता भी है तो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच न होकर विभिन्न समूहों के बीच होता है और विजयी समूह में प्रायः ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं जो बिलकुल ही अयोग्य होते हैं।

(iii) मानव समाज में यह कहना कि कौन सा व्यक्ति योग्य है और कौन अयोग्य, अत्यन्त ही कठिन समस्या है। अतः योग्य एवं अयोग्य के बीच भेद स्पष्ट कर पाना मानव समाज में एक असंभव कार्य है।

(iv) प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार मृत्युदर केवल प्राकृतिक प्रवरण पर ही आधारित होती है। परन्तु मानव समाज में यह बात लागू नहीं होती है। मानव समाज में ऐसे अनेक सामाजिक कारक भी क्रियाशील रहते हैं जो मृत्युदर को प्रभावित करते हैं।

(v) ऑगबर्न के मतानुसार मानव समाज में चिकित्साशास्त्र में उन्नति होने के कारण व्यक्तियों की जीवन अवधि बढ़ गयी है। इस शास्त्र ने व्यक्ति की प्रकृति के साथ संघर्ष करने की क्षमता को भी बढ़ा दिया है।

(vi) मैकाइवर तथा पेज के अनुसार आज समाज में प्राकृतिक पर्यावरण का अत्यन्त छोटा सा भाग ही प्राकृतिक रह गया है। मानव ने प्राकृतिक पर्यावरण के अधिकांश भाग को स्वयं निर्मित पर्यावरण में बदल दिया है। यही कारण है कि मानव निर्मित पर्यावरण में प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त ठीक से लागू नहीं हो पाता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त एक अव्यवहारिक सिद्धान्त है और मानव समाज में किसी भी रूप से ठीक से लागू नहीं होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव समाज प्राकृतिक कारकों की अपेक्षा सामाजिक कारकों से अधिक प्रभावित होता है। मार्गन ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि, **"सभ्य मनुष्य के उद्विकास में प्राकृतिक प्रवरण निरन्तर कम महत्वपूर्ण कारक होता जा रहा है।"**[1] मार्गन के कथन का अर्थ यह है कि मनुष्य की सभ्यता का स्तर ऊँचा होने के कारण प्राकृतिक प्रवरण की प्रभावशीलता में बराबर आशातीत कमी आ रही है।

सामाजिक प्रवरण का सिद्धान्त
(Theory of Social Selection)

मानव जीवन केवल विभिन्न प्राकृतिक दशाओं से ही प्रभावित नहीं होता है वरन् अनेक सामाजिक कारक भी मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी होने के साथ-साथ एक सामाजिक प्राणी भी है। अतः उसका जीवन अनेक सामाजिक कारकों से प्रभावित होता रहता है। सामाजिक कारक केवल मनुष्य के सामाजिक जीवन को ही नहीं परन्तु उसके प्राणीशास्त्रीय जीवन को भी प्रभावित करते हैं और जब मानव द्वारा निर्मित सामाजिक कारक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानव समाज में जन्मदर या मृत्युदर में से किसी एक को भी प्रभावित करते हैं तो उसे सामाजिक प्रवरण कहते हैं।

1. "Natural selection is constantly diminishing factor in the evolution of civilized man."

—L. Morgan : *Habit and Instinct.*

मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार, "यदि मानव समाज में उत्पन्न शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से क्रियाशील रहते हुए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करें जिनसे सम्पूर्ण जनसंख्या या उसके विभिन्न समूह के सन्तानोंत्पत्ति तथा जीवित रहने की दरें प्रभावित होती हों तो उस प्रक्रिया को सामाजिक प्रवरण कहा जाता है।"[1]

सामाजिक प्रवरण के प्रकार (Modes of Social Selection) सामाजिक प्रवरण के निम्नांकित दो प्रकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(क) प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Direct Social Selection) प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण वह है जिसके अन्तर्गत समाज द्वारा ऐसी विधियाँ अपनायी जाती हैं जो जन्म-दर और मृत्यु-दर को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ नवीन अस्पतालों की वृद्धि, बाल-विवाह रोकने के लिये कानून, स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों का प्रचार आदि कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनका उद्देश्य समाज में मृत्युदर को कम करना है। इसके बिपरीत जब समाज रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाकर परिवार-नियोजन आदि कार्यक्रमों का विस्तार करता है तो इसका उद्देश्य समाज में जन्म-दर को कम करना होता है।

(ख) अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Indirect Social Selection) अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण का तात्पर्य उस परिस्थिति से है जिसे समाज कुछ दूसरे ही उद्देश्य से उत्पन्न करता है परन्तु वह परिस्थिति विशेष उत्पन्न हो जाने के उपरान्त समाज में जन्म-दर और मृत्यु दर को प्रभावित करने लगती है। उदाहरणार्थ किसी मिल अथवा फैक्ट्री की स्थापना करने में समाज का उद्देश्य उद्योग-धन्धों का विस्तार करना होता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन नवीन उद्योग-धन्धों की स्थापना से उस क्षेत्र विशेष में आबादी बढ़ जाती है। फलस्वरूप आवास समस्या उत्पन्न होती है

1. "In so far as forces generated within human society and operating through social relationships create conditions which effect the reproduction and survival rates of the population as a whole and differentially of the various groups within it, we can term the process as social selection"

—MacIver and Page : *Society.*

(iv) **व्यवसायिक :** समाज में कुछ व्यवसाय इस प्रकार के होते हैं जिनसे मृत्यु-दर बढ़ती है। उदाहरणार्थ मिल में कार्य करने वाले श्रमिक अधिकतर किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहते हैं जिससे मृत्यु-दर प्रभावित होती है। मिल एवं खान में प्रायः होने वाली दुर्घटनाओं से भी मृत्युदर प्रभावित होती है।

(v) **आर्थिक :** समाज में आर्थिक स्वरूप भी जन्म-दर और मृत्यु-दर को प्रभावित करता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि आर्थिक रुप से सम्पन्न परिवारों में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही कम रहती है। इसके विपरीत निर्धन परिवारों में जहाँ एक ओर जन्म-दर बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर मृत्यु-दर भी बढ़ती जा रही है।

(vi) **राजनैतिक :** समाज में राजनैतिक कारक भी जन्म-दर और मृत्यु-दर को प्रभावित करते हैं। प्रायः गृहयुद्ध और क्रान्ति में अनेक निर्दोष व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार समाज में मृत्युदर बढ़ जाती है।

(vii) **धार्मिक :** समाज में अनेक धर्म नैतिकता और ब्रह्मचर्य पर जोर देते हैं। इन धर्मों के अनुयायीं इससे प्रेरित होकर विवाह नहीं करते हैं जिससे जन्म-दर में कमी आती है।

(viii) **नगरीय एवं ग्रामीण :** समाज में नगरों एवं गांवों का पर्यावरण भी जन्मदर और मृत्यु-दर को प्रभावित करता है। प्रायः नगरों में स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही कम रहती है। इसके विपरीत गाँवों में गन्दगी और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं के उपलब्ध न रहने के कारण मृत्युदर अधिक देखने को मिलती है। ग्रामीण जनता प्रायः अशिक्षित होने के कारण परिवार नियोजन में भी विश्वास नहीं रखती है। अतः नगरों की अपेक्षा गाँवों में जन्म-दर भी अधिक रहती है।

सामाजिक प्रवरण और प्राकृतिक प्रवरण में अन्तर Distinction between Social Selection and Natural Selection)

सामाजिक प्रवरण और प्राकृतिक प्रवरण की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ये दो विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं। मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार **"प्राकृतिक प्रवरण उन दिशाओं की सीमाओं का निर्देशन करता है जिन पर मानवता को चलना पड़ेगा। सामाजिक प्रवरण उन सीमाओं में दिशा**

का निर्धारण करता है।"[1] संक्षेप में मैकाइवर तथा पेज के अनुसार सामाजिक प्रवरण और प्राकृतिक प्रवरण में निम्नलिखित अन्तर है :

(i) प्राकृतिक प्रवरण का मुख्य उद्देश्य समाज में अस्तित्व बनाये रखने के संघर्ष में असफल व्यक्तियों का निरसन करना होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त केवल मृत्यु-दर द्वारा ही क्रियाशील होता है जब कि सामाजिक प्रवरण के अन्तर्गत मृत्युदर तो प्रभावित होती ही है परन्तु साथ ही साथ जन्म-दर भी प्रभावित होती है।

(ii) प्राकृतिक प्रवरण समाज में सदस्यों के समक्ष केवल दो विकल्प रखता है। प्रथम, या तो प्रकृति के साथ समंजन स्थापित करना और दूसरा, समंजन स्थापित करने में असफल हो जाने की स्थिति में मृत्यु। इसके विपरीत सामाजिक प्रवरण सदस्यों के समक्ष अनेक विकल्प रखता है। यह जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों को ही प्रभावित करने का प्रयास करता है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "सामाजिक प्रवरण निरोधात्मक और रचनात्मक दोनों ही है, यह केवल यही निश्चित नहीं करता है कि कौन जीवित रहेगा बल्कि यह भी निश्चित करता है कि कौन जन्म लेगा।"[1]

(iii) प्राकृतिक प्रवरण के अन्तर्गत सभी प्राणियों को एक पर्यावरण विशेष में रहना अनिवार्य होता है जब कि सामाजिक प्रवरण समाज में सदस्यों की आवश्यकतानुसार सामाजिक पर्यावरण में भी परिवर्तन ला देता है।

(iv) प्राकृतिक प्रवरण उन दिशाओं की सीमाओं को बताता है जिन पर मानवता को चलना पड़ेगा परन्तु सामाजिक पर्यावरण उन दिशाओं में सीमाओं का निर्धारण करता है।

(v) प्राकृतिक प्रवरण मनुष्यों के समक्ष कोई विकल्प नहीं रखता। अतः लोगों की इच्छाओं आदि का प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु सामाजिक प्रवरण सदस्यों के समक्ष अनेक विकल्प रखता है जिससे कि व्यक्ति कुछ को चुन लेता है और कुछ को छोड़ देता है।

(vi) प्राकृतिक प्रवरण का आधार प्राकृतिक दशाएँ हैं जब कि सामाजिक प्रवरण सामाजिक दशाओं पर निर्भर है।

---

1. "Natural Selection limits the directions along which humanity may travel; Social selection decides the direction within these limits."

—MacIver and Page : *Society.*

(vii) प्राकृतिक प्रवरण प्राणीशास्त्रीय नियमों पर आधारित होने के कारण एक स्थिर धारणा है परन्तु सामाजिक प्रवरण का सम्बन्ध समाज एवं व्यक्ति से है। समाज एवं व्यक्ति से सम्बन्धित कोई भी धारणा स्थिर नहीं हो सकती। इसीलिए सामाजिक पर्यावरण नवीन परिस्थितियों के प्रादुर्भाव होने के कारण परिवर्तित होता रहता है।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. Gvrvitch and Moore : Twentieth Century Sociology.
3. Lloyd Morgan : Habit and Instinct.
4. Herbert Spencer : First Principles.
5. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
6. Sorokin : Contemporary Sociological Theories.

Questions

१. सामाजिक प्रवरण और प्राकृतिक प्रवरण में भेद स्पष्ट कीजिए और प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
Distinguish between social selection and natural selection and discuss the principle of natural selection.

२. सामाजिक प्रवरण और प्राकृतिक प्रवरण में भेद बताइये। क्या मानव समाज में प्राकृतिक पर्यावरण का सिद्धान्त क्रियाशील होता है ?
Distinguish between social selection and natural selection. Does the principle of natural selection operate in human society ?

३. "प्राकृतिक निरसन केवल मृत्यु-दर द्वारा ही प्रभावशाली होता है।" समालोचना कीजिये।
'Natural selection acts solely through the death-rate.' Comment.

४. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :
(क) प्राकृतिक प्रवरण और (ख) सामाजिक प्रवरण
Write short notes on :
(a) Natural Selection and (b) Social Selection

५. प्राकृतिक प्रवरण की अवधारणा अथवा अस्तित्व के लिये संघर्ष को समझाइये।
Explain either the concept of natural selection or the struggle for existence.

६. सामाजिक प्रवरण के सिद्धान्त की अवधारणा स्पष्ट कीजिये।
Explain the concept of social selection.

७. 'प्राकृतिक प्रवरण' और 'सामाजिक प्रवरण' पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये।
Write a short essay on 'Natural Selection' and 'Social Selection'.

अध्याय २७

सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक (TECHNOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE)

सामाजिक परिवर्तन लाने वाले कारकों को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। (क) वे कारक जो मानव द्वारा निर्मित हैं और (ख) वे कारक जिनका निर्माण मानव द्वारा नहीं हुआ है। सामाजिक परिवर्तन लाने में मानव निर्मित कारक, जिनमें प्रौद्योगिकीय कारण महत्वपूर्ण हैं, का बहुत ही विशेष महत्व है। आज सभी समाजों में जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं उसमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इन प्रौद्योगिकीय कारकों का ही हाथ है। इसका मुख्य कारण यह है कि आज का युग एक वैज्ञानिक युग है। आए दिन नवीन आविष्कारों का प्रादुर्भाव होता जा रहा है जो मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहे हैं। कुछ विद्वान तो आज समाज में होने वाले सभी परिवर्तनों का मूल कारण प्रौद्योगिकीय कारकों को ही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रौद्योगिकीय कारक ही सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारक है और समस्त सामाजिक परिवर्तन प्रौद्योगिकीय कारकों की क्रियाशीलता का ही प्रतिफल है। विद्वानों के इसी दृष्टिकोण को प्रौद्योगिकीय निर्णायकवाद (Technological Determinism) कहा जाता है।

प्रौद्योगिकी की अवधारणा (Concept of Technology)

साधारणतौर पर प्रौद्योगिकी का अर्थ किसी यन्त्र अथवा उपकरण से लगाया जाता है, परन्तु प्रौद्योगिकी का यह अर्थ अत्यन्त ही संकुचित है। प्रौद्योगिकी तो वह ज्ञान है जिसके द्वारा मानव इन यन्त्रों एवं उपकरणों का उपयोग अथवा प्रयोग करता है। मेरिल के मतानुसार, "प्रौद्योगिकी मानव के व्यवहारिक उद्देश्यों के लिये विज्ञान का प्रयोग है।"[1]

प्रो० ए० के० सरन के शब्दों में, "किसी उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अप्रत्यक्ष तथा उच्च श्रेणी के साधनों की व्यवस्था को प्रौद्योगिकी कहा जाता है।"[2]

कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने एवं उत्पादन करने की प्रक्रिया को व्यक्त करती है और इसके द्वारा वे अपने जीवन को पालते हैं तथा वे अपने सामाजिक सम्बन्धों के प्रकारों में उत्पन्न होने वाली मानसिक धारणाओं को व्यक्त करते हैं।"[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी समाज एवं सामाजिक सम्बन्धों को अत्यधिक प्रभावित करती है। प्रौद्योगिकीय कारकों का प्रभाव मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रों पर पड़ता है।

प्रौद्योगिकीय कारकों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effects of Technological Factors on Social Life)

पहले ही कहा जा चुका है कि 'सामाजिक परिवर्तन' एक जटिल अवधारणा है और इसकी किसी एक कारक के आधार पर व्याख्या नहीं की जा

1. "Technology is the application of pure science to the immediate, practical ends of human beings."
—Merrill : *Society and Culture*.

2. "Technology is a system of second and higher order means to any given end or set of ends."
—Prof. A. K. Saran.

3. "Technology discloses man's mode of dealing with nature, the process of production by which he sustains his life, and thereby also lays bare the mode of formation of social relations, and of the mental conceptions that flow from them."
—Karl Marx : *Capital (Vol. I)*.

सकती है। सामाजिक परिवर्तन एकाधिक कारकों के सम्मिलित प्रभाव से घटित होता है, परन्तु आज का युग मशीनी युग है; एक प्रोद्यौगिकीय युग है। आज मानव-संसार बिना प्रोद्योगिकी के अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिये कुछ विद्वान (कार्ल मार्क्स आदि) तो समस्त सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का ही प्रतिफल मानते हैं। मार्क्स के मतानुसार यदि समाज में कोई भी प्रौद्यौगिकीय परिवर्तन होता है तो इसका प्रभाव उत्पादन व्यवस्था पर पड़ता है जो सामाजिक संरचना, सामाजिक आदर्शों, मूल्यों, एवं प्रतिमानों को भी प्रभावित करता है। मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रौद्योगिकीय कारकों के पड़ने वाले प्रभाव की निम्नलिखित विवेचना से इसे समझना और भी सरल हो जायेगा।

(क) सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Social Life) : मानव जीवन के सभी पक्षों की तुलना में प्रौद्योगिकीय कारक सबसे अधिक सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। समाज के प्रौद्योगिकीय क्षेत्र में प्रगति करने के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी अनेक परिवर्तनों का प्रादुर्भाव होता है। प्रौद्योगिकीय कारक सामान्यतया सामाजिक जीवन के निम्नलिखित पक्षों को प्रभावित करते हैं :

(i) सामुदायिक जीवन का ह्रास (Decline of Community Life) : प्रौद्योगिकी के विस्तार के फलस्वरूप नवीन औद्योगिक नगरों का प्रादुर्भाव होने लगता है और इन नगरों की जनसंख्या बढ़ती जाती है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण सदस्यों के लिये यह सम्भव नहीं होता कि वे दूसरे सदस्यों से व्यक्तिगत सम्बन्ध बनायें रक्खें। परिणामस्वरूप सदस्यों के सामुदायिक जीवन का क्रमशः ह्रास होने लगता है।

(ii) व्यक्तिवादिता (Individualism) : प्रौद्योगिकीय विकास के फलस्वरूप समाज में व्यक्तिवादी आदर्शों का विकास होता है। व्यक्ति केवल अपने निजी गुणों के विकास के लिये ही क्रियाशील रहता है जिससे व्यक्तिवादिता बढ़ती है।

(iii) आवास समस्या (Housing Problem) : प्रौद्योगिकी के विकास के परिणामस्वरूप नवीन औद्योगिक नगरों का विकास होता है। इन नगरों में जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। नगरों में बढ़ती हुई जनसंख्या

के अनुपात में मकानों के उपलब्ध न रहने के कारण आवास समस्या जन्म लेती है और गन्दी बस्तियों (Slums) में जनसंख्या का जमाव बढ़ता जाता है।

(iv) **मनोरंजन का व्यापारीकरण** (Commercialization of Recreation) : प्रौद्योगिकीय विकास के फलस्वरूप समाज में व्यापारिक मनोरंजन की व्यवस्था का प्रादुर्भाव होने लगता है। कुछ समय पूर्व लोग परिवार के सदस्यों, सखा-सहेलियों आदि के बीच ही गप-शप, हंस-खेल कर अपना मनोरंजन कर लेते थे, परन्तु अब परिस्थिति भिन्न है। आज मनोरंजन के पुराने साधन बदल कर चल-चित्र, नाटक, क्लब आदि हो गये हैं जिन्हें पैसा देकर ही प्राप्त किया जा सकता है।

(v) **मानसिक चिन्ता एवं रोग आदि** (Psychic Conflicts and Diseases) : प्रौद्योगिकी विकास से आज मानव के जीवन में एक तीव्रता आ गई है। अतः वह अपने में कुछ मानसिक तनाव तथा अन्य अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त रहता है। इसका मुख्य कारण आज के मानव की यन्त्रवत रुटीन जिन्दगी, जीवन के प्रति अनिश्चितता, दुर्घटना तथा बेकारी आदि का भय है। इन सब मानसिक व्याधियों का प्रौद्योगिकी के कारण ही प्रादुर्भाव होता है।

(vi) **स्त्री-पुरुष के अनुपात में भेद** (Disparity in Sex Ratio): ऊपर कहा जा चुका है कि प्रौद्योगिकी के कारण औद्योगिक नगरों में आवास समस्या का प्रादुर्भाव होता है। अतः इन नगरों में रहने वाले अधिकांश लोग अकेले ही रहते हैं। अतः औद्योगिक नगरों में स्त्री-पुरुष के अनुपात में बहुत अधिक अन्तर हो जाता है।

(vii) **भ्रष्टाचार एवं अपराधों में तेजी** (Increase in Corruption and Crimes) : प्रौद्योगिकी समाज में ऐसी अनेक परिस्थितियों को जन्म देती है जिनके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार एवं अपराधों में वृद्धि होने लगती है। औद्योगिक नगरों में भ्रष्टाचार एवं अपराधों की वृद्धि का कारण जनसंख्या की विभिन्नता, पारिवारिक एवं सामुदायिक जीवन से अलगाव, आवास समस्या, पंचायत का नियन्त्रण न रहना आदि हैं। नगरों में पाई जाने वाली वेश्यावृत्ति, जूआ, शराब, चल-चित्र आदि नाना प्रकार के प्रलोभन भी अपराध एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

(ख) पारिवारिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Family Life) : सामाजिक जीवन के साथ प्रौद्योगिकी पारिवारिक जीवन को भी प्रभावित करती है। पारिवारिक जीवन के निम्नांकित परिवर्तन प्रौद्योगिकीय विकास के ही प्रतिफल हैं :

(i) पारिवारिक विघटन (Family Disorganisation) : संयुक्त परिवारों को एकांकी परिवार में परिवर्तित करने का श्रेय प्रौद्योगिकी को है। प्रौद्योगिकीय विकास के फलस्वरूप बड़े-बड़े नवीन नगरों का प्रादुर्भाव होता है। इन प्रौद्योगिक नगरों में कार्य करने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इसकी आवश्यकतापूर्ति के लिये लोग गाँव छोड़ कर नगरों में आकर बस जाते हैं। प्रौद्योगिक नगरों में प्राय: आवास समस्या विद्यमान होने के कारण श्रमिक अपने परिवार को गाँव में ही छोड़ देता है। इस प्रकार संयुक्त परिवारों का धीरे-धीरे पतन होने लगता है।

(ii) स्त्रियों को नौकरियों में समान अवसर (Equal Opportunities to Women in Employment) : प्रौद्योगिकीय विकास की एक यह भी विशेषता है कि स्त्रियों को अब नौकरियों में समान अवसर प्राप्त है। सभी समाजों में बड़े-बड़े उद्योग धन्धों में आज स्त्रियाँ उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हैं। स्त्रियों के घर से बाहर कार्य करने में सामान्य सामाजिक संगठन ढीला पड़ता है और पति-पत्नी सम्बन्ध, यौन सम्बन्ध, आर्थिक सम्बन्ध आदि ठीक से नहीं पनप पाते हैं। स्त्रियों के कार्य करने से परिवार के बच्चों के पालन-पोषण की समस्या भी बढ़ती है और बच्चों का उचित सामाजीकरण नहीं हो पाता है।

(iii) प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, बिलम्ब विवाह, और विवाह विच्छेद में वृद्धि (Increase in Love Marriages, Inter-caste Marriages, Late Marriages and Divorces): प्रौद्योगिकीय विकास ने समाज में प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह और विवाह विच्छेद का प्रचलन आरम्भ करने में बहुत अधिक सहायता की है। प्रौद्योगिकी के कारण नगरों का विकास होता है। नगरों में विभिन्न उद्योगों में स्त्री-पुरुष दोनों ही साथ-साथ कार्य करते हैं। वे साथ-साथ घूमते हैं, सिनेमा देखते हैं तथा क्लब जाते हैं। इन सब का परिणाम प्रेम-विवाह होता है। प्रेम-विवाह में जाति का ध्यान नहीं रक्खा जाता। अतः

(ख) पारिवारिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Family Life) : सामाजिक जीवन के साथ प्रौद्योगिकी पारिवारिक जीवन को भी प्रभावित करती है। पारिवारिक जीवन के निम्नांकित परिवर्तन प्रौद्योगिकीय विकास के ही प्रतिफल हैं :

(i) पारिवारिक विघटन (Family Disorganisation) : संयुक्त परिवारों को एकांकी परिवार में परिवर्तित करने का श्रेय प्रौद्योगिकी को है। प्रौद्योगिकीय विकास के फलस्वरूप बड़े-बड़े नवीन नगरों का प्रादुर्भाव होता है। इन प्रौद्योगिक नगरों में कार्य करने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इसकी आवश्यकतापूर्ति के लिये लोग गाँव छोड़ कर नगरों में आकर बस जाते हैं। प्रौद्योगिक नगरों में प्रायः आवास समस्या विद्यमान होने के कारण श्रमिक अपने परिवार को गाँव में ही छोड़ देता है। इस प्रकार संयुक्त परिवारों का धीरे-धीरे पतन होने लगता है।

(ii) स्त्रियों को नौकरियों में समान अवसर (Equal Opportunities to Women in Employment) : प्रौद्योगिकीय विकास की एक यह भी विशेषता है कि स्त्रियों को अब नौकरियों में समान अवसर प्राप्त है। सभी समाजों में बड़े-बड़े उद्योग धन्धों में आज स्त्रियाँ उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हैं। स्त्रियों के घर से बाहर कार्य करने में सामान्य सामाजिक संगठन ढीला पड़ता है और पति-पत्नी सम्बन्ध, यौन सम्बन्ध, आर्थिक सम्बन्ध आदि ठीक से नहीं पनप पाते हैं। स्त्रियों के कार्य करने से परिवार के बच्चों के पालन-पोषण की समस्या भी बढ़ती है और बच्चों का उचित सामाजीकरण नहीं हो पाता है।

(iii) प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, बिलम्ब विवाह, और विवाह विच्छेद में वृद्धि (Increase in Love Marriages, Inter-caste Marriages, Late Marriages and Divorces): प्रौद्योगिकीय विकास ने समाज में प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह और विवाह विच्छेद का प्रचलन आरम्भ करने में बहुत अधिक सहायता की है। प्रौद्योगिकी के कारण नगरों का विकास होता है। नगरों में विभिन्न उद्योगों में स्त्री-पुरुष दोनों ही साथ-साथ कार्य करते हैं। वे साथ-साथ घूमते हैं, सिनेमा देखते हैं तथा क्लब जाते हैं। इन सब का परिणाम प्रेम-विवाह होता है। प्रेम-विवाह में जाति का ध्यान नहीं रक्खा जाता। अतः

अन्तर्जातीय विवाह होने लगते हैं। प्रेम विवाह प्रायः भावनाओं पर आधारित होते हैं। उसमें व्यवहारिकता कम देखने को मिलती है। अतः प्रायः प्रेम विवाहों का अन्त विवाह विच्छेद में होता है। प्रौद्योगिकी लोगों में व्यक्तिवादी विचार-धारा को बढ़ाती है। अतः स्त्रियाँ एवं पुरुष काफी देर से विवाह करते हैं।

(ग) धार्मिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Religious Life) : प्रौद्योगिकीय विकास ने मानव जीवन के धार्मिक पक्ष पर भी बहुत अधिक प्रभाव डाला है। आज नगरों में रहने वाले धीरे-धीरे नास्तिक होते जाते जा रहे हैं और धर्म से उनका विश्वास उठता जा रहा है। इसका कारण वैज्ञानिक प्रगति और व्यक्तिवाद का विकास है। फिर आज लोगों को अनेक धर्म के मानने वाले लोगों के साथ मिल-जुल कर कार्य करना पड़ता है। इससे व्यक्ति एक दूसरे के धर्म को अच्छी तरह समझते हैं और इस प्रकार धार्मिक संकीर्णतायें बहुत हद तक लोगों की दूर हो जाती हैं।

(घ) ग्रामीण जीवन पर प्रभाव (Effects on Rural Life) : प्रौद्योगिकीय विकास ने जहाँ एक ओर नगरी जीवन को प्रभावित किया है, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जीवन को भी प्रभावित करने से नहीं छोड़ा है। यातायात के साधनों में सुधार होने के कारण एक गाँव का दूसरे गाँव से सम्पर्क स्थापित हो गया है। फिर गाँव और नगर की दिन प्रतिदिन दूरी भी कम होती जा रही है। फलस्वरूप नगर की सांस्कृतिक विशेषतायें गाँव में भी पहुच रही हैं और ग्रामीण जीवन को प्रभावित कर रही हैं। मशीनी आविष्कार आज प्रत्येक गाँव में पहुंच गया है। अतः गाँव में भी अब खेती नवीन वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा होती है। वैज्ञानिक ढंग से खेती होने से उत्पादन बढ़ता है और लोगों की आर्थिक अवस्था में सुधार होता है। प्रौद्योगिकीय विकास एक रूप में गाँवों के लिये हानिकारक भी सिद्ध हुआ है। पहले गाँव में अनेक प्रकार के कुटीर उद्योग-धन्धे चला करते थे परन्तु मशीनी आविष्कार ने इन उद्योग धन्धों को समाप्त कर दिया है। फलस्वरूप अनेक व्यक्ति जो इन उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित थे, वेकार हो गये।

(ङ) आर्थिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Economic Life): प्रौद्योगिकीय विकास ने सबसे अधिक मानव के आर्थिक जीवन को प्रभावित किया है। संक्षेप में प्रौद्योगिकी के आर्थिक जीवन पर प्रभाव को अगले पृष्ठों के विन्दुओं में दर्शाया गया है।

(i) **श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण** (Division of Labour and Specialization) : वर्तमान समाज को श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण देने का श्रेय प्रौद्योगिकी को ही है। श्रम-विभाजन कोई नवीन व्यवस्था नहीं है परन्तु इसका वैज्ञानिक रूप प्रौद्योगिकी का प्रतिफल है। प्रौद्योगिकी समाज में बड़े पैमाने पर उत्पादन को संभव बनाती है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने पर यह संभव नहीं होता कि समस्त कार्यों को कुछ ही व्यक्ति करें। अतः उत्पादन की प्रक्रियाओं को अनेक छोटे-छोटे भागों एवं उपभागों में बाँट दिया जाता है। फिर एक व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का कार्य दे दिया जाता है। कुछ दिनों तक एक ही प्रकार का कार्य करने से व्यक्ति उस कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता है। किसी कार्य में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिये प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था भी होती है।

(ii) **बड़े पैमाने पर उत्पादन** (Large Scale Production) : समाज को बड़े पैमाने पर उत्पादन की देन प्रौद्योगिकी को ही है। मशीन की बड़ी मात्रा में प्रयोग होने से उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर होता है जो न केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है बल्कि पूरे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

(iii) **रहन-सहन के स्तर में सुधार** (Improvement in Standard of Living) : प्रौद्योगिक विकास के फलस्वरूप समाज में सदस्यों की आर्थिक दशा में भी सुधार होता है जिससे सदस्यों के रहन-सहन के स्तर में सुधार होता है। जिन समाजों में प्रौद्योगिक विकास अधिक हुआ है (अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन आदि) वहाँ के सदस्यों का जीवन-स्तर का स्तर ऊँचा होता है। इसके विपरीत जो समाज (भारतवर्ष, पाकिस्तान आदि) प्रौद्योगिकीय विकास में पिछड़े होते हैं, वहाँ के सदस्यों का जीवन-स्तर नीचा होता है। परन्तु काल मार्क्स इस कथन से सहमत नहीं है। मार्क्स के मतानुसार जब तक समाज में पूजीपतियों का प्रभुत्व रहता है, उस समय तक धनी वर्ग और अधिक धनी होगा और निर्धन वर्ग और अधिक निर्धन होगा (Richer will become more richer and poor will become more poorer)।

(iv) **आर्थिक संकट एवं बेकारी** (Economic Depression and Unemployment) : समाज में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्पादन की पूर्ति (Supply), माँग (Demand)

से अधिक होने लगती है। ऐसी दशा में माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करने के लिये उत्पादन की मात्रा को घटाना पड़ता है। फलस्वरूप कारखाने एवं मिलों में कार्य करने वाले मजदूरों की छटनी होती है। छटनी से समाज में बेकारी बढ़ती है।

(v) औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes) : प्रौद्योगिकीय विकास पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जन्मदाता है। पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। आरम्भ में तो श्रमिक वर्ग असंगठित, अज्ञान आदि के कारण अपने शोषण को सह लेता था, परन्तु आज परिस्थिति बदल गई है। आज का श्रमिक संगठित और प्रशिक्षित है उसे अपने अधिकारों का ज्ञान हो गया है। अतः अपने अधिकारों एवं शोषण के विरुद्ध वह आवाज उठाता है। पूँजीपति वर्ग श्रमिकों के अधिकारों एवं माँगों को मानने को तैयार नहीं होता। परिणामस्वरूप औद्योगिक झगड़ों का श्रीगणेश होता है जिसके कारण कभी-कभी हड़ताल, तालेबन्दी आदि की भी स्थिति आ जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion) : उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकीय कारकों का मानव जीवन के सभी पक्षों से घनिष्ट सम्बन्ध है। वर्तमान समय के सामाजिक जीवन के अधिकांश परिवर्तन प्रौद्योगिकीय कारकों की क्रिताशीलता का ही प्रतिफल हैं। संभवतः इसी कारण मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि भाप के इंजन द्वारा सामाजिक जीवन में हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों की कल्पना इसके आविष्कारक ने भी न की होगी।

सामाजिक परिवर्तन की मार्क्सवादी व्याख्या
(Marxist Explanation of Social Change)

कार्लमार्क्स की सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित है। मार्क्स के अनुसार इतिहास में समस्त परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तनों का ही प्रतिफल हैं। इस प्रकार मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को आर्थिक सम्बन्धों या प्रौद्योगिकीय से सम्बन्धित करके व्याख्या करने का प्रयास किया है। इसे स्पष्ट करने के लिये मार्क्स के ही शब्दों में इसका वर्णन आवश्यक है।

मार्क्स के मतानुसार, "मनुष्यों के जीवन के सामाजिक उत्पादन में उनसे निश्चित सम्बन्ध बन जाते हैं जो अनिवार्य हैं तथा उनकी इच्छा से स्वतन्त्र

हैं, ये उत्पादन के सम्बन्ध उनके भौतिक विकास की शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के समकक्ष होते हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से समाज की आर्थिक रचना का निर्माण होता है जो वास्तविक नींव है, जिस पर वैधानिक और राजनैतिक अधिरचना खड़ी होती है तथा जिसके समकक्ष ही सामाजिक चेतना के निश्चित रुप होते हैं। भौतिक जीवन के उत्पादन का ढंग साधारणतया सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निधारित नहीं करती, उनका अस्तित्व (सामाजिक) उनकी चेतना को निर्धारित करता है। समाज की भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की किसी अवस्था पर उनमें तथा उत्पादन के विद्यमान सम्बन्धों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उत्पादन के स्वरूप से सम्पत्ति सम्बन्ध निर्धारित होते हैं जिनमें भौतिक उत्पादन की शक्तियाँ अभी तक कार्यशील रही हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के रुपों में ये सम्बन्ध उनकी श्रृङ्खलाओं में बदल जाते हैं, तथा सामाजिक क्रान्ति का एक युग प्रारम्भ होता है। आर्थिक नींव के परिवर्तन से सम्पूर्ण विशाल अधिरचना में न्यूनाधिक तीव्रता से परिवर्तन होता है। उत्पादन की आर्थिक दशाओं में रुपान्तर, जो प्राकृतिक विज्ञानों की भांति निश्चित होते हैं, तथा उपरोक्त रुपान्तरों में भेद है। वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यात्मक अथवा दार्शनिक-संक्षेप में विचारात्मक रुपों के परिवर्तनों में मनुष्य उपरोक्त संघर्ष के प्रति चेतन होते हैं और उससे मुक्ति की बात सोचते हैं। …………मनुष्यों में वह चेतना भौतिक जीवन के विरोधों से आती है। इसका आधार सामाजिक उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के बीच में उपस्थित संघर्ष है। ………………मोटे तौर पर ऐशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी और वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन ढंगों को समाज के आर्थिक निर्माण में क्रमिक युग कहा जा सकता है।"[1]

मार्क्स के उपर्युक्त कथन के आधार पर उसके सिद्धान्त की सरल शब्दों में अब इस प्रकार विवेचना की जा सकती है :

समाज में मनुष्य को जीवित रहने के लिये कुछ भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अतः अपनी इस भौतिक वस्तुओं की आवश्यकतापूर्ति

1. Karl Marx : Contribution to the Critique of Political Economy (Preface quoted in N. I. Lenin's Marx-Engels Marxism.)

हेतु उसे उत्पादन करना अनिवार्य होता है। मनुष्य के लिये उत्पादन करना तभी सम्भव है जब उसे 'उत्पादक शक्ति' (Productive force) मिल जाये। 'उत्पादक शक्ति' के मिल जाने पर मनुष्य एवं अन्य व्यक्तियों में एक उत्पादन सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह उत्पादन सम्बन्ध जमींदार तथा किसान, पूंजी और श्रम तथा स्वामी और दास के रूप में होता है। मार्क्स के अनुसार समाज में केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास उत्पादन के साधन होते हैं और ये ही थोड़े से व्यक्ति समाज में धार्मिक, राजनैतिक एवं कानूनी नियमों का निर्धारण करते हैं। अतः व्यक्ति तथा उत्पादन शक्तियों के बीच उत्पादन सम्बन्ध का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार में न होकर उत्पादन शक्तियों के अधिकार में होता है। इस प्रकार जब कभी भी समाज में उत्पादन शक्ति में कोई नवीन परिवर्तन आता है तो उत्पादन सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है और उत्पादन सम्बन्धों में घटित परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण है।

मार्क्स द्वारा सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन का ही फल है और ये सम्बन्ध प्रौद्योगिकीय विकास की दिशा पर आधारित हैं। सम्भवतः इसी कारण मार्क्स के सिद्धान्त को आर्थिक-प्रौद्योगिक निर्धारणवाद कहा जाता है। परन्तु अपने लेखों एवं पत्र-व्यवहारों में उसने यह स्पष्ट कहा है कि उसके सिद्धान्त का तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारकों के अतिरिक्त अन्य समस्त कारक गौड़ अथवा व्यर्थ हैं। इसे और भी स्पष्ट करने के लिये एंगेल्स ने लिखा है कि **"इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनः उत्पादन ही अन्तिम रूप से (न कि एक मात्र) निर्णायक तत्व हैं। भौतिक प्रभाव को इससे अधिक महत्व न मार्क्स ने और न मैंने ही प्रदान किया है। यदि कोई हमारे कथनों को तोड़-मोड़ कर इस भाँति प्रस्तुत करे कि आर्थिक प्रभाव ही एकमात्र निर्णायक कारक है तो ऐसा करके वह भौतिकवादी व्याख्या को अर्थहीन और हास्यापद बना देता है।"**[1]

1. "According to the materialist conception of history the determining element...... is ultimately the production and reproduction in real life. More than this neither Marx nor I have ever asserted. If, therefore, somebody twists this into the statement that the economic element is the only determining one, he transforms it into a meaningless, abstract, and absurd phrase."
—F. Engel's letter to Block, *Selected Correspondence.*

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the Theory) मैकाइवर तथा सोरोकिन आदि विद्वानों ने मार्क्स के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। मार्क्स के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाओं को निम्नलिखित विन्दुओं में रक्खा जा सकता है :

(i) मार्क्स के सिद्धान्त की प्रथम कमी यह है कि मार्क्स ने एक ही कारण को अन्तिम माल लेने की गलती की है।

(ii) मार्क्स का सिद्धान्त समाज में आर्थिक तत्वों को आवश्यकता से अधिक प्रधानता देता है। मनुष्य केवल रोटी के लिये ही नहीं जीता। इसके अतिरिक्त उसकी और भी आवश्यकताएँ होती हैं।

(iii) प्रौद्योगिकी में कहाँ और किस प्रकार परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, इसका उत्तर मार्क्स के सिद्धान्त में नहीं मिलता है।

(iv) एस्पिनास (Esipnas), दुर्खीम (Durkheim), हवलिन (Huvelin), थर्मवाल्ड (Thurmvald), मेलिनोवस्की (Malinowski), ह्यूबर्ट (Hubert) तथा मॉस (Mauss) की खोज से यह स्पष्ट होता है कि आदिम समाज व्यवस्था में भी उत्पादन प्रणाली तथा समस्त आर्थिक जीवन, धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य वस्तुओं को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था परन्तु मार्क्स का सिद्धान्त आर्थिक कारक को पृथक रखकर अध्ययन करता है। मैक्स वेबर (Max Weber) ने भी सिद्ध किया है कि आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक मूल्य एवं अभिवृत्ति से भी प्रभावित रहती है। प्रोटेस्टेंट इसाई धर्म, हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी समाज इसके उदाहरण हैं।

(v) सिद्धान्त में अनेक शब्दों जैसे 'आर्थिक कारक', 'उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध', 'आर्थिक आधार' आदि शब्दों की व्याख्या अस्पष्ट है।

(vi) मार्क्स के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण इतिहास की जटिल प्रक्रिया को अत्यन्त ही सरल बना दिया है। फलस्वरूप सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था का सही चित्रण नहीं कर पाता।

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त की उपर्युक्त समालोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्स के सिद्धान्त की जो भी मान्यताएँ हैं, वे सोरोकिन के अनुसार ऐसी नहीं हैं जो पूर्ववर्ती विचारकों द्वारा न कही गयी हों। इसीलिये सोरोकिन ने लिखा है कि, "मार्क्स तथा एंगेल्स ने सामाजिक विज्ञान को प्रगतिशील

बनाने की अपेक्षा इसके विकास में अनेक बाधाएँ उत्पन्न की हैं।" परन्तु फिर भी मार्क्स का सिद्धान्त पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों को एक अधिक सशक्त तथा अतिशयोक्ति के ढंग से सामान्य रूप देता है।

वेबलेन का प्रौद्योगिक निश्चयवाद
(Technological Determinism of Veblen)

मार्क्सवादी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या प्रौद्योगिकी को एक अप्रत्यक्ष कारक मान कर की गयी है। परन्तु कुछ अन्य विद्वान (टर्नर, वेबलेन आदि) प्रौद्योगिक दशाओं को ही प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हैं। थार्सटीन वेबलेन ने अपने सिद्धान्त में प्रौद्योगिक दशाओं को ही सामाजिक परिवर्तन का आधार मानकर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी कारण वेबलेन के सिद्धान्त को प्रौद्योगिक निश्चयवाद कहा जाता है।

वेबलेन का सिद्धान्त उसी के शब्दों में इस प्रकार है, **"सामाजिक संरचना अनेक वर्गों के विचारने की आदतों में या अन्तिम रूप में, उन व्यक्तियों के, जो समुदाय का निर्माण करते हैं, विचारने की आदतों में परिवर्तन होने से बदलती है, विकसित होती है एवं स्वयं का बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन कर लेती है। समाज का विकास वास्तव में व्यक्तियों द्वारा मानसिक अनुकूलन की वह प्रक्रिया है जो कि उस नवीन परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न होती है और पुरानी परिस्थितिओं द्वारा उत्पन्न किये गये तथा उसके विचारों की आदतों को नहीं सहन करती।"[1]**

1. "Social structure changes, develops itself to an altered situation, only through a change in the habits of thought of the several classes of the community; or in the last analysis, through a change in the habits of thought of the individuals which makeup the community. The evolution of society is substantially a process of mental adaption on the part of individuals under the stress of circumstances which will no longer tolerate habits cf thought formed under conforming to a different set of circumstances in the past."

—Thorstein Veblen : *The Theory of Leisure Class.*

अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करने हेतु वेबलेन मानवीय विशेषताओं को दो वर्गों में रखता है : (क) वे विशेषताऐं जो मनुष्य की मूल प्रवत्तियों और प्रेरणाओं से सम्बन्धित हैं एवं (ख) वे विशेषताएँ जो आदतों, विचारों और मनोवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। वेबलिन के अनुसार प्रथम प्रकार की मानवीय विशेषताएँ मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों आदि से सम्बन्धित होने के कारण इनमें परिवर्तन नाम मात्र को ही होते हैं। परन्तु दूसरी प्रकार की मानवीय विशेषताओं की प्रवृत्ति परिवर्तनशील होती है इसलिये इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। वेबलेन के सिद्धान्त का सम्बन्ध दूसरे प्रकार की परिवर्तनशील मानवीय विशेषताओं से है। भौतिक पर्यावरण की रचना का सम्बन्ध प्रौद्योगिकी से है। अतः भौतिक पर्यावरण के अनुरूप ही मनुष्यों की आदतें, विचार आदि परिवर्तन होते रहते हैं और इन आदतों एवं विचारों में घटित होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाता है।

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the theory) मार्क्स के सिद्धान्त की भाँति वेबलेन के सिद्धान्त में भी अनेक दोष हैं। संक्षेप में सिद्धान्त की कमियों को निम्नांकित विन्दुओं में प्रकाशित किया जा सकता है :

(क) वेबलेन के सिद्धान्त के अनुसार समाज में सदस्यों की आदतों एवं विचारों के रूप का निर्धारण प्राविधिक परिवर्तन पर निर्भर करता है, परन्तु व्यवहार जगत में यह बात गलत साबित होती है और यदि वेबलेन की इस बात को मान भी लिया जाय तो एक यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कारण है कि दो समाज जो प्रौद्योगिक रूप से समान रूप में विकसित हैं, उनके सदस्यों की आदतों और विचारों में भिन्नता क्यों है ?

(ख) सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता यह है कि भौतिक पर्यावरण में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का कारण है, परन्तु यह बात असत्य मालूम होती है। अनुभवों के आधार पर यह देखा गया है कि समाज के भौतिक पर्यावरण में कोई भी परिवर्तन न होने से भी समाज के धार्मिक, नैतिक मूल्यों एवं प्रतिमानों में परिवर्तन हो जाता है।

(ग) विचारों एवं आदतों में परिवर्तन कभी-कभी दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क से भी आ जाता है।

(घ) सिद्धान्त की अन्तिम कमजोरी यह है कि यह मार्क्स की भाँति सामाजिक जटिलता को, प्रौद्योगिकी को सामाजिक परिवर्तन का निश्चायक मान एक अत्यन्त ही सरल रूप देता है जो कि अव्यवहारिक लगता है। सामाजिक परिवर्तन अनेक सामाजिक तथ्यों में घटित होने वाले परिवर्तनों का परिणाम है, इसे केवल एक कारक के आधार पर अर्थात् प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के आधार पर स्पष्ट करना अवैज्ञानिक है।

ऑगबर्न की सामाजिक परिवर्तन की प्रौद्योगिकीय व्याख्या
(Ogburn's Technological Explanation of Social Change)

ऑगबर्न ने अपनी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में प्रौद्योगिकीय कारक को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, परन्तु उसके सिद्धान्त को प्रौद्योगिकीय निश्चयवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि, **"यह स्पष्ट किया जा चुका है : (क) कि यान्त्रिक आविष्कार सामाजिक आविष्कार को प्रभावित करते हैं, (ख) सामाजिक आविष्कार दूसरे सामाजिक आविष्कारों को जन्म देते हैं और (ग) कि यान्त्रिक आविष्कार दूसरे यान्त्रिक आविष्कारों के विकास में सहायक होते हैं। यह भी सत्य है (घ) कि सामाजिक आविष्कार यान्त्रिक आविष्कारों को उत्पन्न करते हैं।"**[1]

इस प्रकार ऑगबर्न के कथन से यह स्पष्ट है कि समाज में प्रौद्योगिकीय आविष्कार अन्य सामाजिक आविष्कारों को जन्म देते हैं अर्थात् प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन घटित होता है

ऑगबर्न ने अपने सिद्धान्त में लिखा है कि यान्त्रिक आविष्कार अन्य यान्त्रिक आविष्कारों के विकास में सहायक परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। इसका अर्थ यह है कि नवीन आविष्कारों का प्रादुर्भाव पूर्ववर्ती वस्तुओं के आधार पर ही संभव होता है।

---

1. "It has been shown : (a) that mechanical inventions cause social invention; (b) that social inventions bring about other social inventions; and (c) that mechanical inventions lead to the development of other mechanical inventions It is also true (d) that social inventions cause mechanical inventions."

—Ogburn and Nimkoff : *A Handbook of Sociology.*

आॅगबर्न का सिद्धान्त यह बताता है कि परिवर्तन की प्रक्रिया किसी भी कारक द्वारा उत्पन्न हो सकती है और फिर वह कारक विशेष अन्य कारकों को भी प्रभावित करके क्रियाशील बनाता है। इस प्रकार आॅगबर्न का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन के प्रत्येक कारक को समान महत्व देता है परन्तु प्रौद्योगिकीय कारक को सामाजिक परिवर्तन लाने में अधिक महत्व देता है। इस सम्बन्ध में आॅगबर्न तथा निमकॉफ ने लिखा है; **"अतः इस कारण हम यह मानने को तैयार हैं कि प्रौद्योगिकी का सामाजिक परिवर्तन लाने में अधिक महत्व होता है।"**[1]

इस प्रकार आॅगबर्न के अनुसार भौतिक संस्कृति में परिवर्तन का कारण प्रौद्योगिकी है और भौतिक पर्यावरण में या संस्कृति में होने वाला परिवर्तन, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संरचना आदि को परिवर्तित कर देता है। आॅगबर्न के अनुसार संस्कृति के दो प्रकार होते हैं। (क) भौतिक संस्कृति और (ख) अभौतिक संस्कृति। अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति पहले परिवर्तित हो जाती है। फलस्वरूप सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural Lag) का जन्म होता है। सांस्कृतिक विलम्बना की विस्तृत विवेचना अगले अध्याय में की गयी है।

---

1. "Hence we are inclined to favour the hypothesis of the greater importance of the sequence of technology causing social changes."

—Ogburn and Nimkoff: *A Handbook of Sociology*.

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. Moore : Social Change.
3. Merrill : Society and Culture.
4. Karl Marx : Das Capital.
5. Sorokin : Contemporary Sociological Theories.
6. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
7. Thorstein Veblen : The Theory of Leisure Class.
8. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
9. रविन्द्रनाथ मुकर्जी : उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

Questions

१. सामाजिक परिवर्तन के प्रोद्योगिकी कारक की व्याख्या कीजिए। इस कारक को सामाजिक परिवर्तन के लिये आप कहाँ तक उत्तरदायी मानते हैं?

Explain the technological factor of social change. How for do you regard this factor as responsible for social change. ?

२. सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिकी और आर्थिक व्यवस्था के सापेक्षिक महत्व की विवेचना कीजिए।

Discuss the relative importance of the technical and the economical orders in social change.

३. सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारकों की व्याख्या कीजिए। क्या प्रत्येक परिवर्तन उन्नति है ?

Analyze technological factors of social change. Is every change a progress ?

४. समझाइये कि प्रौद्योगिक परिवर्तन से किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन होते हैं ?

Explain how technological changes bring about social change ?

५. सामाजिक परिवर्तन की मार्क्सवादी व्याख्या पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

Write a short note on Marxist explanation of social change.

६. सामाजिक परिवर्तन के वेबलेन के प्रौद्योगिकी निश्चयवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।

Discuss the technological deterministic theory of Veblen of social change.

७. यह स्पष्ट रूप से समझाइये कि (क) प्रौद्योगिकी परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन लाते हैं (ख) सांस्कृतिक दशायें प्रौद्योगिकी परिवर्तनों की दिशा एवं प्रकृति को प्रभावित करती हैं।

Explain clealy how (a) technological changes bring about cultural change (b) cultural situations influence the direction and character of technological changes.

८. टिप्पणी लिखिये :

(क) ऑगबर्न की सामाजिक परिवर्तन की प्रौद्योगिकीय व्याख्या।

(ख) वेबलेन का प्रौद्योगिकीय निश्चयवाद।

Write short notes on :

(a) Ogburn's technological explanation of social change.

(b) Technological Determinism of Veblen.

अध्याय २८

सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक (CULTURAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE)

कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सांस्कृतिक कारकों के आधार पर करने की चेष्टा की है। 'संस्कृति' की परिभाषा मानव-शास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से दी है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री हॉवेल संस्कृति को एक अनोखी मानव घटना मानता है जब कि कुछ दूसरे विद्वान संस्कृति का तात्पर्य नैतिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उन्नति से लगाते हैं। साहित्य में संस्कृति का अर्थ जीवन के प्रकाश एवं कोमलता से लगाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसलिये इसके पहले कि विभिन्न विद्वानों के सांस्कृतिक कारकों पर आधारित सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों की विवेचना की जाये, अच्छा यह होगा कि हम संस्कृति शब्द का अर्थ ठीक से समझ लें।

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषायें (Meaning and Definitions of Culture)

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ 'संस्कार' से लगाया जाता है। संस्कार का तात्पर्य जीवन को परिमार्जित करने की प्रक्रिया से है। अतः इस अर्थ में व्यक्ति के जीवन को परिमार्जित करने हेतु विभिन्न संस्कारों की प्रक्रियाओं से गुजरना

ही संस्कृति है। इसी प्रकार इतिहास वेत्ताओं के लिये किसी समाज का कलात्मक, आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक विकास संस्कृति है। संस्कृति की नीतिशास्त्र, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र से सम्बन्धित अगली पंक्तियों में दी गयी कुछ परिभाषाओं से इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायेगा।

लावेल के शब्दों में, "संस्कृति उन वस्तुओं के आनन्द से सम्बन्धित है, जिनको संसार सुन्दर मानता है; यह उस ज्ञान की रुचि से सम्बन्धित है जिसको मानवता मूल्यवान समझती है; उन सिद्धान्तों का निरुपण करती है जिसको समूह ने सत्य मान लिया हो।"[1]

मानवशास्त्री संस्कृति का अर्थ बहुत ही व्यापक रुप में लगाते हैं। प्रसिद्ध मानवशास्त्री टायलर के मतानुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते ग्रहण करता है।"[2]

लैन्डिस संस्कृति को समाज की एक अनुपम भेंट समझता है। "संस्कृति," उसके शब्दों में, "वह संसार है जिसमें कि एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।"[3]

पिडिंगटन ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके

---

1. "Culture is related with enjoyment of the things the world has agreed are beautiful; interest in the knowledge that mankind has found valuable; comprehension of the principles that the race has accepted as true."
—A. Lawrence Lowell.

2. "Culture is that complex whole which includes knowledge, beliefs, art, morals, law, customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."
—E. B. Tylor : *Premitive World.*

3. "Culture then is, in a very vital sense, the world in which one lives and moves and has his being from the time he is first housebroken to the time he is ceremoniously laid down."
—Landis.

द्वारा मनुष्य अपनी जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि एवं अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[1]

रुथ बेनेडिक्ट के मतानुसार, "व्यक्ति की भांति संस्कृति भी विचार और क्रिया का बहुत कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।"[2]

मैलिनोवस्की के शब्दों में, "संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं को एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है।"[3]

हॉबेल ने संस्कृति की बहुत ही सुन्दर एवं स्पष्ट व्याख्या की है। उसके अनुसार, "संस्कृति सम्बद्धित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो कि समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो जैविकीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।"[4]

हर्सकोविट्ज के शब्दों में, "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।"[5]

---

1. "The culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adopt themselves to their environment.

   –Ralph Piddington : *An Introduction to Social Anthropology.*

2. "A Culture like an individual, is a more or less consistent pattern of thought and action."

   —Ruth Benedict : *Patterns of Culture.*

3. "Culture may be defined as a system of derived needs and an organised system of purposeful activities."

   —Malinowski.

4. "Culture is the sum total of integrated learned behaviour patterns which are characteristic of the members of a society and which are, therefore, not result of biological inheritance."

   —E. A. Hoebel . *Man in the Primitive World.*

5. "Culture is the man made part of the environment."

   —M. J. Herskovits : *Man and his Works.*

राबर्ट बीरस्टीड के अनुसार, 'संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिनपर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"[1]

समाजशास्त्री मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार 'हमारे रहने, विचार करने के तरीकों, प्रतिदिन की अन्तःक्रियाओं में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।"[2]

मैकाइवर तथा पेज की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे संस्कृति एवं व्यक्तित्व को बहुत अधिक आपस में सम्बन्धित मानते हैं। संस्कृति की व्यक्ति द्वारा अवहेलना करना बहुत ही कठिन है।

विद्वानों द्वारा दी गयी उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का सार यह है कि संस्कृति एक सामाजिक विरासत है। सामाजिक विरासत के दो स्वरूप होते हैं (क) भौतिक सामाजिक विरासत तथा (ख) अभौतिक सामाजिक विरासत। साधारण तौर पर भौतिक सामाजिक विरासत का अर्थ सभ्यता से और अभौतिक सामाजिक विरासत का संस्कृति से अर्थ लगाया जाता है। नीचे उन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जो संस्कृति के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हैं।

सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा
(The Concept of Cultural Lag)

सामाजिक विलम्बना की अवधारणा को प्रसिद्ध समाजशास्त्री ऑगबर्न ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'सोशल चेन्ज' (Social Change) में विकसित किया है। 'लैग' (Lag) शब्द का अर्थ है पीछे रह जाना, अर्थात् दूसरी वस्तु के

1. "Culture is the complex whole that consists of everything we think and do and have as member of society."
—Robort Biersteadt : *The Social Order*.

2. "Culture is the expression of our nature in our modes of living and of thinking in our everyday intercourse, in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment."
—MacIver and Page : *Society*.

साथ-साथ आगे बढ़ने में विलम्ब होना। ऑगबर्न द्वारा सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा मोटे तौर पर इसी अर्थ पर आधारित है।

सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the Theory) ऑगबर्न के मतानुसार संस्कृति के दो मुख्य रुप हैं। (क) भौतिक संस्कृति (Material Culture) तथा अभौतिक संस्कृति (Non-material Culture) **भौतिक संस्कृति** के अन्तर्गत मकान, फर्नीचर, मोटर, रेलगाड़ी, वायुयान एवं इसी प्रकार की अन्य सभी भौतिक वस्तुएँ आती है। इस प्रकार भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत उन समी सांस्कृतिक प्रतिमानों का समावेश रहता है जो मूर्त (Concrete) होते हैं तथा मानव शिक्षण का फल होते हैं। **अभौतिक संस्कृति** के अन्तर्गत उन सभी तथ्यों का समावेश रहता है जो अमूर्त (Abstract) होते हैं, जैसे, धर्म, जनरीतियाँ, प्रथाएँ, मनोवृत्तियाँ, आचार-विचार एवं विश्वास आदि। संस्कृति के उपर्युक्त दोनों रूप मानव जीवन से बहुत अधिक सम्बन्धित होते हैं। इसी कारण यदि भौतिक या अभौतिक संस्कृति में से किसी एक में भी परिवर्तन होता है तो वह दूसरे को भी प्रभावित करती है। ऑगबर्न के अनुसार समाज में भौतिक संस्कृति में परिवर्तन पहले होता है और भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होने के कारण समाज में अभौतिक संस्कृति में भी परिवर्तन आ जाता है। परन्तु ऑगबर्न का मत है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति तीव्र होती है और अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की प्रक्रिया मन्दगति से लागू होती है। परिणामस्वरूप अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है, अर्थात् अभौतिक संस्कृति, भौतिक संस्कृति से पीछे रह जाती है।

ऑगबर्न के मतानुसार अभौतिक संस्कृति के भौतिक संस्कृति से पिछड़ जाने पर समाज असन्तुलित हो जाता है और उनमें अव्यवस्था फैल जाती है। समाज में इस असन्तुलन और अव्यवस्था को दूर करने के लिये अभौतिक संस्कृति को भौतिक संस्कृति के स्तर पर लाने के लिये प्रयास किया जाता है परन्तु अभौतिक संस्कृति को भौतिक संस्कृति के स्तर पर लाने में बहुत समय या विलम्ब लगता है। संक्षेप में यही ऑगबर्न के सांस्कृतिक बिलम्बना के सिद्धान्त की अवधारणा है।

ऑगबर्न के शब्दों में सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त इस प्रकार है, **"संस्कृति के उन दो सम्बन्धित भागों पर यह तनाव इस लिये पड़ता है कि**

वे असमान गति से परिवर्तित होते हैं। ऐसी अवस्था में उस भाग को विलम्बना कहा जाता है जो मन्द गति से परिवर्तित हो रहा है क्यों कि वह दूसरे से पीछे रह जाता है"[1]

ऑगबर्न ने अपने सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उसके अनुसार किसी समाज में बढ़ती या घटती हुई तेजी से जनसंख्या के अनुपात में उस समाज में पुलिस की संख्या बढ़ायी अथवा घटायी नहीं जाती है। स्पष्ट है कि जनसंख्या में हुआ परिवर्तन पुलिस की संख्या में होने वाले परिवर्तनों से पिछड़ जाता है।

ऑगबर्न की सामाजिक विलम्बना की अवधारणा से यह स्पष्ट है कि भौतिक संस्कृति अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तित हो जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि भौतिक संस्कृति समाज में सदस्यों के मनोभावों, विश्वासों, धार्मिक मूल्यों एवं सामाजिक प्रतिमानों को प्रभावित नहीं करती है। अतः सदस्य भौतिक संस्कृति को शीघ्रता से ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी हिन्दू लेखक को एक टाइप राइटर दिया जाये तो वह इसे शीघ्रता से ग्रहण कर लेगा क्यों कि इससे उसे अपनी पाण्डुलिपि तैयार करने में सहायता मिलेगी और साथ ही साथ टाइप राइटर उसके धार्मिक, नैतिक आदि मूल्यों को प्रभावित नहीं करता है। परन्तु यदि लेखक से हिन्दू धर्म को त्याग करके इसाई धर्म को ग्रहण करने के लिये कहा जाये, तो शायद यह कार्य उसके लिये असंभव ही होगा। इसी कारण भारतीय समाज के सदस्यों ने शीघ्रता से भौतिक वस्तुओं को ग्रहण कर लिया है, परन्तु अभी तक वे अपनी रुढ़िवादिता, धर्म, जाति-पाँति, पर्दा प्रथा आदि अनेक बन्धनों से मुक्त नहीं हो सके हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ जाती है। इसी स्थिति को ऑगबर्न के अनुसार सांस्कृतिक विलम्बना कहते हैं।

---

1. "The strain that exists between two correlated parts of culture that change at unequal rate of speed may be interpreted as a lag in the part that is changing at the slowest rate, for the one lags behind the other."

—Ogburn and Nimkoff : *A Handbook of Sociology*.

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the Theory) ऑगबर्न के उपर्युक्त सिद्धान्त से अनेक समाजशास्त्री सहमत नहीं हैं, अतः उसके सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की गयी है। कुछ विद्वानों ने ऑगबर्न के सिद्धान्त को एक कल्पित और कत्रिम बताया है। मैकाइवर ने सिद्धान्त की आलोचना करते हुए प्रश्न किया है कि किसके पीछे किसकी मन्दता है ? (What lags behind what ?) ऑगबर्न ने इसका उत्तर संस्कृति के भेद (भौतिक एवं अभौतिक) द्वारा दिया है, परन्तु उसका उत्तर संतोषजनक नहीं है। यदि नवीन परिस्थितियों के अन्दर समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की सामर्थ्य हो और तब भी अगर सदस्य पुरानी रीतियों, परम्पराओं एवं रूढ़ियों से चिपटे होते हैं तो यह कहना बड़ा ही कठिन है कि विलम्बना भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति के बीच है।

संस्कृति स्वयं में ही एक अत्यन्त जटिल तथ्य है, इसके विभिन्न पक्षों में घटित हुए परिवर्तनों का मापन एक अत्यन्त ही कठिन कार्य है। परन्तु ऑगबर्न ने इसे बहुत ही सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। इसलिये सदरलैंड तथा उडवार्ड ने ऑगबर्न पर आरोप लगाया है कि उसने सांस्कृतिक प्रक्रिया के परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या बहुत सरल ढंग से की है।

ऑगबर्न का यह कथन कि अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति में परिवर्तन पहले होता है और भौतिक संस्कृति ही अभौतिक संस्कृति के परिवर्तन का कारण है, उपयुक्त नहीं है। सोरोकिन ने ऑगबर्न के उपर्युक्त कथन की आलोचना करते हुए कहा है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन समाज के सदस्यों के विचारों, ज्ञान आदि के आधार पर होता है। सदस्यों के विचार एवं ज्ञान अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज में परिवर्तन भौतिक संस्कृति की अपेक्षा अभौतिक संस्कृति के द्वारा होता है।

सांस्कृतिक विलम्बना के सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन द्रुतगति से होता है। परन्तु वेबलिन ने उपरोक्त मान्यता का खण्डन करते हुये कहा है कि समाज में पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक हितों की रक्षा के हेतु हमेशा उन परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे उनके आर्थिक हितों को नुकसान होने का भय होता हैं।

सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि भौतिक संस्कृति सदैव आगे और अभौतिक संस्कृति पीछे रहती है। वस्तुतः यह मान्यता सदैव ऐसी ही नहीं रहती है। कभी-कभी इसका उलटा भी हो सकता है।

मैकाइवर तथा पेज ने सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना के सिद्धान्त को इतने सरल एवं विस्तृत ढंग से प्रस्तुत किया है कि सिद्धान्त की व्यावहारिकता नष्ट हो जाती है। मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार यदि सांस्कृतिक विलम्बना के सिद्धान्त को कुछ निर्धारित सीमाओं द्वारा उपयोग में लाया जाए तो सामाजिक जीवन में पाए जाने वाले असंतुलनों की स्थितियों का बड़ी ही सरलता से अध्ययन किया जा सकता है।

सांस्कृतिक परिवर्तन से सम्बन्धित कुछ अन्य अवधारणायें (Some Other Concepts Relating to Cultural Change)

मैकाइवर ने विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले असन्तुलन को स्पष्ट करने के लिए निम्नांकित शब्दों का सुझाव दिया है जिसका विवेचन आवश्यक है :

(क) प्रौद्योगिक विलम्बना (Technological Lag) : प्रौद्योगिक विलम्बना, मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, उस असन्तुलन को दर्शाने के लिए किया जाना चाहिये जो प्रौद्योगिकी प्रक्रिया के परस्पर सम्बन्धित भाग से जन्म लेती है और समस्त उत्पादन प्रक्रिया में रुकावट डालती है। उदाहरणार्थ किसी भी उत्पादन की प्रक्रिया में अनेक उपप्रक्रियाएँ होती हैं और यदि इनमें सभी उपप्रक्रियाएँ तो मशीन द्वारा की जा रहीं हों परन्तु एक उपप्रक्रिया ऐसी हो, जो हाथ से की जाती हो। हाथ से की गयी उपप्रक्रिया का कार्य निश्चित ही मशीन के मुकाबले मन्द गति से होगा। परिणामस्वरूप हाथ द्वारा की गयी उपप्रक्रिया का कार्य मशीन द्वारा किये कार्य से पिछड़ जायगा और समस्त उत्पादन में बाधा उत्पन्न हो जायेगी। इसी प्रकार की स्थिति को प्रौद्योगिक विलम्बना कहा जाता है।

(२) प्रौद्योगिक प्रतिरोध (Technological Restraint) : इस शब्द का प्रयोग उस स्थिति में हो सकता है जब समाज में पूर्व स्थापित हितों की रक्षार्थ कुशल यन्त्रों एवं नवीन पद्धतियों के प्रचलन का विरोध किया जाता

है। जैसे आजकल भारतीय समाज में मजदूर वर्ग द्वारा स्वचालीकरण का विरोध किया जा रहा है। मजदूर वर्ग यह समझता है कि स्वचालीकरण के कारण बहुत अधिक मात्रा में श्रमिक बेकार होंगे, अतः वे अपने स्थापित हितों की रक्षार्थ इसका विरोध करते हैं।

(ग) सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict) : जब किसी समाज में कोई बाहरी सांस्कृतिक समूह आकर बस जाता है तो उस बाहरी संस्कृति और समाज की आन्तरिक संस्कृति के मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों में एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होने लगता है। इस परिस्थिति को सांस्कृतिक संघर्ष की संज्ञा दी जाती है।

(घ) सांस्कृतिक विसंयुजता (Cultural Ambivalence) : सांस्कृतिक विसंयुजता की स्थिति में समाज में सदस्यों को बाहरी संस्कृति के प्रति प्रेम, और घृणा दोनों की अनुभूति होती है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति जिसका सामाजीकरण एक संस्कृति विशेष के अन्दर हुआ है, दूसरे स्थान पर जा कर बस जाता है। दूसरे स्थान पर बस जाने से वह वहाँ की संस्कृति से अपना वैयक्तिक व्यवस्थापन करता है। परन्तु दूसरे समाज की संस्कृति से व्यवस्थापन करने के पश्चात भी वह अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ पाता क्यों कि प्राचीन संस्कृति के तत्व उसके जीवन में इतने अधिक घुले मिले रहते हैं कि उनका त्यागना बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति में दोनों संस्कृतियों के लिये व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द होने लगता है। बाहरी संस्कृति को अपनाने में वह स्वयं को असमर्थ पाता है और उसके लिये उसके मन में एक हेय भावना बनी रहती है। यही सांस्कृतिक विसंयुजता की स्थिति है।

सामाजिक परिवर्तन के निर्णायक के रूप में संस्कृति
(Culture as Determinant of Social Change)

आज समाज में प्रत्येक व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करने को तत्पर है कि हमारे विश्वासों, संस्थाओं, तथा मूल्य निर्धारणों का सामाजिक सम्बन्धों से एक अत्यन्त ही घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज में सदस्यों के विश्वासों, संस्थाओं एवं मूल्यों में जब कोई परिवर्तन घटित होता है तो उससे सामाजिक सम्बन्ध भी प्रभावित होते हैं और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन का अर्थ है सामाजिक परिवर्तन। इस प्रकार स्पष्ट है कि सांस्कृतिक कारक न केवल प्रौद्योगिकीय

कारकों को जन्म देते हैं बल्कि उनकी दिशा का भी निर्धारण करते हैं। मैकाइवर तथा पेज के दिये गये एक उदाहरण से इसे और भी सरलता से समझा जा सकता है। किसी जहाज के शक्तिशाली होने का भार प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है परन्तु वह किस-किस दूसरे बंदरगाहों पर ले जाया जायेगा यह हमारे सांस्कृतिक वरण का प्रश्न रह जाता है। अतः स्पष्ट है कि सांस्कृतिक कारक ही प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के प्रति उत्तरदायी हैं।

निश्चयवादी विचारधारा रखने वाले अनेक लेखकों ने समाज पर सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के बहुत से उदाहरण दिये हैं। इस विचारधारा वाले अनेक विद्वान् इस पक्ष में हैं कि रूस की क्रान्ति को कार्ल मार्क्स की 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' के आधार पर नहीं समझा जा सकता। रुस की क्रान्ति मार्क्सवादी सामाजिक दर्शन का प्रतिफल थी। समाज में संस्कृति ही प्रोद्योगिकी को शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करती है। व्यवहारिक दृष्टि से अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक विशेषताओं में घटित परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण है। इस सन्दर्भ में मैक्स वेबर, जिसने संस्कृति के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या प्रस्तुत की है, का विवेचन आवश्यक है।

मैक्स वेबर की सामाजिक परिवर्तन की सांस्कृतिक व्याख्या

(Max Weber's Cultural Explanation of Social Change)

मैक्स वेबर ने संस्कृति को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानकर अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजियन' (Sociology of Religion) में व्याख्या प्रस्तुत की है। मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक में प्रोटेस्टेण्टवाद तथा आरम्भिक पूंजीवाद[1] की बहुत ही स्पष्ट व्याख्या की है। उसने मार्क्स के कथन कि आर्थिक कारक ही सामाजिक संरचना का रूप प्रदत्त करते हैं का खण्डन करते हुए कहा है कि उसका कथन दोषपूर्ण है। सामाजिक संरचना का रूप केवल आर्थिक कारकों के ही आधार पर निर्धारित नहीं होता है। उसके अनुसार समाज में धार्मिक मूल्यों, आदर्शों एवं आर्थिक व्यवस्था के बीच

1. The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism.

एक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मैक्सवेबर के सिद्धान्त को तीन प्रमुख बिन्दुओं में प्रकाशित किया जा सकता है :

(i) समाज में धार्मिक मूल्य एवं आर्थिक संरचना न केवल आपस में घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है बल्कि एक दूसरे पर आत्म निर्भर भी है।

(ii) समाज में धार्मिक मूल्य अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(iii) धार्मिक मूल्य समाज की संस्कृति का वह मुख्य भाग है जो सामाजिक परिवर्तनों का प्रादुर्भाव करते हैं।

अपने सिद्धान्त की व्याख्या में मैक्सवेबर ने संसार के ६ धर्मों का अध्ययन विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि दुनियाँ में प्रोटेस्टेण्ट धर्म ही अधिक महत्वपूर्ण है। वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूंजीवाद आपस में बहुत अधिक सम्बन्धित हैं। वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म ने पूंजीवाद को निम्नलिखित पाँच प्रकार से प्रभावित किया है :

(i) प्रोटेस्टेण्ट धर्म में कार्य करने को एक गुण माना गया है। यह पश्चिमी समाजों के लिये नवीन विचार है क्योंकि कैथोलिक धर्म के अनुसार कार्य करने को अर्थात् परिश्रम को 'ईश्वरीयदण्ड' की संज्ञा दी गयी है।

(ii) कालविनवाद (Calvinism) के मतानुसार व्यक्ति के व्यवसाय की सफलता से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस व्यक्ति विशेष का भाग्य कैसा है और भविष्य में कैसा रहेगा। यही कारण है कि लोग अधिक से अधिक कार्य करते हैं।

(iii) पूंजीवाद को प्रोत्साहन देने में प्रोटेस्टेण्ट धर्म का तृतीय सहयोग व्याज को मान्यता प्रदान करने से है।

(iv) प्रोटेस्टेण्ट धर्म सुरा-पान पर प्रतिबन्ध लगाता है ताकि व्यक्ति मशीनों पर ठीक से कार्य कर सके।

(v) प्रोटेस्टेण्ट धर्म समाज में सदस्यों को कम अवकाश देने के पक्ष में है ताकि उत्पादन अधिक हो सके।

मैक्सवेबर ने अपने सिद्धान्त की प्रमाणिकता के लिये उन देशों का भी उदाहरण दिया है जहां पूंजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट धर्म विकास की चरम अवस्था में है। अमेरिका तथा इंगलैंड ऐसे ही देशों के अन्तर्गत आते हैं। इसके विपरीत कैथोलिक धर्म के अनुयायी देशों (इटली तथा स्पेन आदि) में

अमेरिका तथा इंगलैण्ड की भाँति विकास नहीं हुआ है। वेबर के अनुसार किसी समाज के अधिक विकसित होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उस समाज में प्रोटेस्टेण्ट धर्म का बोलवाला है क्योंकि यह भी संभव है कि विकसित होने के कारण ही वह समाज विशेष प्रोटेस्टेण्ट धर्म का अनुयायी हो गया हो।

मैक्सवेबर के सिद्धान्त का निष्कर्ष केवल यह है कि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कारकों का सामाजिक परिवर्तन लाने में विशेष महत्व होता है। समाज में ये धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कारक इस बात का निर्धारण करते हैं कि समाज किस प्रकार की प्रविधियों, मशीनों आदि का प्रयोग करेगा। संक्षेप में यही मैक्सवेबर की सामाजिक परिवर्तन की सांस्कृतिक व्याख्या है।

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. P. Sorokin : Social and Cultural Dynamics.
3. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
4. E. B. Tylor : Primitive Culture.
5. Hornell Hart : Social Theory and Social Change.
6. E. M. Rogers : Social Change in Primitive Society.
7. M. J. Herskovits : Man and His Work.
8. E. A. Hoebel : Man in the Primitive World.
9. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.

Questions

१. सांस्कृतिक विलम्बना पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
Write a short essay on cultural lag.

२. सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा स्पष्ट कीजिये तथा सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करने में उसकी परिसीमाओं का उल्लेख कीजिये।
Explain the concept of cultural lag and point out the limitations in explaining social change.

३. सांस्कृतिक विलम्बना के कारणों और परिणामों का वर्णन कीजिए।
Describe the cause and effect ef cultural lag.

४. सांस्कृतिक विलम्बना से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक शिक्षा में पाये जाने वाले सांस्कृतिक विलम्बों की व्याख्या कीजिये ।
What do you understand by cultural lag ? Make a study of cultural lag in the field of modern education.

५. मैक्स वेबर के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।
Explain Max Weber's theory of social change.

६. टिप्पणी लिखिये ।

(क) सांस्कृतिक विलम्बना
(ख) प्रौद्योगिक विलम्बना
(ग) सांस्कृतिक विसंयुजता तथा
(घ) प्रौद्योगिकि प्रतिरोध ।

Write short notes on :
(a) Cultural lag
(b) Technological lag
(c) Cultural Ambivalence and
(d) Technological Restraint.

अध्याय २६

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

(THEORIES OF SOCIAL CHANGE)

सामाजिक परिवर्तन एक व्यापक घटना है जिसके अनेक कारण तथा अनेक स्वरूप होते हैं। इनके कारकों का विस्तृत विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। कुछ चिन्तकों ने सामाजिक परिवर्तन में केवल विघटन देखा है, कुछ ने प्रगति देखी है तथा कुछ ने चक्र देखा है। इस अध्याय में उन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिनके द्वारा परिवर्तन में कोई समरुप या दिशा देखने का प्रयास किया गया है।

दर्शनशास्त्रियों, इतिहासवेत्ताओं, अर्थशास्त्रियों एवं कुछ समाजवेत्ताओं ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों को बनाने का प्रयास किया है जो मूल रुप से सामाजिक परिवर्तन का कारण हैं। विद्वानों के सभी सिद्धान्तों की विवेचना करने की अपेक्षा यहाँ पर केवल (१) समरैखिक सिद्धान्त (२) चक्रिय सिद्धान्त और (३) विकासवादी सिद्धान्त, जो विशेष प्रसिद्ध हुए हैं, का विवेचन किया जा रहा है।

सामाजिक परिवर्तन के समरेखिक सिद्धान्त

(The Linear Theories of Social Change)

समरैखिक सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कुछ ऐसा विश्वास है कि समाज का स्वरूप अज्ञात कारकों ने पहले से ही निर्धारित कर दिया है और उस पूर्व

निर्धारित स्वरूप की प्राप्ति के लिये समाज निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। इन विद्वानों के मतानुसार ईश्वर द्वारा समाज का पूर्व निर्धारित स्वरुप होने के कारण ही, समाज अनेक बाधाओं के बाबजूद भी आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समरैखिक सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परे हैं और दैवी नियमों पर आधारित है। इसी कारण सामाजिक परिवर्तन की समरैखिक सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज के अतीत की एक बहुत ही लम्बी कहानी है और वह अनेक बार उत्थान एवं पतन के दौर से गुजर चुका है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामाजिक परिवर्तन किसी एक शक्ति अथवा कारक का प्रभाव नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन अनेक शक्तियों की क्रियाशीलता का प्रतिफल होता है। अतः यह कहना कि समाज केवल प्रकृति द्वारा पूर्व निर्धारित स्वरूप अथवा ध्येय की प्राप्ति के लिये ही एक निरन्तर गति से बढ़ रहा है, हास्यास्पद है।

सामाजिक परिवर्तन के चक्रिय सिद्धान्त
(The Cyclic Theories of Social Change)

अधिकांश विद्वानों का मत है कि समाज में परिवर्तन चक्रिय ढंग से होते हैं। सामाजिक परिवर्तन की चक्रिय आधार पर व्याख्या करने में ओसवाल स्पेंगलर, टॉयनबी एवं सोरोकिन के सिद्धान्तों का विशेष महत्व है। इन सब सिद्धान्तों का विवेचन नीचे किया जा रहा है :

(१) ओसवाल्ड स्पेंगलर का 'चक्रवत सिद्धान्त' (The Cyclic theory of Oswald Spengler) ओसवाल्ड स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'दी डेक्लाइन ऑफ दी वेस्ट (The Decline of the West) में इतिहास के समस्त पूर्ववर्ती लेखकों की आलोचना करते हुये लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन किसी एक ही दिशा (linear) होने की अपेक्षा चक्रवत रुप में होता है।

स्पेंगलर के मतानुसार संस्कृति की आत्मा (Soul of the Culture) किसी युग में निहित रहती है और जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था की सीढ़ियों से गुजर कर मृत्यु का आलिंगन करता है, उसी प्रकार संस्कृति की आत्मा भी बनती है और मिट जाती है। स्पेंगलर सभ्यता के आठ स्वरूपों का उदाहरण देते हुए कहा है कि इनका चक्र बराबर चलता रहता है।

स्पेंगलर ने समाज के उन्नति के काल को 'संस्कृति' और अवनति के काल को 'सभ्यता' की संज्ञा दी है। उसके अनुसार जब संस्कृति की आत्मा मिटने लगती है तो समाज का पतन होना आरम्भ हो जाता है और वह पुनः उस अवस्था में आ जाता है जहाँ से उसने उन्नति करना प्रारम्भ किया था। इस प्रकार स्पेंगलर के अनुसार समाज एक साइकिल के ऐसे पहिये के समान है जो ऊपर नीचे घूमता रहता है।

स्पेंगलर ने अपने सिद्धान्त के वैज्ञानिक होने का दावा किया है, इसीलिये समाजशास्त्रियों ने उसके सिद्धान्त की बड़ी आलोचना की है। अनेक समाजशास्त्रियों ने सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि उसका सिद्धान्त बनावटी सादृष्यों (Analogy) पर आधारित है।

(२) अर्ननोल्ड टॉयनबी का सिद्धान्त (The theory of Arnold J. Toynbee) टॉयनबी ने अपना सिद्धान्त अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' (A Study of History) में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार किसी भी युग में युग की ओर से एक 'चुनौती' (Challange) होती है और उस चुनौती की 'प्रतिक्रिया' (Response) देने के लिये समाज में लोग अल्पसंख्या (Creative Minority) में होते हैं, अर्थात् समाज में श्रेष्ठ व्यक्तियों की मात्रा इनी गिनी ही होती है और ये ही लोग चुनौती का उत्तर देते हैं और विश्व की संस्कृति को उन्नति की ओर ले जाते हैं। वर्तमान समय में युग की चुनौती तीसरे विश्वयुद्ध के लिये है। समाज में अल्पसंख्यक चुनौती को जिस रूप में स्वीकार करके उसका उत्तर देते हैं, उसी रूप में संस्कृति का भी निर्माण होता है। टॉयनबी के अनुसार विश्व में २१ संस्कृतियों का अब तक प्रादुर्भाव हो चुका है।

टॉयनबी के अनुसार समाज में अल्पसंख्यक लोगों के पास ईश्वरीय गुण होते हैं। समाज के अन्दर चुनौती का निर्माण होता रहता है। इस प्रकार समाज में अच्छाई एवं बुराई में सदैव संघर्ष चलता रहता है।

(३) सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त (Sorokin's theory of Social Change) ब्रूक्स ऐडम्स, ओसवाल्ड स्पेंगलर तथा टॉयनबी के समान ही सोरोकिन ने भी सामाजिक-सांस्कृतिक-गतिशीलता का चक्रिय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। सोरोकिन ने ग्रीककाल से लेकर आजतक के इतिहास का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया है और धर्म, कला,

विज्ञान, राजनीति, नीति आदि में किस प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं इनका लेखा-जोखा प्रस्तुत करके जो निष्कर्ष निकाला वह इस प्रकार है— मानव इतिहास में निम्नलिखित तीन प्रकार की संस्कृतियाँ बार-बार आती रहती हैं :

(क) प्रत्यक्षवादी संस्कृति (Sensate Culture) प्रत्यक्षवादी संस्कृति के अन्तर्गत केवल उन्हीं तथ्यों पर विचार किया जाता है जो अनुभूति से या प्रत्यक्ष देखी तथा समझी जा सकती हों। इसमें अनुभूति से परे किसी भी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। अतः ईश्वर पर विश्वास, आध्यात्मिकता तथा उच्च मूल्यों का इस संस्कृति में ह्रास होता है। समाज में सदस्यों का दृष्टिकोण भौतिकवादी होता है और किसी भी समस्या का समाधान केवल भौतिक परिस्थितियों को बदल कर करने की चेष्टा की जाती है।

(ख) परोक्षवादी संस्कृति (Ideational Culture) परोक्षवादी संस्कृति सोरोकिन के मतानुसार वह है जो प्रत्यक्ष और अनुभव से परे है और उस पर विश्वास किया जाता है। इस संस्कृति के अन्तर्गत समाज में लोग शाश्वत मूल्यों, ईश्वर की सत्ता और आत्मा में विश्वास करते हैं। समाज में किसी समस्या के प्रादुर्भाव होने से उसे सुलझाने के लिये भौतिक जगत की ओर मुड़ने की अपेक्षा सदस्य अपने मन और आत्मा को शुद्ध करते हैं।

(ग) आदर्शवादी संस्कृति (Idealistic Culture) आदर्शवादी संस्कृति, प्रत्यक्षवादी और परोक्षवादी संस्कृति के बीच की स्थिति है। इस संस्कृति के अन्तर्गत दोनों ही बातें पायी जाती हैं। समाज में एक ओर जहाँ लाभ और स्वार्थ की भावना होती है, वहीं साथ-साथ बलिदान की भावना तथा दूसरों के प्रति प्रम की भावना भी पायी जाती है।

सोरोकिन के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के विकास में एक ऐसा मोड़ आता है जो विकास का चरम विन्दु होता है और वहाँ पहुच कर वह अपनी ही आन्तरिक विशेषताओं के कारण परिवर्तित होकर निश्चित दिशा ले लेता है। अतः सोरोकिन का मत है कि परिवर्तन के कारण आन्तरिक होते हैं और सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर्निहित होते हैं।

इस प्रकार सोरोकिन ने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के सिद्धान्तों को तीन वर्गों में रक्खा है जिनका विवेचन आगाकी पृष्ठों में किया गया है।

(१) सामाजिक परिवर्तन का वाह्यकृत या पर्यावरणवादी सिद्धान्त (The Externalised or Environmental theory of Social Change) सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के इस सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन के कारण सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्निहित होने की अपेक्षा वाह्य परिवेश में रहते हैं। परन्तु सोरोकिन ने अपने व्याप्त सिद्धान्त के द्वारा यह बताता है कि यदि समाज में कुछ परिवर्तन करने की क्षमता न हो तो केवल वाह्य कारक ही परिवर्तन नहीं ला सकते। व्यवहारवादियों के अनुसार जब तक उत्तेजना न होगी तब तक प्रतिक्रिया नहीं हो सकती परन्तु सोरोकिन उनकी आलोचना करते हुए कहता है कि जब तक वस्तु के अन्दर परिवर्तन की क्षमता (Potentiality of Change) नहीं होगी, तब तक उसमें परिवर्तन नहीं आ सकता। इस प्रकार सोरोकिन के अनुसार वाह्य कारकों का कोई विशेष महत्व नहीं होता है। जिस वस्तु में जो तत्व भरा होता है वह अवश्य ही छलकता है चाहे उसे कोई छलकाये या नहीं।

(२) सामाजिक परिवर्तन का समग्रता सिद्धान्त (Integral theory of Social Change) यह सिद्धान्त वाह्य और आन्तरिक दोनों सिद्धान्तों का मिश्रित रूप होता है। परन्तु इस सिद्धान्त में वाह्य कारकों को कम और आन्तरिक कारकों को अधिक महत्व दिया गया है।

सोरोकिन का कथन है कि यदि वाह्य कारक समाज में परिवर्तन न लायें तो क्या समाज में परिवर्तन होगा ही नहीं ? परन्तु ऐसा होता नहीं है। समाज अवश्य परिवर्तित होता है। सोरोकिन के अनुसार वाह्यकृत सिद्धान्त समाज को भटका देता है, इसी लिये वह इसे असंतोषजनक कहता है और सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या के लिये व्याप्त सिद्धान्त रखता है।

(३) सामाजिक परिवर्तन का व्याप्त सिद्धान्त (The Immanent theory of Social Change) व्याप्त सिद्धान्त के अनुसार यदि सभी वाह्य परिस्थितियाँ स्थिर हैं, लुप्त हैं अथवा उनका अभाव है तो भी किसी भी सामाजिक व्यवस्था में आन्तरिक कारकों के प्रभाव से परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया (On going concern) है, इसलिये परिवर्तन स्वयं ही आंतरिक कारकों के प्रभाव से हो जाता है। वाह्य कारक भी परिवर्तन लाने में सहयाक हो सकते हैं परन्तु

(१) **सामाजिक परिवर्तन का वाह्यकृत या पर्यावरणवादी सिद्धान्त** (The Externalised or Environmental theory of Social Change) सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के इस सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन के कारण सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्निहित होने की अपेक्षा वाह्य परिवेश में रहते हैं। परन्तु सोरोकिन ने अपने व्याप्त सिद्धान्त के द्वारा यह बताता है कि यदि समाज में कुछ परिवर्तन करने की क्षमता न हो तो केवल वाह्य कारक ही परिवर्तन नहीं ला सकते। व्यवहारवादियों के अनुसार जब तक उत्तेजना न होगी तब तक प्रतिक्रिया नहीं हो सकती परन्तु सोरोकिन उनकी आलोचना करते हुए कहता है कि जब तक वस्तु के अन्दर परिवर्तन की क्षमता (Potentiality of Change) नहीं होगी, तब तक उसमें परिवर्तन नहीं आ सकता। इस प्रकार सोरोकिन के अनुसार वाह्य कारकों का कोई विशेष महत्व नहीं होता है। जिस वस्तु में जो तत्व भरा होता है वह अवश्य ही छलकता है चाहे उसे कोई छलकाये या नहीं।

(२) **सामाजिक परिवर्तन का समग्रता सिद्धान्त** (Integral theory of Social Change) यह सिद्धान्त वाह्य और आन्तरिक दोनों सिद्धान्तों का मिश्रित रूप होता है। परन्तु इस सिद्धान्त में वाह्य कारकों को कम और आन्तरिक कारकों को अधिक महत्व दिया गया है।

सोरोकिन का कथन है कि यदि वाह्य कारक समाज में परिवर्तन न लायें तो क्या समाज में परिवर्तन होगा ही नहीं? परन्तु ऐसा होता नहीं है। समाज अवश्य परिवर्तित होता है। सोरोकिन के अनुसार वाह्यकृत सिद्धान्त समाज को भटका देता है, इसी लिये वह इसे असंतोषजनक कहता है और सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या के लिये व्याप्त सिद्धान्त रखता है।

(३) **सामाजिक परिवर्तन का व्याप्त सिद्धान्त** (The Immanent theory of Social Change) व्याप्त सिद्धान्त के अनुसार यदि सभी वाह्य परिस्थितियाँ स्थिर हैं, लुप्त हैं अथवा उनका अभाव है तो भी किसी भी सामाजिक व्यवस्था में आन्तरिक कारकों के प्रभाव से परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया (On going concern) है, इसलिये परिवर्तन स्वयं ही आंतरिक कारकों के प्रभाव से हो जाता है। वाह्य कारक भी परिवर्तन लाने में सहयाक हो सकते हैं परन्तु

सोरोकिन के अनुसार वे केवल पूरक रुप में सहायक होते हैं। वाह्य कारकों के परिवर्तन को मूल कारण नहीं कहा जा सकता।[1]

इस प्रकार सोरोकिन के अनुसार केवल वाह्य कारकों के आधार पर परिवर्तन की व्याख्या नहीं की जा सकती। परिवर्तन के आन्तरिक कारक, सामाजिक परिवर्तन की क्षमता के अनुसार व्याप्त होते हैं। वाह्य कारक तो केवल सहायक कारक के रुप में इस व्याप्त क्षमता को प्रस्फुटित होने में योगदान देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सोरोकिन परिवर्तन के वाह्य कारकों को नकारता नहीं है बल्कि उन्हें सहायक रुप में मानता है।

सोरोकिन ने पिछले २५०० वर्षों की मानवीय सभ्यता की उपव्यवस्थाओं (कला, दर्शन, नीतिशास्त्र, राजनीति, आर्थिक संगठनों) का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें परिवर्तन आन्तरिक कारकों द्वारा हुआ है। इस प्रकार सोरोकिन के समस्त तर्क को निम्नलिखित प्रमुख विन्दुओं में रक्खा जा सकता है :

(१) प्रत्येक सामाजिक संरचना और प्रत्येक संस्कृति अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करती है।

(२) सोरोकिन निर्धारणवादी और स्वइच्छावादी के सिद्धान्तों को सामाजिक परिवर्तन पर लागू करते हुए कहता है कि जब परिवर्तन की क्षमता व्याप्त होगी तो कोई भी संस्कृति अपनी आन्तरिक क्षमता (स्वइच्छा) के अनुसार बदल जायेगी। उसके ऊपर वाह्य शक्तियाँ अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नहीं ला सकती हैं।

(३) सामाजिक परिवर्तन सीमित होता है।

(४) कोई भी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था उसी सीमा तक बदलती है, जितनी क्षमता उसमें व्याप्त रहती है। जिस प्रकार प्यानों जोर से बजाने से एक सीमा के बाद ऊँचे स्वर नहीं निकल सकते और वह टूट जाता है, इसी

1. "My answer is in favour of the principle of immanent change of each socio-cultural system, suppoted by the externalistic principle, within certain conditions and limits."

—Pitirim A. Sorokin.

तरह सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था उसी सीमा तक परिवर्तित हो सकती है जहाँ तक उसकी आन्तरिक क्षमता है। सोरोकिन असीमित परिवर्तन (Limitless Change) को स्वीकार नहीं करता।

(५) सांस्कृतिक परिवर्तन की एक लहर (Swing or Rhythm) हुआ करती है।

(६) परिवर्तन अपनी क्षमता की चरम सीमा पर पहुंच कर समाप्त (Exhaust) हो जाता है। अतः अन्तिम विन्दु पर पहुंच कर कोई भी संस्कृति दूसरा मोड़ ले लेती है। और सोरोकिन के मतानुसार संसार में एक रेखीय विकास नहीं होता बल्कि परिवर्तन की वही अवस्थाएँ बार-बार आया करती हैं। सामाजिक व्यवस्था में यह उतार-चढ़ाव (Fluctuation) सदैव बना रहता है।

(७) समाज में प्रत्यक्षवादी और परोक्षवादी संस्कृतियाँ बार-बार आया करती हैं। इन दोनों संस्कृतियों के मध्य की स्थिति को सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहता है। इन संस्कृतियों की विशेषताओं का विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

सिद्धान्त की समालोचना (Criticism of the Theory) : सोरोकिन के सिद्धान्त को एक ओर जहाँ अत्याधिक ख्याति प्राप्त हुई, उसी प्रकार उसके सिद्धान्त की विद्वानों द्वारा कटु आलोचना भी की गयी है। हैंस स्पीयर (Hans Spier) ने उसके सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता (Socio-Cultural Dynamics) के आँकड़े गुणात्मक हैं, तथ्यगत नहीं हैं। सोरोकिन ने पहले परिवर्तन का ढांचा प्रत्यक्षवादी और परोक्षवादी बनाया और उसमें विश्व के इतिहास को तोड़ मरोड़ कर रखने की चेष्टा की है। संभवतः इसी कारण सोरोकिन की 'सोशल एण्ड कल्चरल डाइनैमिक्स' पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना न करके, पाश्चात्य सभ्यता को एक अभिव्यक्ति (Expression) करती है।

सोरोकिन का अध्ययन वैज्ञानिक और तटस्थ न होकर मूल्यनात्मक है। सोरोकिन ने प्रत्यक्षवादी संस्कृति को सबसे निम्न और परोक्षवादी संस्कृति को सबसे उच्च मान कर श्रेणीक्रम के रुप में अध्ययन किया है। उसके अनुसार दोनों संस्कृतियों की अच्छाइयों को लेकर एक मिश्रित संस्कृति बनेगी जो

सर्वोत्तम होगी। सोरोकिन उसे सामुच्चय संस्कृति (Integral Culture) कहता है। परन्तु सोरोकिन की यह कल्पना सर्वथा अवैज्ञानिक है; असन्तुष्ट मनुष्य की एक कल्पना मात्र है। उसकी यह कल्पना उसे वैज्ञानिक विश्लेषण से ही नहीं बल्कि समाज विज्ञान से भी काट देती है।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के परिणाम-स्वरूप संसार प्रगति करता जाता है। परन्तु सोरोकिन का कथन इसके ठीक विपरीत है। वह समस्त विकास को ही रोक देना चाहता है। उसका कहना है कि संसार में प्रगति नहीं होती है। आधुनिक चिंतकों का मत है कि मानव समाज निरन्तर विकसित होता है और उसमें उद्‌विकास और प्रगति होती रहती है परन्तु सोरोकिन का सिद्धान्त प्रगति को नकारना चाहता है। अतः उसने एक ऐसा सिद्धान्त रक्खा है जिसमें सामाजिक व्यवस्था उन्नति के चरम बिन्दु पर पहुंच कर पतनोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार सोरोकिन के अनुसार प्रलय एक बार नहीं बार-बार आती रहेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि सोरोकिन का सिद्धान्त इतना निराशाजनक है कि इससे भविष्य का निर्माण सम्भव नहीं है। यदि एक प्रकार की संस्कृति उन्नति के एक चरम बिन्दु पर पहुंच कर अवश्य समाप्त हो जाएगी और उसके बाद दूसरी प्रकार की संस्कृति का प्रारम्भ अवश्य होना ही है तो किसी भी योजना या निर्देशित परिर्वतन की संभावना नहीं हो सकती है।

सोरोकिन का सिद्धान्त केवल ऐतिहासिक कविता मात्र ही कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्षवादी संस्कृति मानसिक सामुच्चय के (Mentalistic whole) के समान है। ऐतिहासिक तथ्य इस कविता के अनुकूल नहीं है।

सोरोकिन के विचार इसाई धर्म के महर्षियों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। जिस प्रकार इसाई धर्म ने दुनियाँ में ईश्वर और शैतान का रूप देखा है उसी तरह सोरोकिन ने प्रत्यक्षवादी और परोक्षवादी संस्कृतियों का ढंग दिखाया है। मध्यकाल में जो कुछ भी सैण्ट अगस्तटाइन (St. Augustine) ने कहा था, २०वीं शताब्दी में उन्हीं के दर्शन को सोरोकिन ने दुहराया है। इसी कारण हैंस स्पीयर ने सोरोकिन के विचार को इसाई धर्म के विश्वासों का भ्रष्ट स्वरूप कहा है।

हैंस स्पीयर ने सोरोकिन के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए यह भी कहा है कि सोरोकिन के विचार नैतिक विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हैं,

उसका विश्लेषण केवल उदगार मात्र ही है। सोरोकिन के विचार में संसार में प्रगति नहीं होती और अपने इस विचारों की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिये वह अपने सिद्धान्त का निर्माण पहले करता है और बाद में उसमें ऐतिहासिक तथ्यों को भरता है। इसीलिये उसके विचारों की तुलना प्राचीन विकासवादियों से की गई है और संभवतः इसी कारण हैंस स्पीयर ने उसे विकृत बुद्धि का इसाई कहा है।[1]

सोरोकिन के अनुसार किसी भी सामाजिक योजना, सामाजिक नियंत्रण एवं निर्देशन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि परिवर्तन को रोकना असंभव है। वह चक्रिय सिद्धान्तों की आलोचना करता है परन्तु वास्तव में उसके सिद्धान्त को चक्रिय सिद्धान्त की श्रेणी में ही रक्खा जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के विकासवादी सिद्धान्त
(The Evolutionary Theories of Social Change)

कुछ आधुनिक विचारधारा के विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या समाज में निरन्तर एक ही दिशा में विकसित होने के आधार पर की है। प्रायः लोग विकासवादी और प्रगतिवादी सिद्धान्तों में भ्रमवश कोई अन्तर नहीं समझते, परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रगति एवं विकास ये दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। प्रत्येक समाज के अपने कुछ नैतिक मूल्य, आदर्श एवं प्रतिमान होते हैं और जब समाज इन मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, तो उसे प्रगति कहते हैं। परन्तु विकास एक क्रमिक और निश्चित दिशा में होता है और होता ही रहता है।

विकासवादी सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव १९वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ है। डार्विन के प्राणीशास्त्र से प्रेरित होकर ही विकासवादी सिद्धान्तों की रचना आरम्भ हुई। हरबर्ट स्पेन्सर वह प्रथम विद्वान था जिसने सामाजिक परिवर्तन को विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट किया। विकासवादी सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना आगामी अध्याय में की गयी है।

---

1. "Sorokin's basic philosophy may be ragarded as a modern vulgarisation of christian thinking." Hans Spier.

Selected Readings

1. Herbert Spencer : First Principles.
2. Oswald Spengler : The Decline of the West.
3. Arnold J. Toynbee : A Study of History.
4. P. Sorokin : (a) Social and Cultural Dynamics.
   (b) Contemporary Sociological Theories.
5. MacIver and Page : Society.
6. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
7. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.

Questions

१, सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये ।
Discuss the cyclic theories of social change.

२. सोरोकिन के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए ।
Discuss in brief Sorokin's theory of social change.

३. सामाजिक परिवर्तन के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।
Discuss some of the important theories of social change.

४. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :
(क) समरैखिक सिद्धान्त (ख) स्पेंगलर का चक्रवत सिद्धान्त और (ग) टॉयनबी का सिद्धान्त ।
Write short notes on :
(a) Linear Theories (b) Cyclic theory of Spengler and (c) Theory of Toynbee.

अध्याय ३०

सामाजिक उद्विकास
(SOCIAL EVOLUTION)

सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन का ही एक प्रकार है। उद्विकास का अर्थ एक सीधी एवं सरल वस्तु के जटिल अवस्था में बदल जाने से है। इसका अर्थ और भी स्पष्ट करने के लिये कहा जा सकता है कि जब कोई सीधी एवं सरल वस्तु एक निश्चित स्तरों से गुजर कर जटिल अवस्था में आ जाती है तो उसे उद्विकास कहते हैं। प्रायः लोग साधारण तौर पर सामाजिक प्रगति (Social Progress) और सामाजिक उद्विकास में कोई अन्तर नहीं समझते हैं, परन्तु दोनों में भिन्नता है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "उद्विकास वृद्धि से कुछ अधिक होता है।"[1] उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो प्रकृति में गुणात्मक (Qualitative) होती है और सदैव एक निश्चित दिशा में अग्रसर होती है। यह ढाँचे या कार्यों से सम्बन्धित होती है।

परिभाषायें (Definitions)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक उद्विकास को अनेक ढंग से परिभाषित किया है। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषायें अगले पेज पर उद्धृत हैं।

1. Evolution means more than growth."
— MacIver and Page : *Society*.

हरबर्ट स्पेन्सर के शब्दों में, "उद्विकास पदार्थ का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान में पदार्थ एक निश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।"[1]

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "उद्विकास परिवर्तन की एक दिशा है जिसमें बदलते हुए पदार्थ की बहुतेरी दशायें प्रकट होती हैं; जिससे कि उस पदार्थ की वास्तविकता का पता चलता है।"[2]

एक अन्य स्थान पर मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है, "सामाजिक उद्विकास वह प्रक्रिया है जिसमें निहित लक्षण अपने को धीरे-धीरे प्रकट करते हैं। संरचनात्मक या क्रियात्मक विभेदीकरण की दृष्टि से यह एक गुणात्मक प्रक्रिया है। इसमें गुण या लक्षण आन्तरिक प्रक्रिया से प्रकट होते हैं, न कि वाह्य प्रक्रिया से। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रत्येक वस्तु अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होती है।[3]

जिन्सबर्ग के मतानुसार, 'सामाजिक उद्विकास परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो किसी वस्तु में नवीनता पैदा करती है और संक्रमण की निरन्तरता को व्यक्त करती है।"[4]

---

1. "Evolution is the integration of matter and concomitant dissipation of motion during which matter passes from an indefinite incoherent homogeneity to a definite coherent heterogeneity."
—Herbert Spencer : *First Principles.*

2. "Evolution is an order of change which unfolds the variety of aspects belonging to the nature of the changing object, in which the potentialities lying within it are made actual."
—MacIver and Page : *Society.*

3. "Social Evolution is a process in which the latent characteristics of a thing, existing embryonically within it gradually unfold or reveal themselves. It is a process qualitatively defined with respect of structural or functional differentiation."
—Ibid.

4. Social evolution would be a process of change cultivating in the production of some thing new but exhibiting an orderly continuity in transition."
—Ginsberg.

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के मतानुसार, **"उद्विकास केवल मात्र एक निश्चित दिशा में परिवर्तन है।"**[1]

प्राणिशास्त्रीय उद्विकास
(Biological Evolution)

हरबर्ट स्पेन्सर का सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त चार्ल्स डारविन के प्राणिशास्त्रीय उद्विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये डारविन के सिद्धान्त को समझना अनिवार्य है। संक्षेप में डारविन के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं को निम्नलिखित विन्दुओं में रक्खा जा सकता है :

(क) डारविन के अनुसार आरम्भ में प्रत्येक जीवित वस्तु अत्यन्त ही सरल एवं सुगम होती है तथा उसके सभी अंग आपस में इस प्रकार सम्बद्ध होते हैं कि उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं ठहराया जा सकता और साथ ही उसके सम्बद्ध अंगों को एक दूसरे से पृथक भी नहीं किया जा सकता है। इसे अनिश्चित, अभिन्न समानता की स्थिति कहते हैं। समय के साथ-साथ उस वस्तु के सभी लुप्त हुए अंग पृथक होकर विकसित होते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु का निश्चित स्वरूप निर्धारण हो जाता है। डारविन के सिद्धान्त-नुसार यह निश्चित भिन्नता की स्थिति है। उदाहरणार्थ माँ के पेट में आरम्भ में बालक का रूप बहुत ही सरल होता है और उसके सभी अंग आपस में इतने घुले-मिले होते हैं कि उनको पृथक नहीं किया जा सकता। परन्तु कुछ ही महीनों में उसके विभिन्न अंग जैसे मुँह, आंख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि पृथक होकर स्पष्ट हो जाते हैं और उनमें भिन्नता आ जाती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राणिशास्त्रीय उद्विकास सिद्धान्त में अभिन्न समग्रता का अलग-अलग भागों में विकसित हो जाना ही उद्विकास का पहला आधारभूत नियम है।

(ख) प्राणीशास्त्रीय उद्विकास की दूसरी अवस्था में किसी जीवित वस्तु के अंग विकसित होने के उपरान्त अपना-अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं।

---

1. "Evolution is merely change in a given direction."
Ogburn & Nimkoff : *A Handbook of Sociology*.

(ग) जीवित वस्तु के विभिन्न अंग विकसित होकर पृथक रूप से अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। परन्तु पृथक रूप से सभी अंगों के कार्य करने के उपरान्त भी सभी अंगों में एक अन्त:सम्बन्ध और अन्त:निर्भरता बनी रहती है। जैसे कान में दर्द होने से उसका प्रभाव मष्तिक भी पड़ता है और मष्तिक के प्रभावित होने से दूसरे सभी अंग भी प्रभावित होते हैं।

(घ) उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक निरन्तरता सदैव बनी रहती है। किसी जीवित वस्तु में कब कौन सा परिवर्तन हो रहा है यह बता सकना बहुत ही कठिन है क्योंकि उसमें सदैव मन्द गति से विकास होता रहता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के समक्ष ही उसके पुत्र में परिवर्तन हो रहा है परन्तु उसके लिये बताना कठिन है कि वह कब कितना बड़ा हो रहा है अथवा उसमें कब कौन सा परिवर्तन हो रहा है।

(ङ) डारविन के प्राणिशास्त्रीय विकास की अन्तिम मान्यता यह है कि उद्विकास की प्रक्रिया कुछ निश्चित स्तरों से गुजर कर किसी सुगम वस्तु को जटिल रुप दे देती है। उदाहरणार्थ बालक जन्म लेता है फिर बचपन, युवावस्था, और बृद्धावस्था के विभिन्न स्तरों से गुजर कर मृत्यु का आलिंगन करता है।

सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त
(The Theory of Social Evolution)

पहले ही कहा जा चुका है कि सामाजिकउद्विकास का सिद्धान्त डारविन के प्राणशिास्त्रीय उद्विकास पर आधारित है। स्पेन्सर के मतानुसार प्राणिशास्त्रीय उद्विकास के नियम समाज एवं संस्कृति से भी घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं और उन पर पूरी तरह क्रियाशील होते हैं। संक्षेप में सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को निम्नलिखित प्रमुख विन्दुओं में प्रकाशित किया जा सकता है :

(i) आरम्भ में समाज का स्वरूप आज की भांति जटिल न होकर अत्यन्त ही सरल था। समाज के सभी अंग आपस में इस प्रकार सम्बद्ध थे कि उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता था। व्यक्ति का क्षेत्र अपने परिवार तक ही सीमित था। सभी प्रकार के कार्य परिवार द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। समाज में व्यक्तियों के कार्य एवं पेशे में समानता होने के

कारण व्यक्तियों के विचारों में भी बहुत हद तक समानता देखने को मिलती थी और सभी व्यक्ति प्रायः एक ही प्रकार की अनुभूति करते थे। समाज की इस अवस्था में सामाजिक संरचना, संस्कृति आदि का भी कुछ निश्चित रूप नहीं था, परन्तु कुछ समय पश्चात मनुष्य की इस अवस्था में परिवर्तन हुआ। उनमें सहयोग भावना बढ़ी और मिलजुल कर कार्य करना आरम्भ किया। मनुष्य की इस अवस्था में उन्नति का कारण उनके विचार, अनुभव ज्ञान आदि में विकास का परिणाम था। मानव जीवन के इस विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग जो इतने अधिक धुल मिल गये थे कि उनकों पृथक करना बहुत ही कठिन था, पृथक होकर स्पष्ट हुए और उनका एक रुप निर्धारण हो गया। उदाहरणार्थ परिवार, समुदाय, समितियां, राज्य, उद्योग धन्धे, श्रमिक संघ, धार्मिक संस्थायें, स्कूल, गाँव, कस्बा, और शहर आदि का रुप निर्धारण मनुष्य की अवस्था में विकास के ही कारण हो सका।

(ii) मानव जीवन के विकास के फलस्वरूप सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग पृथक होकर स्पष्ट हो जाते हैं और प्रत्येक अंग अपना अपना कार्य स्वतन्त्र रुप से करना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार समाज में श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण की स्थिति आ जाती है।

(iii) समाज में इन विभिन्न अंगों के विकसित हो जाने पर श्रम विभाजन और विशेषीकरण की स्थिति आ जाती है। यह सत्य है कि समाज के विभिन्न अंग विकसित होकर पृथक रुप से कार्य करते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका दूसरे अंगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी अंगों को दूसरे अंगो से कुछ निश्चित अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता सदैव बनी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक अंग किसी न किसी रुप में दूसरे अंग पर आश्रित रहता है।

(iv) उद्विकास की इस प्रक्रिया में एक निरन्तरता सदैव बनी रहती है और इस निरन्तरता के फलस्वरूप धीरे-धीरे अनेक वर्षों तक एक पूर्ण समाज का निर्माण होता रहता है।

(v) उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक उद्विकास की यह प्रक्रिया कुछ निश्चित स्तरों से गुजरती है और इसी बीच मुक्त समाज अमुक्त समाज में परिवर्तित हो जाते हैं। समाज के सभी तौर तरीकों में एक परिवर्तन

हो जाता है। प्रारम्भ में आदिम समाजों में प्रचलित विनिमय प्रणाली आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवर्तित हो गयी है। मनुष्य का जीवन केवल परिवारिक न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। मनुष्य की एक अवस्था वह थी जब वह किसी दूर स्थान की यात्रा करने से घबड़ाता था परन्तु सामाजिक उद्विकास की चरम सीमा पहुंचने पर वह वायुयान द्वारा अन्तरिक्ष यात्रा की बात सोचता है। सामाजिक उद्विकास की यह स्थिति जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है, एक दो वर्षों में नहीं हजारों वर्षो में कुछ निश्चित स्तरों से गुजर कर आयी है। आर्थिक क्षेत्र में समाज के उद्विकास के निम्नलिखित प्रमुख स्तर हैं :

(क) आखेट स्थिति (Hunting Stage),
(ख) पशुपालन की स्थिति (Pastoral Stage),
(ग) कृषि की स्थिति (Agriculture Stage) तथा
(घ) औद्योगिक स्थिति (Industrial Stage)।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज का प्रारम्भिक रुप अत्यन्त ही सरल था क्यों कि उसके सभी अंग आपस में सम्बद्ध थे, परन्तु समय के साथ उद्विकासीय प्रक्रिया ने समाज का विकास करके उसके सम्बद्ध अंगों को पृथक करके स्पष्ट किया और समाज में श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण की स्थिति को जन्म दिया। परन्तु श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण की स्थिति उत्पन्न होने पर भी समाज के अन्य अंगों में एक अन्तः सम्बन्ध तथा अन्तः निर्भरता बनी रही। प्रत्येक अंग किसी न किसी रूप में दूसरे अंग पर आश्रित रहता है।

सामाजिक उद्विकास एक यथार्थ और सिद्धान्त की समालोचना
(Social Evolution a Reality and Criticism of the Theory)

आधुनिक समाजशास्त्री सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त के उपर्युक्त विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को एक क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु उनके द्वारा कुछ आधारभूत सत्यों की अवहेलना होने के कारण

मैकाइवर तथा पेज, गोल्डनविजर आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। सामाजिक उद्विकास के यथार्थ को इसकी समालोचना के निम्न विन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:

(i) **प्रत्येक समाज के उद्विकास में एक ही नियम को नहीं स्वीकार किया जा सकता** (A single principle for the evolution of every society is not acceptable) : सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने यह मान लिया है कि सभी समाजों में विकास का एक ही नियम क्रियाशील होता है जो कि कभी भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक समाज का एक अलग ढाँचा होता है और उसकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। विभिन्न समाजों की परिस्थितियाँ भिन्न होने पर इसका प्रभाव उद्विकास की प्रक्रिया पर भी पड़ता है। अतः सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह दावा गलत है कि विभिन्न समाजों की परिस्थितियाँ भिन्न होते हुए भी उद्विकास की प्रक्रियाओं में एक रुपता बनी रहती है।

(ii) **प्रत्येक समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर एक ही क्रम में नहीं आये हैं** (The various stages of social and cultural evolution have not come in the same sequence in every society) : इस सिद्धान्त के प्रवर्तक इसे समरैखिक रूप से स्वीकार करते हैं और उनका कहना कि सभी समाजों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर एक ही क्रम से आये हैं। परन्तु उनकी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। प्रत्येक समाज एक निश्चित स्तर से होकर ही गुजरता है, यह आवश्यक नहीं है। सिद्धान्त के प्रवर्तक आदिम जातियों के आर्थिक संगठन की चार अवस्थायें बतलाते हैं (i) आखेट (ii) पशु पालन (iii) कृषि तथा (iv) औद्योगिक। सभी समाजों का विकास इसी क्रम से हुआ है, यह दावे से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि भिन्नता अनेक रूप धारण कर सकती है और अनेक कारणों पर आधारित होती है। मैकाइवर तथा पेज ने उचित ही लिखा है। **"बिल्लियाँ कुत्तों से विकसित नहीं होती परन्तु कुत्ते और बिल्लियाँ दोनों ही उद्विकास के प्रतिफल हैं।"**[1]

---

1 "Cats do not evolve from dogs but both dogs and cats are products of evolution"

MacIver and Page: Society.

मैकाइवर तथा पेज, गोल्डनविजर आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। सामाजिक उद्विकास के यथार्थ को इसकी समालोचना के निम्न विन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:

(i) **प्रत्येक समाज के उद्विकास में एक ही नियम को नहीं स्वीकार किया जा सकता** (A single principle for the evolution of every society is not acceptable) : सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने यह मान लिया है कि सभी समाजों में विकास का एक ही नियम क्रियाशील होता है जो कि कभी भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक समाज का एक अलग ढाँचा होता है और उसकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। विभिन्न समाजों की परिस्थितियाँ भिन्न होने पर इसका प्रभाव उद्विकास की प्रक्रिया पर भी पड़ता है। अतः सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह दावा गलत है कि विभिन्न समाजों की परिस्थितियाँ भिन्न होते हुए भी उद्विकास की प्रक्रियाओं में एक रुपता बनी रहती है।

(ii) **प्रत्येक समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के बिभिन्न स्तर एक ही क्रम में नहीं आये हैं** (The various stages of social and cultural evolution have not come in the same sequence in every society) : इस सिद्धान्त के प्रवर्तक इसे समरैखिक रूप से स्वीकार करते हैं और उनका कहना कि सभी समाजों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर एक ही क्रम से आवे हैं। परन्तु उनकी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। प्रत्येक समाज एक निश्चित स्तर से होकर ही गुजरता है, यह आवश्यक नहीं है। सिद्धान्त के प्रवर्तक आदिम जातियों के आर्थिक संगठन की चार अवस्थायें बतलाते हैं (i) आखेट (ii) पशु पालन (iii) कृषि तथा (iv) औद्योगिक। सभी समाजों का विकास इसी क्रम से हुआ है, यह दावे से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि भिन्नता अनेक रूप धारण कर सकती है और अनेक कारणों पर आधारित होती है। मैकाइवर तथा पेज ने उचित ही लिखा है। **"बिल्लियाँ कुत्तों से विकसित नहीं होती परन्तु कुत्ते और बिल्लियाँ दोनों ही उद्विकास के प्रतिफल हैं।"**[1]

---

1 "Cats do not evolve from dogs but both dogs and cats are products of evolution"

MacIver and Page: Society.

समाजों का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि कुछ ऐसी आदिम जातियाँ (उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की आदिम जातियाँ) भी हैं जो जीवन निर्वाह के लिए खेती तो करती हैं परन्तु उद्‌विकासीय प्रक्रिया के अन्तर्गत वे पशुपालन की स्थिति से भी गुजरी हों, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। हाँ यह सत्य है कि ये आदिम जातियाँ भी उद्‌विकास की प्रक्रिया से गुजरी हैं और उनका वर्तमान स्वरूप उसी का प्रतिफल है।

(३) सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने प्रसार सिद्धान्त की अवहेलना की है (The evolunists were inconsistent in maintaining the principle of diffusion.) : सिद्धान्त की आलोचना करते हुए गोल्डनविजर (Goldenweiser) ने लिखा है कि सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने प्रसार के सिद्धान्त की अवहेलना की है। सिद्धान्त के प्रवर्तक इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं कि समाज में संस्कृति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसार होता है। वास्तविकता तो यह है कि जब किसी संस्कृति विशेष को मानने वाले लोग दूसरे सांस्कृतिक समूह के सम्पर्क में आते हैं तो इससे दोनों सांस्कृतिक समूहों में संकीर्णताएं कम होती है और संस्कृति का प्रसार होकर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

(४) सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने आविष्कार के महत्व को बल नहीं दिया है (The evolunists have not emphasised the importance of evolution.) : सिद्धान्त की प्रमुख दुर्बलता यह है कि इसके प्रवर्तकों ने आविष्कार के महत्व को अपने सिद्धान्त में कोई महत्व नहीं दिया है। समाज में आविष्कार व्यक्तियों की मानसिक योग्यता एवं सांस्कृतिक तत्वों का प्रतीक है। नवीन आविष्कार लोगों के सामाजिक जीवन को विशेष रुप से प्रभावित करते हैं। अतः इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अधिक स्पष्ट होता है।

(५) सामाजिक सम्बन्ध या समाज का जन्म प्राणी की तरह नहीं होता (Societies and social relations do not take birth and grow like living organisms.) : अनेक समाजशास्त्री चार्ल्स डार्विन की विचार धारा के अनुसार यह स्वीकार करते हैं कि समाज का विकास जैविकीय विकास की तरह होता है परन्तु मेकाइवर तथा पेज इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सामाजिक सम्बन्ध या

समाज का जन्म न तो प्राणी की तरह होता है और नहीं उनका कभी प्रारम्भ होता है। मेकाइवर तथा पेज ने सामाजिक विकास को समझाते हुए लिखा है कि "सामाजिक उद्विकास वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति में प्रच्छन्न सभी भावनायें क्रमशः अथवा धीरे-धीरे प्रकट हो ही जाती हैं। विकास से वस्तु के आकार में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी रचना में भी परिवर्तन होने लगता है। यह संख्यात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन की ओर निरन्तर एक दिशा में ले जाने वाली प्रक्रिया है, जिससे वस्तु या समाज की आन्तरिक विशेषतायें प्रकट होकर भिन्न और स्पष्ट हो जाती हैं। अतः विकास की मूल विशेषता विभेदीकरण है, जिसमें एकीकरण का अर्थ समाविष्ट है। समाज में यह विभेदीकरण अधिकतर श्रम विभाजन, कार्यात्मक समितियों तथा संस्थाओं (Functional Associations and Institutions) की संख्या, विविधता की वृद्धि, सामाजिक संचार (Social Communication) के साधनों (विशेषकर भाषा) में विविधता (Diversity) और उत्कृष्टता (Refinement) में व्यक्त होता है।

मेकाइवर तथा पेज के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वह सामाजिक विकास में व्यक्ति के सक्रिय योग को मानते हैं। व्यक्ति का विकास होने पर उसका हमेशा प्रयत्न यह होता है कि वह प्राकृतिक परिस्थितियों पर नियत्रण रख सके, और प्रायः वह अपने प्रयास से सफल भी हो जाता है। इसके विपरीत डार्विन के प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त में प्राकृतिक शक्ति को ही महत्ता दी गई है और व्यक्ति के योग की अवहेलना की गई है।

सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त की विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है सामाजिक उद्विकास की कुछ महत्वपूर्ण वास्तविकतायें भी हैं जिनकी सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने अवहेलना की है। इसी कारण इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की गई है। इन आधारभूत वास्तविकताओं की अवहेलना करने के ही कारण आधुनिक समाजशास्त्री इस सिद्धान्त को अवैज्ञानिक सिद्धान्त की संज्ञा देते हैं। परन्तु सिद्धान्त में अनेक दुर्बलताएँ होने के उपरान्त भी विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि सांस्कृतिक विकास का अध्ययन-विश्लेषण करने के लिये यह एक उपयोगी सिद्धान्त है।

———

Selected Readings

1. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
2. Gillin and Gillin : Cultural Sociology.
3. MacIver and Page : Society.
4. Herbert Spencer : First Principles.
5. P. Sorokin : Contemporary Sociological Thories.
6. रविन्द्र नाथ मुकर्जी : उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

Questions

१. सामाजिक उद्विकास, सामाजिक प्रगति और सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाओं में भेद स्पष्ट कीजिए।
Distinguish the concepts of social evolution, social progress and social change.

२. सामाजिक उद्विकास से आप क्या समझते हैं ? इसका सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
What do you understand by social evolution ? Give its theoretical explanation.

३. 'समाज शरीर की भाँति न जन्मता है और न विकसित होता है।' समालोचना कीजिए।
'Society is neither born nor grows like living organisms. Comment.

४. सामाजिक उद्विकास के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डालिये।
Explain the different stages of social evolution.

अध्याय ३१

सामाजिक प्रगति
(SOCIAL PROGRESS)

सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा 'प्रगति' की भी है। साधारण तौर पर लोग 'प्रगति' और 'उद्विकास' को एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द समझ लेते हैं परन्तु दोनों में अन्तर है। प्रगति और उद्विकास ये दोनों ही शब्द सामाजिक परिवर्तन की एक अभिव्यक्ति हैं। उद्विकास का तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से है जो निरन्तर एक ही निश्चित दिशा में होता है परन्तु प्रगति का अर्थ ऐसे परिवर्तन से लगाया जाता है जो समाज में सुख और समृद्धि बढ़ाता है। प्रगति के साथ कुछ मूल्यों का भी समावेश रहता है। प्रत्येक समाज के कुछ अपने लक्ष्य एवं मूल्य होते हैं और जब समाज इन लक्ष्यों एवं मूल्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है तो उसे प्रगति कहते हैं।

प्रगति एक अत्यन्त ही जटिल अवधारणा है। प्रत्येक काल, स्थान और समूह में इसकी अलग-अलग परिभाषायें दी जाती हैं। एक समाज विशेष के लिये जो प्रगति है वह दूसरे समाज के लिये पिछड़ापन अथवा पतन हो सकती है। मध्य काल में जिसे प्रगति कहा जाता था आज लोग उसे बर्बरता की संज्ञा देते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय समाज के बहुत बड़े वर्ग के लिए परम्परागत नैतिक मूल्यों की प्राप्ति प्रगति है जब कि अमेरिकी समाज में ऐसे नैतिक मूल्यों

अध्याय ३१

सामाजिक प्रगति
(SOCIAL PROGRESS)

सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा 'प्रगति' की भी है। साधारण तौर पर लोग 'प्रगति' और 'उद्‌विकास' को एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द समझ लेते हैं परन्तु दोनों में अन्तर है। प्रगति और उद्‌विकास ये दोनों ही शब्द सामाजिक परिवर्तन की एक अभिव्यक्ति हैं। उद्‌विकास का तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से है जो निरन्तर एक ही निश्चित दिशा में होता है परन्तु प्रगति का अर्थ ऐसे परिवर्तन से लगाया जाता है जो समाज में सुख और समृद्धि बढ़ाता है। प्रगति के साथ कुछ मूल्यों का भी समावेश रहता है। प्रत्येक समाज के कुछ अपने लक्ष्य एवं मूल्य होते हैं और जब समाज इन लक्ष्यों एवं मूल्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है तो उसे प्रगति कहते हैं।

प्रगति एक अत्यन्त ही जटिल अवधारणा है। प्रत्येक काल, स्थान और समूह में इसकी अलग-अलग परिभाषायें दी जाती हैं। एक समाज विशेष के लिये जो प्रगति है वह दूसरे समाज के लिये पिछड़ापन अथवा पतन हो सकती है। मध्य काल में जिसे प्रगति कहा जाता था आज लोग उसे बर्बरता की संज्ञा देते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय समाज के बहुत बड़े वर्ग के लिए परम्परागत नैतिक मूल्यों की प्राप्ति प्रगति है जब कि अमेरिकी समाज में ऐसे नैतिक मूल्यों

का कोई महत्व नहीं है। वहाँ भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति ही प्रगति है। अतः प्रगति शब्द इतना विवादास्पद है कि इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यन्त ही कठिन है। इसी कारण मैकाइवर तथा पेज प्रगति को 'वातावरण के अनुरुप गिरगिट की तरह रंग बदलनेवाला तथ्य' कहते हैं। यह सत्य है कि प्रगति की एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन कार्य है परन्तु फिर भी विद्वानों द्वारा दी गयी अगली पंक्तियों में कुछ परिभाषायें इसका अर्थ समझने में सहायक सिद्ध होंगी।

परिभाषायें (Definitions)

प्रगति का सम्बन्ध समाज के कल्याण से होता है। इस संदर्भ में नीचे कुछ परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है :

वार्ड के अनुसार **"प्रगति से मानवीय सुखों में वृद्धि होती है।"**[1]

गुरविच तथा मूर का कथन है कि **"प्रगति, स्वीकृत मूल्यों के परिपेक्ष में वांछित उद्देश्यों की ओर अग्रसर रहती है।'**[2]

ल्यूम्ले के मतानुसार, **"यह एक परिवर्तन है जो प्रत्येक दिशा में न होकर केवल वांछित और स्वीकृत दिशा में होता है।"**[3]

ऑगवर्न और निमकॉफ के विचारों में **"प्रगति का अभिप्राय अच्छाई के लिये किए गए परिवर्तन से है और इसलिए प्रगति में मूल्यों का निहित होना अनिवार्य है।"**[4]

---

1. "Progress is that which secures the increase of human happiness."

—Lester F. Ward.

2. "Progress is movement towards a desired end in terms of accepted values."

—Gurvitch end Moore.

3. "It is a change, but it is change in a desired or approved direction, not any direction."

—Lumely : *Principles of Sociology.*

4. "Progress means change for the better, and hence must imply a value judgment."

Ogburn & Nimkoff : *A Handbook of Sociology.*

मैकाइवर का कहना है कि "जब हम प्रगति की चर्चा करते हैं, तो हम सभी दिशाओं से सम्बन्ध न रखकर केवल उसी दिशा से सम्बन्ध रखते हैं जो किसी अन्तिम लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर होता है जो कार्य शक्ति की कर्म वैषयिक दृष्टि से निर्धारित न होकर आदर्शरूप से निश्चित किया गया है।"[1]

सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Progress)

ऊपर जिन परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर प्रगति की कुछ सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। प्रगति कभी स्थिर नहीं होती है। इसका सम्बन्ध मूल्यों से होता है जो सदैव परिवर्तनशील होते हैं। समाज में जैसे-जैसे मूल्य बदलते हैं उन्हीं के अनुसार प्रगति भी अग्रसर होती है। परन्तु इस प्रगति की दिशा अनिश्चित नहीं होती है। सामाजिक प्रगति सदैव वांक्षित और मान्यता प्राप्त दिशा की ओर होती है। इसलिए सामाजिक प्रगति का प्रादुर्भाव सदैव उद्देश्य पूर्ण होता है। पुनः, इन उद्देश्यों का निर्धारण समुदाय के मूल्यों, आदर्शों एवं परम्पराओं द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार सामाजिक प्रगति स्वचालित नहीं हुआ करती है अपितु समाज के सदस्य मूल्यों आदि के आधार पर सोच-समझकर प्रगति का चालन करते हैं। अतएव प्रगति सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए होती है।

सामाजिक प्रगति की सहायक परिस्थितियाँ
(Conditions Conductive of Social Progress)

समाज में प्रगति सुगमता पूर्वक होते रहने के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों का होना अनिवार्य है। विभिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न संरचना होने के कारण ये परिस्थितियाँ सार्वभौमिक नहीं होती हैं; फिर इस संदर्भ में कुछ सामान्य विन्दु प्रकाशित किए जा सकते हैं जो अगले पेज पर दिए गए हैं।

1. "When we speak of progress, we simply mean not any direction but direction towards some final goal, some destination determined ideally not simply by the objective consideration of the forces at work."

—MacIver.

(१) सामाजिक प्रगति के लिए देश में मनुष्य के परिश्रम तथा प्रतिभा के विकास की पूर्ण स्वतंत्रता उपलब्ध होनी चाहिए। इससे मनुष्य कठोर से कठोर परिश्रम करने में हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता है। स्वतंत्र वातावरण होने के कारण वह अपनी चेष्टाओं के प्रति सदैव आशावादी रहता है।

(२) प्रगति के लिए समाज का प्रत्येक भय से मुक्त होना अनिवार्य है। राज्य, शत्रु, धर्म, आदि के भय सामाजिक प्रगति में बाधक होते हैं।

(३) विज्ञान और टेकनालाजी का समुचित प्रसार सामाजिक प्रगति में बहुत सहायक होता है। आधुनिकतम संचार और यातायात के साधन तथा वैज्ञानिक ज्ञान के स्रोत प्रगति को तीव्रगामी करदेते हैं।

(४) जनसंख्या का समुचित विस्तार और जनस्वास्थ का प्रतिमानित स्तर, प्रगति को दृढ़ एवं स्थायी बनाता है। इनके अव्यवस्थित होने पर समाज निर्धनता, भुखमरी, महामारी, अकाल आदि से ग्रसित रहता है। इससे जनशक्ति निर्बल हो जाती है तथा प्रगति के योग्य नहीं रहती है।

(५) शिक्षा का प्रसार समाज की मानसिक क्षमता को विकसित करता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य ज्ञान के स्रोतों की खोज करता है तथा अपने को अपेक्षाकृत और अधिक क्षमतावान बनाने में समर्थ होता है।

(६) यदि समाज में अच्छे समाज सुधारक और नेतागण उपस्थित हैं तो जन-मानव का सही मार्ग प्रदर्शन हो सकेगा। उनके अनुभव, ज्ञान-भण्डार, और भविष्यवाणी समाज की प्रगति के लिए लाभकारी सिद्ध होगी।

क्या प्रत्येक परिवर्तन प्रगति है ?
(Is Every Change a Progress ?)

कुछ लोगों का मत है कि सभी परिवर्तन प्रगतिशील होते हैं और साथ ही साथ इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि सभी परिवर्तन पतनोन्मुख होते हैं, परन्तु परिवर्तन अपने आप में एक तटस्थ घटना है। यह न तो वह प्रगतिन्मुख होती है और न ही पतनोन्मुख होती है। दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों को परिवर्तन मात्र ही कहा जा सकता है। परिवर्तन प्रगतिन्मुख या ह्रासोन्मुख जब होता है जब उसे मूल्य, आदर्श या उद्देश्य की कसौटी पर देखा जाता है। लक्ष्य प्राप्ति को प्रगति कहते हैं। अत: जो परिवर्तन लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हों, वह प्रगति है। जैसे लक्ष्य होंगे वैसा परिवर्तन होगा।

सामान्यतः वे लक्ष्य प्रगतिशील माने जाते हैं जिनसे मनुष्य के जीवन में सुख और समृद्धि बढ़ती है और जिन परिवर्तनों से सुख और समृद्धि में कमी आती है उन्हें प्रगति नहीं कहा जा सकता है। परिवर्तन का प्रगतिशील होना, प्रगति की परिभाषा पर निर्भर करता है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक परिवर्तन को प्रगति नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक प्रगति के मापदण्ड
(Tests of Social Progress)

प्रगति के लक्ष्य काल और स्थान के अनुसार बदला करते हैं। मध्य युग में जिसे प्रगति कहा जाता था वह आज बर्बरता कही जायेगी। मानव समाज में जो एक वर्ग या समूह के लिये प्रगति है वह दूसरे वर्ग या समूह के लिये पतन हो सकता है, जैसे औद्योगिक समाज में नैतिक नियमों का ढीला पड़ना प्रगति की निशानी है परन्तु परम्परागत समाज के लिये वह पतन की निशानी है। इसलिये प्रगति की एक ऐसी कसौटी तैयार करना जो सबको स्वीकार हो, कठिन है। सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि मानव समाज के सुख तथा समृद्धि में वृद्धि करने वाले लक्ष्य प्रगति हैं। इस दृष्टिकोण से जीवन स्तर का ऊँचा होना, शिक्षा का प्रसार, राजनैतिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता, समुचित टेकनालाजी का उपयोग और अन्तर्राष्ट्रीय भ्रात भाव प्रगति के मापदण्ड हैं।

बोगार्डस ने प्रगति के मापदण्ड को बताते हुए कुछ विशेष लक्ष्यों की चर्चा की है। जैसे सार्वजनिक हित में प्राकृतिक साधनों का उपयोग, जनस्वास्थ्य में वृद्धि, सफल पारिवारिक जीवन, सामाजिक बीमा, उच्चतर जीवन स्तर, मौलिक स्वतन्त्रताएँ और कलात्मक तथा मनोरञ्जनात्मक कार्यों में वृद्धि। इसी तरह ई० टी० डिवाइन (E. T. Devine)[1] ने भी सामाजिक प्रगति के कुछ मापदण्ड बताये हैं जो बोगार्डस द्वारा बताये गये मापदण्डों से मिलते जुलते हैं। डिवाइन व्यक्तियों में मिल-जुल कर कार्य करने की भावना में अधिकाधिक वृद्धि को भी प्रगति मानता है।

उद्विकास और प्रगति में अन्तर
(Distinction between Evolution and Progress)

उद्विकास और प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन करने से इनमें कुछ अन्तर स्पष्ट होते हैं जिसका विवेचन अगले पेज पर किया गया है।

1. E. T. Devine : *Misery and Its Causes.*

(i) मैकाइवर तथा पेज का कथन है कि उद्विकास जैविकीय नियमों पर आधारित होने के कारण एक वैज्ञानिक धारणा है जब कि प्रगति को केवल एक नैतिक धारणा ही कहा जा सकता है क्यों कि इसमें कुछ लक्ष्यों तथा मूल्यों का समावेश रहता है। लक्ष्यों, तथा मूल्यों का सम्बन्ध समाज से होता है, अतः प्रगति केवल समाज से ही सम्बन्धित होती है।

(ii) उद्विकास की धारणा जैविकीय नियमों पर आधारित होने के कारण यह सार्वभौमिक है क्यों कि जैविकीय नियम सभी समाजों में एक समान ही पाये जाते हैं। परन्तु प्रगति की धारणा उद्विकास से भिन्न है। इसका भिन्न-भिन्न समाजों में अलग-अलग रूप होता है।

(iii) ऑगबर्न तथा निमकॉफ के मतानुसार उद्विकास का तात्पर्य एक निश्चित दिशा में होने वाले किसी भी परिवर्तन से है परन्तु प्रगति का अर्थ केवल उन्हीं परिवर्तनों से लगाया जाता है जो मानव समाज की अच्छाई के लिये हों।

(iv) उद्विकास की प्रक्रिया स्वयं निरन्तर रूप से एक निश्चित दिशा में होती रहती है जब कि प्रगति के लिये समाज में सदस्यों को निर्धारित लक्ष्यों और मूल्यों की प्राप्ति के लिये प्रयास करना पड़ता है।

(v) उद्विकास की प्रक्रिया बहुत ही मन्दगति से क्रियाशील रहती है। अतः इससे सम्बन्धित होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करना कठिन होता है। परन्तु प्रगति का सम्बन्ध भौतिक तथ्यों से है और इसका मापन किसी भी समय बड़ी ही सरलता से किया जा सकता है।

(vi) प्रो० हाबहाउस के मतानुसार उद्विकास का अर्थ किसी भी प्रकार की बढ़ती से है जब कि प्रगति का अर्थ सामाजिक जीवन के उन गुणों की दृष्टि में बढ़ती है जिन्हें मनुष्य सोच-विचार कर अथवा ऐसे ही मूल्यों से लगाते हैं। इस प्रकार प्रो० हाबहाउस सामाजिक उद्विकास की अनेक सम्भावनाओं में सामाजिक प्रगति को एक सम्भावना मात्र ही मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रगति भी उद्विकास की भाँति एक अत्यन्त ही जटिल अवधारणा है। फैरिस ने लिखा है, "यह प्रमाणित करना सम्भव है कि संसार अब अधिक जटिल हो गया है परन्तु यह प्रमाणित करना शायद ही सम्भव हो कि वह

पहले से अच्छा हो गया है और यह प्रमाणित करना तो बिलकुल असंभव है कि वह आगे और भी अच्छा होता रहेगा।"[1]

Selected Readings

1. MacIver and Page : Society.
2. Lumley : Principles of Sociology.
3. Ogburn and Nimkoff : A Handbook of Sociology.
4. Park and Burges : An Introduction to the Science of Sociology.
5. L. T. Devine : Misery and Its causes.

---

1. "It is possible to prove that the world has become more complex. It is hardly possible to prove that it has become better and quite impossible to prove that it will continue to do so."

—E. W. Faris.

Questions

१. सामाजिक प्रगति में कौन-कौन सी दशायें सहायक होती हैं ? आपके अनुसार प्रगति के मापदण्ड क्या हैं ?
What are the conditions conductive of social change ? What tests of progress would you suggest ?

२. सामाजिक प्रगति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।
Write a short note on social progress.

३. सामाजिक उद्विकास और सामाजिक प्रगति में अन्तर स्पष्ट कीजिये ।
Distinguish between social evolution and social progress.

४. सामाजिक प्रगति से आप क्या समझते हैं ? सामाजिक प्रगति के मापदण्ड क्या हैं ?
What do you understand by social progress. What are the tests of social progress ?

५. सामाजिक उद्विकास और सामाजिक प्रगति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।
Write a short essay on social evolution and social progress.

६. विकास, क्रान्ति और प्रगति का अर्थ समझाइये । विकास और प्रगति का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।
Explain clearly the meaning of evolution, revolution and progress. Distinguish between evolution and progress.